श्रीमद्राजचंद्रजैनशास्त्रमाला–१७

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भोजकविविरचिता

द्रव्यानुयोगतर्कणा

व्याकरणाचार्यपंडितठाकुरप्रसादशर्माप्रणीत—

हिन्दीभाषानुवादसहिता

: प्रकाशक :
श्रीपरमश्रुतप्रभावक–मंडल
श्रीमद्राजचंद्र आश्रम,
अगास (गुजरात)

प्रकाशकीय निवेदन

जिज्ञासुओंमें परमसत्‌श्रुतके प्रति सत्‌रुचि जागृत करनेके हेतु परम निष्कारण करुणाभावन प० कृ० श्रीमद्‌जीने बम्बईमें परमश्रुत प्रभावक मण्डलकी स्थापना की थी। और श्रीमद्‌राजचंद्रजैनशास्त्रमालाके नामसे अनेक सत्‌को प्रकट करनेवाले अनेक ग्रन्थपुष्प निकाले गये। वैसे श्री भोजकवि-विरचित यह ग्रन्थपुष्प द्रव्यानुयोगतर्कणा वी० नि० सम्वत् २४३२ में प्रकाशित किया गया था।

कालान्तरमें, इस मण्डलका प्रकाशन-कार्य श्रीमद्‌राजचंद्र आश्रमके हस्तांतर्गत प्राप्त हुआ। निरन्तर माँग रहने पर एवम् आवश्यकता समझकर इस द्वितीयावृत्तिको जिज्ञासुओंके कर-कमलोंमें प्रस्तुत करते हुए हृदय हर्षविभोर होरहा है।

बौद्धिक क्षयोपशमकी न्यूनताके कारण अशुद्धियाँ रह जाना सम्भव है। अतः सुज्ञ पाठक शुद्ध करके पढ़ें और क्षमा करें।

श्रीमद्‌राजचंद्र आश्रम
अगास
१०-६-७७

निवेदक—
रावजीभाई छ० देसाई-

इस युगके महान् तत्त्ववेत्ता

श्रीमद् राजचन्द्र

इस युगके महान् पुरुषोंमे श्रीमद्‌राजचन्द्रजीका नाम बड़े गौरवके साथ लिया जाता है। वे विश्वकी महान् विभूति थे। अद्भुत प्रभावशाली, अपनी नामवरीसे दूर रहनेवाले गुप्त महात्मा थे। भारतभूमि ऐसे ही नर-रत्नोंसे वसुन्धरा मानी जाती है।

जिस समय मनुष्यसमाज आत्मधर्मको भूलकर अन्य वस्तुओंमें धर्मकी कल्पना या मान्यता करने लगता है, उस समय उसे किसी सत्य मार्गदर्शककी आवश्यकता पड़ती है। प्रकृति ऐसे पुरुषोंको उत्पन्न कर अपनेको धन्य मानती है। श्रीमद्‌जी उनमेंसे एक थे। श्रीमद्‌राजचन्द्र-जीका नाम तो प्रायः बहुतोंने सुन रक्खा है, और उनका कारण भी यह है कि राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजीने अपने साहित्यमे इनका जहाँ तहाँ सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है। वे स्वयं इनको धर्मके सम्बन्धमे अपनाम मार्गदर्शक मानते थे। महात्माजी लिखते हैं कि-"मेरे ऊपर तीन पुरुषोंने गहरी छाप डाली है—टाल्सटॉय, रस्किन और राजचन्द्रभाई। टाल्सटॉयने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्रव्यवहारसे, रस्किनने अपनी पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' से, जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रक्खा है, और राजचन्द्रभाईने अपने गाढ परिचयसे। जब मुझे हिन्दू धर्ममे शङ्का उत्पन्न हुई उस समय उसके निवारण करनेमे राजचन्द्रभाईने मुझे बडी सहायता पहुंचाई थी। ई० सन् १८९३ में दक्षिण अफ्रीका में कुछ क्रिश्चियन सज्जनोंके विशेष परिचयमे आया था। अन्य धर्मियोंको क्रिश्चियन बनाना ही उनका प्रधान व्यवसाय था। उस समय मुझे हिन्दू धर्ममे कुछ अश्रद्धा हो गई थी, फिर भी मैं मध्यस्थ रहा था। हिन्दुस्तानमे जिनके ऊपर मुझे श्रद्धा थी उनसे पत्रव्यवहार किया। उनमे राजचन्द्रभाई मुख्य थे। उनके साथ मेरा अच्छा सम्बन्ध हो चुका था। उनके प्रति मुझे मान था। इसलिए उनसे जो कुछ मुझे मिल सके उसको प्राप्त करने का विचार था। मेरी उनसे भेंट हुई। उनसे मिलकर मुझे अत्यन्त शान्ति मिली। अपने धर्ममे दृढ श्रद्धा हुई। मेरी इस स्थितिके जवाबदार राजचन्द्रभाई हैं। इससे मेरा उन प्रति कितना अधिक मान होना चाहिये, इसका पाठक स्वयं अनुमान कर सकते है।"

महात्माजी आगे और भी लिखते हैं कि—राजचन्द्रभाईके साथ मेरी भेट जौलाई सन् १८९१ मे उस दिन हुई थी कब मैं विलायतसे बम्बई आया था। उस समय मैं रंगूनके प्रख्यात जौहरी प्राणजीवनदास मेहताके घर उतरा था। राजचन्द्रभाई उनके बड़े भाईके जमाई होते थे। प्राणजीवनदासने राजचन्द्रभाईका परिचय कराया। वे राजचन्द्रभाईको कविराज कहकर पुकारा करते थे। विशेष परिचय देते हुए उन्होंने कहा—ये एक अच्छे कवि हैं और हमारे साथ व्यापार में लगे हुए हैं। इनमें बड़ा ज्ञान है, शतावधानी हैं।
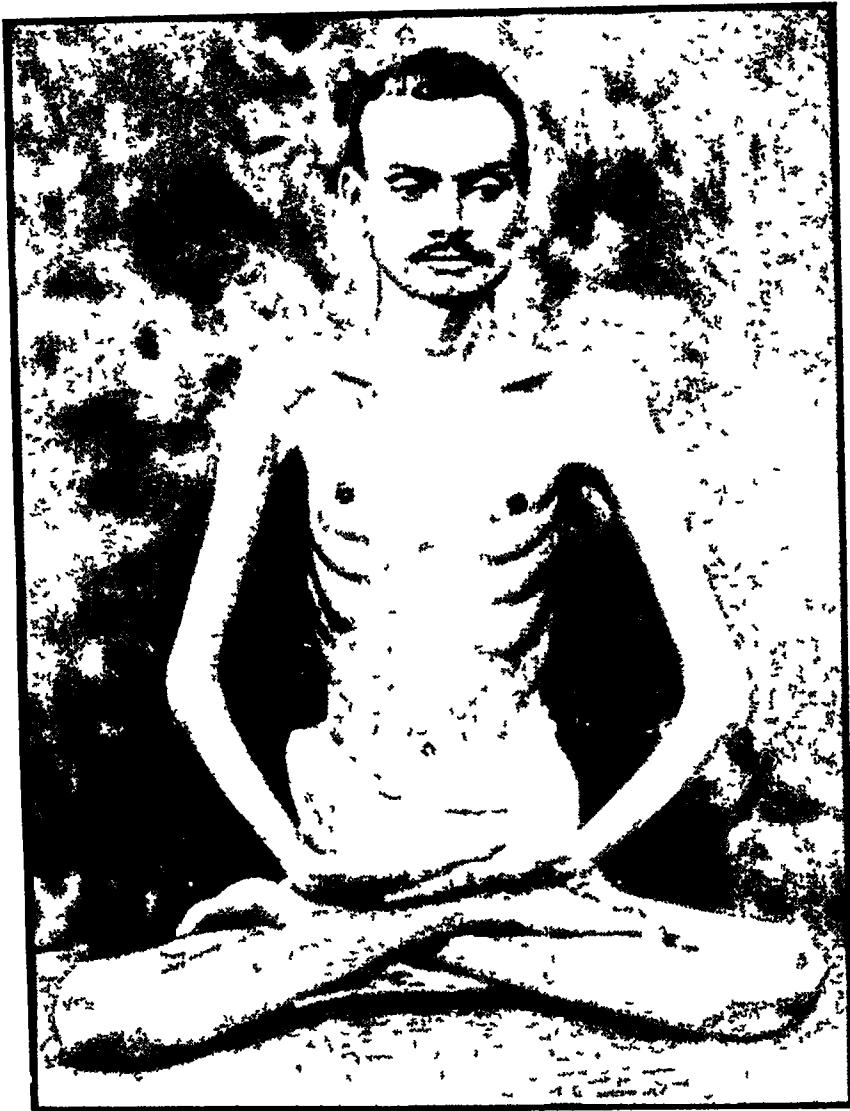
श्रीमद् राजचंद्र

जन्म · ववाणिया
वि स. १९२४ कार्तिक पूर्णिमा

देहविलय : राजकोट
वि. स १९५७ चैत्र वदी ५

श्रीमद्‌जीका जन्म वि० सं० १९२४ कार्तिक शुक्ला पूर्णिमाको सौराष्ट्र मोरवी राज्यान्तर्गत ववणिया गावमे वणिक जातिके दशाश्रीमाली कुलमें हुआ था। इनके पिताका नाम रवजीभाई पंचाणभाई मेहता और माताका नाम देवाबाई था। इनके एक छोटा भाई और ४ बहिनें थीं। घरमे इनके जन्मसे बडा उत्सव मनाया गया। श्रीमद्‌जीने अपने सम्बन्धमे जो बाते लिखी हैं वे बडी रोचक और समझने योग्य है। वे लिखते हैं—

"छुटपनकी छोटी समझमें, कौन जाने कहॉसे ये बड़ी बड़ी कल्पनाएं आया करती थीं। सुखकी अभिलाषा भी कुछ कम न थी, और सुखमे भी महल, बाग बगीचे, स्त्री आदिके मनोरथ किये थे, किन्तु मनमे आया करता था कि यह सब क्या है? इस प्रकारके विचारोंका यह फल निकला कि न पुनर्जन्म है, और न पाप है, और न पुण्य है, सुखसे रहना और संसारका सेवन करना। बस, इसीमे कृतकृत्यता है। इससे दूसरी झंझटोंमे न पड़कर धर्मकी वासना भी निकाल डाली। किसी भी धर्मके लिये थोड़ा बहुत भी मान अथवा श्रद्धाभाव न रहा। किन्तु थोडा समय बीतनेके बाद इसमेंसे कुछ और ही होगया। आत्मामें बडा भारी परिवर्तन हुआ, कुछ दूसरा ही अनुभव हुआ, और यह अनुभव ऐसा था, जो प्रायः शब्दोंमें व्यक्त नहीं किया जा सकता और न जडवादियोंकी कल्पनामें भी आसकता। वह अनुभव क्रमसे बढा और बढकर एक 'तू ही तू ही' का जाप करता है।" एक दूसरे पत्रमे अपने जीवनको विस्तारपूर्वक लिखते हैं कि—"बाईस वर्षकी अल्पवयमे मैंने आत्मा सम्बन्धी, मन सम्बन्धी, वचन सम्बन्धी, तन सम्बन्धी, और धन सम्बन्धी अनेक रंग देखे हैं। नाना प्रकारकी सृष्टिरचना, नाना प्रकारकी साँसारिक लहरे और अनन्त दुःखके मूल कारणोंका अनेक प्रकारसे मुझे अनुभव है। तत्वज्ञानियोंने और समर्थ नास्तिकोने जैसे जैसे विचार किए हैं उसी तरहके अनेक मैंने इसी अल्पवयमें किए है। महान् चक्रवर्ती द्वारा किए गए तृष्णापूर्ण विचार और एक निस्पृही आत्मा द्वारा किये गए निस्पृहापूर्ण विचार भी मैंने किए हैं। अमरत्वकी सिद्धि और क्षणिकत्वकी सिद्धि पर मैंने खूब मनन किया है। अल्पवयमे ही मैंने महान् विचार कर डाले हैं, और महान् विचित्रताकी प्राप्ति हुई है। यहा तो अपनी समुच्चय वय-चर्या लिखता हूँ—

जन्मसे सात वर्षकी बालवय नितान्त खेल कूदमे ही व्यतीत हुई थी। उस समय मेरी आत्मामें अनेक प्रकारकी विचित्र कल्पनाएं उत्पन्न हुआ करती थीं। खेल कूदमें भी विजयी होने और राजराजेश्वर जैसी ऊँची पदवी प्राप्त करनेकी मेरी परम अभिलाषा रहा करती थी।

स्मृति इतनी अधिक प्रबल थी कि वैसी स्मृति इस कालमें, इस क्षेत्रमें बहुत ही थोड़े मनुष्यों की होगी। मै पढनेमे प्रमादी था, बात बनानेमें होशियार खिलाड़ी और बहुत आनन्दी जीव था। जिस समय शिक्षक पाठ पढाता था उसी समय पढकर मै उसका भावार्थ सुना दिया करता था। बस, इतनेसे मुझे छुट्टी मिल जाती थी। मुझमे प्रीति और वात्सलय बहुत था। मैं सबसे मित्रता चाहता था, सबमें भ्रातृभाव हो तो सुख है, यह विश्वास मेरे मनमें स्वाभाविक

रूप से रहता था। मनुष्योंमे किसी भी प्रकार जुदाईका अंकुर देखते ही मेरा अन्तःकरण रो पडता था। आठवें वर्षमे मैंने कविता लिखी थी, जो पीछेसे जाँच करने पर छन्दशास्त्रके नियमानुकूल थी।

उस समय मैंने कई काव्यग्रन्थ लिखे थे, अनेक प्रकारके और भी बहुतसे ग्रन्थ देख डाले थे। मै मनुष्य जातिका अधिक विश्वास था।

मेरे पितामह कृष्णकी भक्ति किया करते थे। उस वयमें मैंने उनके कृष्ण-कीर्त्तन तथा भिन्न भिन्न अवतार सम्बन्धो चमत्कार सुने थे। जिससे मुझे उन अवतारोंमें भक्तिके साथ प्रीति भी उत्पन्न होगई थी, और रामदासजी नामके साधुसे मैने बाल-लीलामे कंठी भी बंधवाई थी। मैं नित्यही कृष्णके दर्शन करने जाता था, अनेक कथाएं सुनता था, जिससे अवतारोंके चमत्कारों पर बार बार मुग्ध होजाया करता था, और उन्हें परमात्मा मानता था। ××× गुजराती भाषाकी पाठशालाकी पुस्तकोंमे कितनी ही जगह जगत्कर्ताके सम्बन्धमे उपदेश हैं, वह मुझे दृढ हो गया था। इस कारण जैन लोगोंसे घृणा रहा करती थी। कोई पदार्थ बिना बनाए नहीं बन सकता, इसलिये जैन मूर्ख हैं, उन्हें कुछ भी खबर नहीं। उस समय प्रतिमा-पूजनके अश्रद्धालु लोगोंकी क्रिया मुझे वैसे ही दिखाई देती थी, इसलिये उन क्रियाओंकी मलिनताके कारण मैं उनसे बहुत डरता था, अर्थात् वे क्रियायें मुझे पसन्द नहीं थीं।

मेरी जन्मभूमिमे जितने वणिक लोग रहते थे, उन सबकी कुल-श्रद्धा यद्यपि भिन्न भिन्न थी फिर भी वह थोडी बहुत प्रतिमा-पूजनके अश्रद्धालुओं के समान थी।

लोग मुझे प्रथमसे ही शक्तिशाली और गाँवका नामाँकित विद्यार्थी मानते थे, इससे मैं कभी कभी जनमंडलमे बैठकर अपनी चपल शक्ति बतानेका प्रयत्न किया करता था।

वे लोग कंठी बाँधनेके कारण बार बार मेरी हास्यपूर्वक टीका करते, तो भी मैं उनसे वादविवाद करता और उन्हे समझानेका प्रयत्न करता था।

धीरे-धीरे मुझे जैनोंके प्रतिक्रमण सूत्र इत्यादि ग्रन्थ पढनेको मिले। उनमे बहुत विनयपूर्वक जगतके समस्त जीवोंसे मैत्रीभाव प्रकट किया है। इससे मेरी उस ओर प्रीति हुई और प्रथममे रही। परिचय बढता गया। स्वच्छ रहनेका और दूसरे आचार विचार मुझे वैष्णवोंके ही प्रिय थे, जगत्कर्ताकी भी श्रद्धा थी। इतनेमे कंठी टूट गई, और उसे दुबारा मैंने नहीं बाधी। उस समय बाँधने न बाँधनेका कोई कारण मैंने नहीं ढूंढा था। यह मेरी तेरह वर्ष की वयचर्या है। इसके बाद अपने पिताकी दुकानपर बैठने लगा था। अपने अक्षरोंकी छटाके कारण कच्छ दरबारके महलमें लिखनेके लिए जब जब बुलाया जाता था तब वहां जाता था। दुकान पर रहते हुए मैंने अनेक प्रकारका आनन्द किया है, अनेक पुस्तकें पढ़ी हैं, राम आदिके चारित्रों पर कविताएं रची हैं, सासारिकतृष्णाएं की हैं, तो भी किसीको मैंने कम-अधिक भाव नहीं कहा, अथवा किसीको कम ज्यादा तौलकर नहीं दिया, यह मुझे बराबर याद हैं।"

इस पर से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे एक अति संस्कारी आत्मा थे। बड़े बड़े विद्वान् भी जिस आत्मा की ओर लक्ष्य नहीं देते उसी आत्माकी ओर श्रीमद्‌जीका बाल्याकालसे लक्ष्य तीव्र था। आत्माके अमरत्व तथा क्षणिकत्वके विचार भी कुछ कम नहीं किये थे। कुलश्रद्धासे जैन धर्मको अंगीकार नहीं किया था, लेकिन अपने अनुभवके बलपर उसे सत्य सिद्ध करके अपनाया था। जैन धर्मके सत्य सिद्धान्तोंको श्रीमद्‌जीने अपने जीवनमें उतारा था और मुमुक्षुओंको भी तदनुरूप बनानेका बोध देते थे। वर्तमान युगमें ऐसे महात्माका आविर्भाव समाजके लिये सौभाग्यकी बात है। ये मतमतान्तर में मध्यस्थ थे।

आपको जातिस्मरण ज्ञान था अर्थात् पूर्वभव जानते थे। इस सम्बन्धमें मुमुक्षुभाई पदमशीभाईने एक वार उनसे पूछा था और उसका स्पष्टीकरण स्वयं उन्होंने अपने मुखसे किया था। पाठकोंकी जानकारीके लिये उसे यहाँ दे देना योग्य समझता हू।

पदमशीभाईने पूछा—"आपको जातिस्मरण-ज्ञान कब और कैसे हुआ?"

श्रीमद्‌जीने उत्तर दिया—"जब मेरी उम्र सात वर्षकी थी, उस समय ववाणियामें अमीचन्द नामके एक सद्‌गृहस्थ रहते थे। वे पूरे लम्बे-चौड़े, सुन्दर और गुणवान थे। उनका मेरे ऊपर खूब प्रेम था। एक दिन सर्पके काट खानेसे उनका तुरन्त देहान्त हो गया। आसपासके मनुष्योंके मुखसे इस वातको सुनकर मै अपने दादाके पास दौड़ा आया। मरण क्या चीज है? इस बातको मैं नहीं जानता था, इसलिये मैने दादा से कहा—दादा! अमीचन्द मर गए क्या? मेरे दादाने उस समय विचारा कि यह वालक है, मरणकी बात करनेसे डर जायगा, इसलिए उन्होंने—जा भोजन करले, यों कहकर मेरी बातको टालनेका प्रयत्न किया। 'मरण' शब्द उस छोटे जीवनमें मैने प्रथम वार ही सुना था। मरण क्या वस्तु है, यह जाननेकी मुझे तीव्र आकांक्षा थी। वारम्वार मैं पूर्वोक्त प्रश्न करता रहा। अन्तमे वे बोले—तेरा कहना सत्य है अर्थात् अमीचन्द मर गए हैं। मैंने आश्चर्यपूर्वक पूछा—मरण क्या चीज है? दादाने कहा—शरीरमेंसे जीव निकल गया है और अब वह हलन-चलन आदि कुछ भी क्रिया नहीं कर सकता, खाना-पीना भी नहीं कर सकता। इसलिए अब इसको तालाबके समीपके श्मशानमे जला जायेंगे।

मैं थोडी देर इधर-उधर छिपा रहा। बादमे तालाव पर जा पहुंचा। तट पर दो शाखा-वाला एक बबूलका पेड था, उसपर चढकर मैं सामनेका सब दृश्य देने लगा। चिता जोरोंसे जल रही थी, बहुतसे आदमी उसको घेरकर वैठे हुए थे। यह सब देखकर मुझे विचार आया—मनुष्यको जलानेमें कितनी क्रूरता! यह सब क्या? इत्यादि विचारोंसे आत्म-पट दूर हो गया।"

एक विद्वानने श्रीमद्‌जीको, पूर्व जन्मके सम्बन्धमें अपने विचार प्रकट करनेके लिए लिखा था। उसके उत्तरमे उन्होंने जो कुछ लिखा था, वह निम्न प्रकार है—

"कितने ही निर्णयोंसे मैं यह मानता हू कि, इस कालमे भी कोई कोई महात्मा पहले भवको जातिस्मरण ज्ञानसे जान सकते हैं, और यह जानना कल्पित नहीं परन्तु सम्यक् (यथार्थ)

होता है। उत्कृष्ट संवेग, ज्ञान-योग और सत्संगसे यह ज्ञान प्राप्त होता है, अर्थात् पूर्वभव प्रत्यक्ष अनुभवमे आ जाता है।

जबतक पूर्वभव गम्य न हो तब तक आत्मा भविष्यकालके लिए शंकितभावसे धर्म-प्रयत्न किया करती है, और ऐसा सशंकित प्रयत्न योग्य सिद्धि नहीं देता।" पुनर्जन्मकी सिद्धिके लिए श्रीमद्जीने एक विस्तृत पत्र लिखा है जो 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थमे प्रकाशित है। पुनर्जन्म सम्बन्धी इनके विचार बड़े गम्भीर और विशेष प्रकारसे मनन करने योग्य हैं।

१९ वर्षकी अवस्थामें श्रीमद्जीने एक बड़ी सभामे सौ अवधान किए थे, जिसे देखकर उपस्थित जनता दांतों तले उंगली दबाने लगी थी।

अंग्रेजीके प्रसिद्ध पत्र 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' ने अपने ता० २४ जनवरी १८८७ के अंकमे श्रीमद्जीके सम्बन्धमें एक लेख लिखा था जिसका शीर्षक था 'स्मरण शक्ति तथा मानसिक शक्तिके अद्भुत प्रयोग।'

"रामचन्द्र रवजीभाई नामके एक १९ वर्षके युवा हिन्दूकी स्मरणशक्ति तथा मानसिक शक्तिके प्रयोग देखनेके लिये गत शनिवारको संध्या समय फरामजी कावसजी इन्स्टीट्यूटमें देशी सज्जनोंका एक भव्य सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलन के सभापति डाक्टर पिटर्सन नियुक्त हुए थे। भिन्न भिन्न जातियोंके दर्शकोंमे से दस सज्जनोंकी एक समिति संगठित की गई। इन सज्जनोंने दस भाषाओंके छ छ शब्दोंके दस वाक्य बनाकर लिख लिए और अक्रमसे बारी बारीसे सुना दिए। थोड़े ही समय बाद इस हिन्दू युवकने दर्शकोंके देखते देखते स्मृतिके बलसे उन सब वाक्योंको क्रमपूर्वक सुना दिया। युवककी इस शक्तिको देखकर उपस्थित मंडली बहुत ही प्रसन्न हुई।

इस युवाकी स्पर्शन इन्द्रिय और मन इन्द्रिय अलौकिक थी। इस परीक्षाके लिये अन्य अन्य प्रकारकी कोई बारह जिल्दे बतलाई गईं और उन सबके नाम सुना दिए गए। इसके आंखों पर पट्टी बांधकर इसके हाथों पर जो जो पुस्तकें रखी गईं, उन्हें हाथोंसे टटोलकर इस युवकने सब पुस्तकोंके नाम बता दिए। डा० पिटर्सनने इस युवकको इस प्रकार आश्चर्यपूर्ण स्मरणशक्ति और मानसिक शक्तिका विकास देखकर बहुत बहुत धन्यवाद दिया और समाजकी ओरसे सुवर्ण-पदक और साक्षात् सरस्वतीकी पदवी प्रदान की गई।

उस समय चार्ल्स सारजंट बम्बई हाईकोर्टके चीफ जस्टिस थे। वे श्रीमद्जीकी इस शक्तिसे बहुत ही प्रभावित हुए। सुना जाता है कि सारजंट महोदयने श्रीमद्जीसे इंग्लेंड चलनेका आग्रह किया था, परन्तु वे कीर्तिसे दूर रहनेके कारण चार्ल्स महाशयकी इच्छाके अनुकूल न हुए अर्थात् इंग्लेंड न गए।"

इसके अतिरिक्त बम्बई समाचार आदि अखबारोंमे भी इनके शतावधानके समाचार प्रकाशित हुए थे। बादमे शतावधानके प्रयोगोको आत्मचिन्तनमे अन्तरायरूप मानकर उनका करना बन्द कर दिया था। इससे सहजमेही अनुमान किया जा सकता है कि वे कीर्ति आदिसे

कितने निरपेक्ष थे। उनके जीवनमें पद-पद पर सच्ची धार्मिकता प्रत्यक्ष दिखाई देती थी। वे २१ वर्षकी उम्रमें व्यापारार्थ ववाणियासे बम्बई आए। वहाँ सेठ रेवाशंकर जगजीवनदासकी दुकानमें भागीदार रहकर जवाहरातका धन्धा करते रहे। वे व्यापारमें अत्यन्त कुशल थे। ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका इनमें यथार्थ समन्वय देखा जाता था। व्यापार करते हुये भी श्रीमद्जीका लक्ष्य आत्माकी ओर अधिक था। इनके ही कारण उस समय मोतियोंके बाजारमे श्रीयुत रेवाशंकर जगजीवनदासकी पेढ़ी नामी पीढ़ियोमे एक गिनी जाती थी। स्वयं श्रीमद्जीके भागीदार श्रीयुत माणिकलाल घेलाभाईको इनकी व्यवहारकुशलताके लिये अपूर्व बहुमान था। उन्होंने अपने एक वक्तव्यमे कहा था कि "श्रीमद् राजचन्द्रके साथ लगभग १९ वर्ष तक परिचय रहा, और उसमें सात-आठ वर्ष तो मेरा उनके साथ अत्यन्त परिचय रहा था। लोगोमें अति परिचयसे परस्परका महत्त्व कम हो जाता है, परन्तु मैं कहता हूं कि उनकी दशा ऐसी आत्ममय थी कि उनके प्रति मेरा श्रद्धाभाव दिन-प्रतिदिन बढता ही गया। व्यापारमें अनेक प्रकारकी कठिनाइयाँ आती थीं, उनके सामने श्रीमद्जी एक अडोल पर्वतके समान टिके रहते थे। मैंने उन्हें जड़ वस्तुओंकी चिन्तासे चिन्तातर नहीं देखा। वे हमेशा शान्त और गम्भीर रहते थे। किसी विषयमें मतभेद होने पर भी हृदयमे वैमनस्य नहीं था। सदैव पूर्वसा व्यवहार करते थे।"

श्रीमद्जी व्यापारमे जैसे निष्णात थे उससे अत्यन्त अधिक आत्मतत्त्वमें निष्णात थे। उनकी अन्तरात्मामें भौतिक पदार्थोंकी महत्ता नहीं थी। वे जानते थे-धन पार्थिव शरीर का साधन है, परलोक अनुयायी तथा आत्माको शाश्वत शान्ति प्रदान करनेवाला नही है। व्यापार करते हुए भी उनकी अन्तरात्मामें वैराग्य-गंगाका अखण्ड प्रवाह निरन्तर बहता रहता था। मनुष्य-भवके एक एक समयको वे अमूल्य समझते थे। व्यापारसे अवकाश मिलते ही वे कोई अपूर्व आत्मविचारणामें लीन हो जाते थे। निवृत्तिकी पूर्ण भावना होने पर भी पूर्वोदय कुछ ऐसा विचित्र था जिससे उनको बाह्य उपाधिमे रहना पड़ा।

श्रीमद्जी जवाहरातके साथ साथ मोतियों का भी व्यापार करते थे। व्यापारी समाजमें वे अत्यन्त विश्वासपात्र समझे जाते थे। उस समय एक आरब अपने भाईके साथ रहकर बम्बईमे मोतियोंकी आढतका धन्धा करता था। छोटे भाईके मनमें आया कि आज मै भी बड़े भाईके समान कुछ व्यापार करूं। परदेशसे आया हुआ माल साथमे लेकर आरब वेचने निकल पड़ा। दलालने श्रीमद्जीका परिचय कराया। श्रीमद्जीने आरबसे कहा—भाई, सोच समझकर भाव कहना। आरब बोला—जो मैं कह रहा हू, वही बाजार भाव है, आप माल खरीद करें।

श्रीमद्जीने माल ले लिया, तथा उसको एक तरफ रख दिया वे जानते थे कि इसको नुकसान है और हमें फायदा। परन्तु वे किसीकी भूलका लाभ नहीं लेना चाहते थे। आरबघर पहुंचा, बड़े भाईसे सौदाकी बात की। वह घबराकर बोला-तूने यह क्या किया! इसमे तो अपनेको बहुत नुकसान है। अब क्या था, आरब श्रीमद्जीके पास आया और सौदा रद्द करनेको कहा। व्यापारिक नियमानुसार सौदा तय हो चुका था, आरब वापस लेनेका अधिकारी नहीं था,

फिर भी श्रीमद्‌जीने सौदा रद्द करके मोती उसे वापिस दे दिए। श्रीमद्‌जीको इस सौदे से हजारोंका फायदा था, तो भी उन्होंने उसकी अन्तरात्माको दुःखित करना अनुचित समझा और मोती लौटा दिए। कितनी निस्पृहता-लोभ वृत्तिका अभाव! आजके व्यापारियोंमें यदि सत्यता आजाय तो सरकारको नित्य नये नये नियम बनानेकी जरूरत ही न रहे और मनुष्य-समाज सुखपूर्वक जीवन यापन कर सके।

श्रीमद्‌जीकी दृष्टि बड़ी विशाल थी। आज भी भिन्न भिन्न सम्प्रदायवाले उनके वचनोंका रुचि सहित आदरपूर्वक अभ्यास करते हुए देखे जाते हैं। उन्हें वाडाबन्दी पसन्द नहीं थी। वे कहा करते थे कि कुगुरुओंने लोगोंकी मनुष्यता लूट ली है, विपरीत मार्गमें रुचि उत्पन्न करादी है, सत्य समझानेकी अपेक्षा कुगुरु अपनी मान्यताको ही समझानेका विशेष प्रयत्न करते हैं।

श्रीमद्‌जीने धर्मको स्वभावकी सिद्धि करनेवाला कहा है। धर्मोंमें जो भिन्नता देखी जाती है, उसका कारण दृष्टिकी भिन्नता बतलाया है। इसी बातको वे स्वयं दोहेमे प्रगट करते हैं:—

भिन्न भिन्न मत देखिए, भेद दृष्टिनो एह।
एक तत्त्वना मूलमां, व्याप्या मानो तेह॥
तेह तत्त्वरूप वृक्षनुं, आत्मधर्म छे मूल।
स्वभावनी सिद्धि करे, धर्म ते ज अनुकूल॥

अर्थात्-भिन्न भिन्न जो मत देखे जाते हैं, वह सब दृष्टिका भेद है। सब ही मत एक तत्त्वके मूलमे व्याप्त हो रहे हैं। उस तत्त्वरूप वृक्षका मूल है आत्मधर्म, जो कि स्वभावकी सिद्धि करता है, और वही धर्म प्राणियोंके अनुकूल है।

श्रीमद्‌जीने इस युगको एक अलौकिक दृष्टि प्रदान की है। वे रूढि या अन्धश्रद्धाके कट्टर विरोधी थे। उन्होंने आडम्बरोंमें धर्म नहीं माना था। वे मत-मतान्तर तथा कदाग्रहादिसे बहुत ही दूर रहते थे। वीतरागता की और ही उनका लक्ष्य था।

पेढीसे अवकाश लेकर वे अमुक समयतक खभात, काविठा, उत्तरसंडा, नडियाद, वसो और ईडरके पर्वतमे एकान्तवास किया करते थे। मुमुक्षुओंको आत्मकल्याणका सच्चा मार्ग बताते थे। इनके एक एक पत्रमे कोई अपूर्व रस भरा हुआ है। उन पत्रोंका मर्म समझनेके लिए सन्त-समागमकी विशेष आवश्यकता अपेक्षित है। ज्यों ज्यों इनके लेखोंका शान्त और एकाग्र चित्तसे मनन किया जाता है, त्यों त्यों आत्मा क्षणभरके लिए एक अपूर्व आनन्दका अनुभव करता है। 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थके पत्रोंमे उनका पारमार्थिक जीवन जहाँ तहाँ दृष्टिगोचर होता है।

श्रीमद्‌जीकी भारतमें अच्छी प्रसिद्धि हुई। मुमुक्षुओंने उन्हें अपना मार्ग-दर्शक माना। बम्बई रहकर भी वे पत्रों द्वारा मुमुक्षुओंकी शंकाओंका समाधान करते रहते थे। प्रातःस्मरणीय श्री रघुराज स्वामी इनके शिष्योंमे मुख्य थे। श्रीमद्‌जी द्वारा उपदिष्ट तत्वज्ञानका संसारमे प्रचार हो तथा अनादिसे परिभ्रमण करनेवाले जीवोंको मोक्षमार्ग मिले, इस उद्देश्यसे स्वामीजीके उपदेशसे

श्रीमद्जीके उपासकोंने गुजरातमें अगास स्टेशनके पास 'श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम' की स्थापना की थी, जो आज भी उन्हीं की भावनानुसार चलता है। इसके सिवाय खंभात, वडवा, नरोडा, धामण, आहोर, ववाणिया, काविठा, भादरण, ईडर, उत्तरसडा, नार आदि स्थलोंमें भी इनके नामसे आश्रम तथा मन्दिर स्थापित हुए हैं। श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगासके अनुसार ही उनमें प्रवृत्ति है—अर्थात् श्रीमद्जीके तत्वज्ञानकी प्रधानता है।

श्रीमद् एक उच्चकोटिके असाधारण लेखक और वक्ता थे। उन्होंने १६ वर्ष और ५ मासकी उम्रमें ३ दिनमे १०८ पाठवाली 'मोक्षमाला' बनाई थी। आज तो इतनी आयुमें शुद्ध लिखना भी नहीं आता, जब कि श्रीमद्जीने एक अपूर्व पुस्तक लिख डाली। पूर्व भवका अभ्यास ही इसमे कारण था। इससे पहले पुष्पमाला, भावना बोध आदि पुस्तके लिखी थीं। श्रीमद्जी मोक्षमालाके सम्बन्धमें लिखते हैं कि—"इस (मोक्षमाला) मे मैंने जैन धर्मके समझानेका प्रयत्न किया है; जिनोक्त मार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं लिखा है। वीतराग मार्गमें आबाल-वृद्धकी रुचि हो, उसके स्वरूपको समझे तथा उसका बीज हृदयमें स्थिर हो, इस कारण इसकी बालावबोधरूप रचना की है।"

इनकी दूसरी कृति आत्म-सिद्धि हैं, जिसको श्रीमद्जीने १॥ घंटेमें नडियादमें बनाया था। १४२ दोहोंमे सम्यग्दर्शनके कारणभूत छह पदोंका बहुत ही सुंदर पक्षपात रहित वर्णन किया है। यह कृति नित्य स्वाध्यायकी वस्तु है।

श्रीकुंदकुंदाचार्यके पंचास्तिकायकी मूल गाथाओंका भी इन्होंने अक्षरशः गुजरातीमें अनुवाद किया है, जो 'श्रीमद्राजचन्द्र' ग्रन्थमें छप चुका है।

श्रीमद्जीने आनन्दघन चौवीसीका अर्थ लिखना प्रारम्भ किया था। और उसमें, प्रथमादि दो स्तवनोंका अर्थ भी किया था; पर न जाने क्यों अपूर्ण रह गया है। संस्कृत तथा प्राकृत भाषापर आपका पूरा अधिकार था। सूत्रोंका यथार्थ अर्थ समझानेमें आप बड़े निपुण थे।

आत्मानुभव-प्रिय होनेसे श्रीमद्जीने शरीरकी कोई चाह नहीं रखी। इससे पोद्गलिक शरीर अस्वस्थ हुआ। दिन-प्रतिदिन उसमें कृशता आने लगी। ऐसे अवसर पर आपसे किसीने पूछा-'आपका शरीर कृश क्यों होता जाता है?" श्रीमद्जीने उत्तर दिया 'हमारे दो बगीचे हैं, शरीर और आत्मा। हमारा पानी आत्मा रूपी बगीचेमें जाता हैं, इससे शरीर रूपी बगीचा सूख रहा है।' देहके अनेक प्रकारके उपचार किए गए। वे वढ़वाण, धर्मपुर आदि स्थानोंमें रहे, किन्तु सब उपचार निष्फल गए। कालने महापुरुषके जीवनको रखना उचित न समझा। अनित्य वस्तुका सम्बन्ध भी कहाँ तक रह सकता है! जहाँ सम्बन्ध वहाँ वियोग भी अवश्य है। देहत्यागके पहले दिन शामको श्रीमद्जीने श्री रेवाशंकर आदि मुमुक्षुओंसे कहा—'तुम लोग निश्चिन्त रहना। यह आत्मा शाश्वत है। अवश्य विशेष उत्तम गतिको प्राप्त होगी। तुम शान्त और समाधिपूर्ण रहना। मैं कुछ कहना चाहता था, परन्तु अब समय नहीं है। तुम पुरुषार्थ करते रहना' प्रभातमे श्रीमद्जीने अपने लघु भ्राता मनसुखभाईसे कहा—'भाईका समाधिमरण है। मैं अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता हू।' फिर वे न बोले। इस प्रकार श्रीमद्जीने

वि० सं० १९५७ मिती चैत्र वदी ५ (गुजराती) मंगलवारको दोपहरके २ बजे राजकोटमें इस नश्वर शरीरका त्याग किया।

इनके देहान्तके समाचारसे मुमुक्षुओंमें अत्यन्त शोकके बादल छा गये। अनेक समाचार पत्रोंने भी इनके लिये शोक प्रदर्शित किया था।

श्रीमद्‌जीका पार्थिव शरीर आज हमारी आँखोंके सामने नहीं है, किन्तु उनका सद्‌-उपदेश, जबतक लोकमें सूर्यचन्द्र हैं तबतक स्थिर रहेगा तथा मुमुक्षुओंको आत्मज्ञानमें एक महान सहायक रूप होगा।

श्रीमद्‌जीने परम सत् श्रुतके प्रचारार्थ एक सुन्दर योजना तैयार की थी। जिससे मनुष्य समाजमे परमार्थ मार्ग प्रकाशित हो। इनकी विद्यमानतामे वह योजना सफल हुई और तदनुसार परमश्रुत प्रभावक मंडलकी स्थापना हुई। इस मंडलकी ओरसे दोनों सम्प्रदायोंके अनेक सद्‌ग्रन्थोंका प्रकाशन हुआ है। इन ग्रन्थोंके मनन अध्ययनसे समाजमें अच्छी जागृति आई। गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छमें आज घर घर सद्‌-ग्रन्थोंका जो अभ्यास चालू है वह इसी संस्थाका ही प्रताप है। 'रायचन्द्र अने ग्रन्थमाला' मंडल की अधीनतामें काम करता थी। राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी इस संस्थाके ट्रस्टी और भाई रेवाशंकर जगजीवनदासजी मुख्य कार्यकर्ता थे। भाई रेवाशंकरजीके देहोत्सर्ग के बाद संस्थामें कुछ शिथिलता आगई; परन्तु अब उस संस्थाका काम श्रीमद्‌ राजचन्द्र आश्रम अगासके ट्रस्टियोंने संभाल लिया है और सुचारु रूपसे पूर्वानुसार सभी कार्य चल रहे हैं।

इस आश्रमकी ओरसे श्रीमद्‌जीका सभी साहित्य सुपाठ्य रूपसे प्रकाशित हुआ है।

'श्रीमद्‌ राजचन्द्र' एक विशाल ग्रन्थ है, जिसमे उनके आध्यात्मिक पत्र तथा लेखोंका अच्छा संग्रह है।

श्रीमद्‌जी के विषयमें विशेष जाननेकी इच्छावालोंको, इस आश्रम से प्रकाशित 'श्रीमद्‌ राजचन्द्र जीवनकला' अवलोकनीय है।

—गुणभद्र जैन.

श्री परमात्मने नमः ।

प्रस्तावना

विदित हो कि अनादिकालीन सर्वोत्तम जैन धर्ममें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रयके समुदायको मोक्षकी प्राप्तिके प्रति कारणता है । इसमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है । क्योंकि, उसके विना ज्ञानको और सम्यग्ज्ञानके विना चारित्रको सम्यक् पदकी प्राप्ति नहीं होती है । वह सम्यग्दर्शन जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन षट् द्रव्योंके यथार्थ स्वरूपको जानकर उसमें श्रद्धान (विश्वास) करनेसे होता है । अतः सिद्ध हुआ कि मोक्षाभिलाषी जनों को सर्वतः प्रथम षट् द्रव्योंका ज्ञान करना अत्यन्त आवश्यक है । वह ज्ञान अन्तिम द्रव्यानुयोगसे होता है । इसी कारण पूज्य पुरुषोंने द्रव्यानुयोगके ज्ञानकी प्रशंसा मुक्तकंठ होकर की है और इसके अभ्यास करनेवालोंको उत्तम कहा है ।

प्राचीन आचार्यों और बुद्धिमान् गृहस्थरत्नोंने अपरिमित आपत्तियों और परिश्रमोंको सहन करके परोपकारबुद्धिसे इस विषयके सहस्रोंकी रचना की थी । परन्तु विकराल कलिकालके प्रभावसे जीवोंके आयु, बल, बुद्धि तथा सद्धर्मकी श्रद्धा आदिमें प्रति समय होती हुई मंदता, प्रमाद और विषयाभिलाषिताकी वृद्धि एवं दुष्टोंकी दुष्टता आदिसे अनेक ग्रन्थ तो निरादर-पूर्वक नष्ट होगये और बहुतसे तल्लाकोंदार कुफल और मूर्खोंके अधिकारमें रहनेसे जीर्ण हो रहे हैं; जिनका कि सूचीके विना पता भी नहीं लगता । यह अत्यन्त खेदका विषय है ।

तथापि दिगम्बर संप्रदायमें समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, परमात्मप्रकाश, राजवार्त्तिक, श्लोकवार्त्तिक, प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्रोदय, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, पंचाध्यायी सटीक, द्रव्यसंग्रह, नयचक्र, सप्तभंगतरंगिणी आदि और श्वेताम्बर[1] संप्रदायमें संमितितर्क, षोडशक, स्याद्वादरत्नाकरावतारिका, स्याद्वादमंजरी, तत्त्वार्थाधिगमभाष्य आदि अनेक ग्रन्थ जो प्रचारमें आरहे हैं, उनसे संतोष है ।

श्वेताम्बर संप्रदायके उक्त ग्रन्थोंमे यथार्थ नामका धारक यह **"द्रव्यानुयोगतर्कणा"** नामक शास्त्र भी एक है । इसके कर्त्ता [2]तपोगच्छगगनमण्डलमार्त्तण्ड श्रीविनीतसागरजीके मुख्य शिष्य द्रव्यविज्ञाननागर सकलगुणसागर **श्रीभोजसागरजी** हैं । उक्त महात्माने अपने अवतारसे किस वसुधामंडलको मंडित किया यह शीघ्रतामें निश्चित न हो सका । समयके विषय वाचकमुख्य [3]श्रीयशोविजयोपाध्यायजीविरचित द्रव्यगुणपर्याय भाषाविवरणके अनुसार इस प्रकृत शास्त्रका संकलन करनेसे अनुमान किया जाता है कि विक्रम सं० १५०० के पीछे किसी समय इन्होंने यह ग्रन्थ रचा है ।

---

(१) श्वेताम्बर सप्रदायके प्रचलित ग्रन्थोंके विशेष नाम उपस्थित नही थे, इसलिये थोडेसे ही नाम दिखलाये गये हैं ।

(२) तपोगच्छकी एक दो पत्रोकी पट्टावली देखी, उसमे भी इनका तथा इनके गुरुजनोका वर्णन नहीं मिला ।

(३) इनके नामके स्मरणार्थ काशीमे एक विशाल श्वेताम्बरपाठशाला है ।

उक्त ग्रन्थमें शास्त्रकार महोदयने सुगमतासे मन्दबुद्धि जीवोंको द्रव्यज्ञान होनेके अर्थ **"गुणपर्ययवद्द्रव्यम्"** इस महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्रके अनुकूल द्रव्य, गुण , और पर्यायोंका ही विशेष वर्णन किया है और प्रसंगवश 'स्यादस्ति' 'स्यान्नास्ति' आदि सप्त भंगोंका और दिगम्बराचार्यवर्य **श्रीदेवसेनस्वामी**विरचित नयचक्रके आधारसे नय, उपनय तथा मूलनयोंका भी विस्तारसे वर्णन किया है, जो कि विषयसूचीसे विदित होगा।

वर्त्तमान संस्कृतानभिज्ञ बुद्धिमान् जीवोंको अतिशय ज्ञानप्रद इस ग्रंथद्वारा तेरह लाख जैनियोंमेंसे प्रायः तेरह जैनियोंको भी परिपूर्ण लाभ नहीं मिलता हुआ देखकर यथार्थ नामधारक **"श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल बंबई"** के प्रबन्धक चतुर महाशयोंने इस शास्त्रको व्याकरणाचार्य **श्री ठाकुरप्रसादजी**शर्मा द्विवेदीके हस्तमें अनुवाद करनेके अर्थ प्रदान किया और उक्त पंडितजीने भी इसका अनुवाद करके उनके मनोरथको सफल कर दिया। परन्तु अनुवादक महाशयके स्थानान्तर होजानेसे इसके संशोधनका भार मंडलके व्यवस्थापक महाशयने मुझको दिया, जो कि मैंने यथाशक्ति किया है। इसमें यदि कोई भूल हुई हो तो पाठकगण क्षमा करें।

इस शास्त्रके संशोधनमें जयपुरस्थ संवेगी साधुवर **श्रीशिवरामजी** महाराजने अनेक प्रकारकी सहायता दी है, अतः मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

अन्तमे परमश्रुतप्रभावकमंडलके सभासदों और व्यवस्थापक **शा० रेवाशंकरजी जगजीवनजी जौंहरी**को धन्यवाद देता हू कि जो इस सच्चे धर्मकार्यमें परिश्रम कर जगत्का उपकार कर रहे हैं॥ इत्यलम्।

स्थान जयपुर शुभमिति
कार्तिक बदी १२ रविवार
स० १९६३ विक्रम.

संशोधक और निवेदक विनयावनत
पं० जवाहरलाल साहित्यशास्त्री दि० जैन.

ओं नमः सिद्धेभ्यः ।

उपोद्घातः ।

—०—

विदितमस्तु समस्तवस्तुवेदकवीतरागचरणशरणमासेदुषामाप्तोदितविश्वासजुषां हेयोपादेयविदुषां विदुषां प्रति संप्रति यद्धि समीचीनतायाः प्राचीनतायाश्च निदर्शने जैनदर्शने सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमयरत्नत्रयसमुदयमेव निखिलकर्मनिर्मोक्षणलक्षणस्य मोक्षस्य कारणं विश्रुतमिति । तत्रापि च तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति महाशास्त्रतत्त्वार्थाधिगमसूत्रानुकूलं जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाख्यां सप्ततत्त्वानां स्वरूपानुरूपश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनं प्रकृष्टतरं, तेन विना ज्ञानस्य सज्ज्ञानमन्तरा चारित्रस्यासमीचीनत्वाच्च । उक्तेषु सप्ततत्त्वेषु जीवाजीवौ मुख्यतमौ-अपराणि त्वनयोः संयोगजनितानीति च । एतयोर्जीवस्त्वेक एव, अजीवः पुनर्धर्माधर्माकाशकालपुद्गलभेदात्पञ्चधा । एवमेकेन जीवेन सार्द्धमजीवस्य पञ्चप्रकाराणां मेलने कृते निष्पन्ना या षट्संख्या सैव षड्द्रव्यत्वेन प्रपन्नाः सर्वज्ञैः । द्रव्यलक्षणं चाखिलमतविलक्षणं गुणपर्ययवत्त्वमतः कृत्वा गुणपर्यायसमन्वितानां षण्णा द्रव्याणां परिज्ञानमेव मोक्षं प्रत्यत्यन्तोपयोगीति पर्यवसन्नम् ॥

अत एव च विहितार्त्तरौद्रदुर्ध्यानद्वयवियोगानां श्रेयोविनियोगाना प्रथमकरणचरणद्रव्याभिख्यचतुरनुयोगाना मध्ये स्याद्वादभानुप्रखरकरप्रकरदूरीकृतैकान्तध्वान्तं शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मस्वरूपनिरूपणसुधासंधूतमिथ्यात्वमलमलिनभव्यजनस्वान्तं नितान्तनिचितपरमशुद्धोपयोगं चरमद्रव्यानुयोग विशेषेण समनुमनन्ति परिशीलयन्ति चात्मज्ञानप्रसेदिवांसो विद्वांसः ।

दुःषमारजनिजनितप्रतिसमयविवर्द्धमाननिबिडान्धकारप्रचारसंजातैर्जनतामतिमान्द्यप्रमादानिष्टजनदौष्ट्यादिकारणजातैर्नष्टे नष्टप्राये जीर्णितेऽनवधारितसत्त्वे च कलाकलापालयनिखिलनिलिम्पपत्यालापसंस्तुतसर्वज्ञकल्पानल्पयतिपतिपरिकल्पितैतद्विषयकसिद्धान्तसंघाते संतिष्ठन्ते किलाधुनापि सुकृतिनां सुकृतैर्दिगम्बरश्वेताम्बराख्ययोरुभयोरेव संप्रदाययोर्मध्ये शतशो ग्रन्था इति संतोषास्पदमिदम् ।

तेषु चैषा यथार्थनामा **द्रव्यानुयोगतर्कणा**प्यन्यतमा । अस्या विधाता तपोगच्छगगनभास्करश्रीविनीतसागरप्रियाग्रशिष्यो द्रव्यविज्ञाननागरः सद्गुणसागरः **श्रीभोजसागरः** स्वजनुषा कतम वसुधामण्डलं मण्डयामासेति निर्णेतुं नो शक्नुमः । समयश्चास्य दुर्वारमारमदमर्दक. **श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वर**विनिर्मितायाः स्याद्वादपरिच्छेदिकाया **अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाया** निरवद्यपद्याना स्वप्रबन्धे विनियोजनात्—**श्रीमद्यशोविजयोपाध्यायमतल्लिकाविहितद्रव्यगुणपर्यायभाषाविवरणो** दितार्थमनुसृत्यैतद्ग्रन्थसंकलनाच्च विक्रमार्कपञ्चदशशताब्द्युत्तरमेव भवेदित्युनुमीयते ।

विज्ञजनसंस्तुतेऽस्मिन् प्रस्तुते ग्रन्थे गुणपर्ययवद्द्रव्यमितिसूत्रोदितलक्षणानुकूलं जीवाजीवादि षड्द्रव्याणा तद्वर्तिनां गुणपर्यायाणा च स्वरूपं मन्दमतिमनुजाववोधनार्थमनतिविस्तरेण सरलसंस्कृतेन सशास्त्रप्रमाणं सयौक्तिकं च प्रदर्शितं ग्रन्थकर्त्रा । प्रसंगाच्चानेकान्तमतजीवनप्रायाणा

स्याद्स्तिस्यान्नास्तीत्यादिरूपाणां सप्तभङ्गानां 'दिगम्बराचार्यवर्यश्रीदेवसेनजी पादविनिर्मितनयचक्राधारतया नयोपनयमूलनयानामन्येषामपि बहूना विषयाणां निरूपणं कृतमस्तीत्येतत्सर्वमग्रे विषयसूचीतो ज्ञातं भविष्यति ।

सर्वहितविहितप्रयत्नस्य चास्य शास्त्ररत्नस्य दुष्प्राप्यत्वात्सर्वजनसौकर्यायश्रीपरमश्रुतप्रभावक मण्डलसत्त्वाधिकारिभी रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाद्वारा मुद्रापणे मनोरथं व्यधायि । उक्तमण्डलव्यवस्थापकेन श्रीरेवाशंकर जगजीवनाभिधेन श्रेष्ठिवरेण व्याकरणाचार्यपण्डितठाकुरप्रसादशर्मद्विवेदिभिरनुवादं कारयित्वा सत्स्वपि बहुरत्नाया वसुन्धरायां मत्तोऽप्यधिकविद्वत्सु मय्येवाध्यारोपितोऽस्य संशोधनभारः । प्रेषिते चोभे पुस्तके । एकं च प्रायः शुद्धं पुस्तकं जयपुरस्थसंवेगिसाधुप्रवरश्रीशिवरामजिदनुग्रहेण लब्धं मया । एवं समुपगते पुस्तकत्रये तदनुसारं यथामति सावधानतया नातिशीघ्रतया च संशोधनमकारि । यत्र तत्र शङ्कास्थलेषु च साधुश्रीशिवरामजीप्रभृतिभिरपि साहाय्यमवापि । तथापि संप्रति **'सर्वः सर्वं न जानाति सर्वज्ञो नास्ति कश्चन'** इति न्यायेन केवलिश्रुतकेवलिनमन्तरा सर्वेषामेवागाधागमवार्धौ प्रस्खलनसंभवान्मदीयप्रमादाज्ञानाद्यैर्मुद्रणकालीनैरपरैश्च कारणकलापैर्मूले यास्त्रुटयो भवेयुस्तासां शोधनं कृत्वा तद्विषयकसूचनया मामनुगृह्णीयुस्तत्रभवन्तः सज्जनविद्वद्वराः येन द्विरावृत्तौ ता न स्युः क्षन्तव्यश्चाज्ञानादिजनितो ममापराध इति मुहुर्मुहुः प्रार्थयेऽहमिति दिक् ।

संशोधको निवेदकश्च विज्ञानुचरो जयपुरस्थः साहित्यशास्त्रीत्युपाधिधारी
जवाहरलालो दिगम्बरीयजैनः ।

श्रीः ।

अथ विषयसूची ।

श्रीमद्राजचन्द्रजैनशास्त्रमाला.

श्रीभोजकविविरचिता

द्रव्यानुयोगतर्कणा

भाषानुवादसहिता च

श्रीगुरुभ्यो नमः । श्रीवीतरागाय नमः ।

मङ्गलाचरणम्

श्रियां निवासं निखिलार्थवेदकं सुरेन्द्रसंसेवितमन्तरारिघम् ।
प्रमाणयुङ्न्यायनयप्रदर्शकं नमामि जैनं जगदीश्वरं महः ॥ १ ॥

यदीयगोभिर्भुवनोदरस्थितं कुवादभूच्छायभरं निवार्यते ।
द्रव्यादियाथात्म्यमपि प्रकाश्यते जयत्यधीशः स जिनस्त्रयीतनुः ॥२॥

वन्दे वीरपरम्परावियदहर्नाथं सनाथं श्रिया,
गाम्भीर्यादिगुणावलीप्रविलसद्रत्नौघरत्नाकरम् ।
विद्यादेवपुरोहितप्रतिनिधिं श्रीमत्तपागच्छपं,
प्रख्यातं विजयाह्वयागणधरं द्रव्यानुयोगेश्वरम् ॥ ३ ॥

श्रीभावसागरं नत्वा श्रीविनीतादिसागरम् ।
प्रबन्धे तत्प्रसादेन किञ्चिद्व्याख्या प्रतायते ॥ ४ ॥

तद्भावयुक्तं श्रीमन्तं सुविनीतं गुरुं मुदा ।
प्रणम्य रम्यभावेन सूत्रवृत्तिः प्रतायते ॥ ५ ॥

अनेक प्रकारकी लक्ष्मियोंका निवासस्थान, संपूर्ण पदार्थोंका संप्रवर्तक, देवेन्द्रोंसे सेवित, अन्यन्तरके शत्रुओंका नाशक, और प्रमाणसहित न्यायमार्गका प्रदर्शक, ऐसे श्रीजिन भगवान्सम्बधी जगदीश्वर-तेजको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥ जिनकी किरणोंसे संसार

के उदरमे वर्तमान कुवादसे उत्पन्न छायाका समूह दूर होता है, और द्रव्यादि पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप भी प्रकाशित होता है, ऐसे सबके स्वामी, रत्नत्रयरूप शरीरके धारक (सम्यग्ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रमय) श्रीजिनेन्द्र जयवन्त हैं ॥ २ ॥ श्रीमहावीरस्वामीसे आदि लेकर संपूर्ण तीर्थंकरोकी पंक्तिरूप आकाशके सूर्य, श्री (लक्ष्मी) से सेवित तथा गाम्भीर्य, "दया दाक्षिण्य" आदि गुणोकी पंक्तियोसे अति शोभायमान रत्नोके समूहके रत्नाकर तथा शास्त्र, देव और पुरोहितके प्रतिनिधि (स्थानापन्न) श्रीमत्तपागच्छके नायक श्रीदयाविजय नामक गणधरजीको मैं नमस्कार करता हू ॥३॥ और श्रीविनीतसागरजी तथा श्रीभावसागरजी नामक विद्यागुरुको नमस्कार करके उन्हीं महाऽनुभावकी कृपासे इस द्रव्याऽनुयोगतर्कणा नामक प्रबन्धकी मै कुछ व्याख्या करता हू ॥ ४ ॥ समीचीन (उत्तम) भावोंसे संयुक्त, श्रीमान् सुविनीत गुरुजीको परमरमणीय भक्तिभावसे प्रणाम करके सूत्रोंकी वृत्तिका मै विस्तार करता हू ॥ ५ ॥

चिकीर्षितग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थमिष्टदेवतानमस्कारादिरूपं मङ्गलं ग्रन्थादौ आचरन् अनुबन्धचतुष्टयं दर्शयन्नेव चिकीर्षितं प्रतिजानीते ।

रचनेको अभीष्ट ग्रन्थकी निर्विघ्न समाप्तिकी इच्छासे अपने इष्ट देवका नमस्काररूप मङ्गलाचरण करते हुए तथा ग्रन्थके अनुबन्धचतुष्टयको दर्शाते हुए ग्रन्थकार निज चिकीर्षित (करनेको इष्ट) विषयकी प्रतिज्ञा करते है ।

श्रीयुगादिजिनं नत्वा कृत्वा श्रीगुरुवन्दनम् ।
आत्मोपकृतये कुर्वे द्रव्यानुयोगतर्कणाम् ॥ १ ॥

भावार्थः—युगके आदिमें आविर्भूत श्रीआदिजिन भगवान् (श्रीआदिनाथ ऋषभदेवजी) को नमस्कार करके, तथा श्रीगुरुदेवको वन्दना करके, आत्माके उपकारके अर्थ, अर्थात् जीव अजीव आदि द्रव्योंको जानकर संसारसागरसे जीवके उद्धारके लिये मैं इस द्रव्यानुयोगतर्कणा नामक ग्रन्थको रचता हू ॥ १ ॥

व्याख्या । तत्र प्रथममिष्टदेवतानमस्कारेण सप्रयोजनमभिधेयो दर्शितः । आद्यपदद्वयेन मङ्गलाचरणं नमस्कारकरणं च ।१। आत्मार्थिन इहाधिकारिणः ।२। तेषामर्थबोधो भविष्यतीति उपकाररूपं प्रयोजनम् ।३। द्रव्याणामनुयोगोऽत्राधिकारः ।४। अथ द्रव्यानुयोग इति कः शब्दार्थः । अनुयोगो हि सूत्रार्थयोर्व्याख्यानं तस्य चत्वारो भेदास्तत्र प्रथमश्चरणानुयोगः आचारवचनमाचाराङ्गादिसूत्राणि । द्वितीयो गणितानुयोगः सङ्ख्याशास्त्रं चन्द्रप्रज्ञप्त्यादिसूत्राणि । तृतीयो धर्मकथानुयोगः आख्यायिकावचनं ज्ञाताधर्मकथाङ्गादिसूत्राणि ।३। चतुर्थो द्रव्यानुयोगः षड्द्रव्यविचारः सूत्रकृताङ्गादिसूत्राणि सम्मतितत्त्वार्थप्रमुखप्रकरणानि च महाशास्त्राणि । ततोऽन्त्यभेदविचारणामहं कुर्वे ।

व्याख्यार्थः—प्रथम सूत्र में अभीष्ट परमदेव जिन भगवानको नमस्कार करने से प्रयोजनसहित निजग्रन्थमें अभिधेय अर्थात् कथन करनेके योग्य पदार्थ दर्शाया है।

तात्पर्य यह है कि द्रव्यादि पदार्थोके ज्ञानसे आत्मज्ञानपूर्वक श्रीजिन भगवान्का ज्ञान तथा उनकी नमस्कार आदिरूप भक्ति ही इस ग्रन्थका अभिधेय और प्रयोजन है। सूत्रके प्रथम दो पादोसे श्रीजिन देवको तथा श्रीगुरु देवको नमस्कार करके आस्तिक मतके अनुसार मङ्गलाचरण तथा नमस्कार प्रदर्शित किया गया है ॥ १ ॥ और **"आत्मोपकृतये कुर्वे"** इस तृतीय पादसे यह अभिप्राय दर्शाया है कि आत्माके अभिलाषी जन इस ग्रन्थके अधिकारी है ॥ २ ॥ उन अधिकारी जीवोंको पदार्थोका ज्ञान होगा, इस उपकाररूप ग्रन्थका प्रयोजन है ॥ ३ ॥ और द्रव्यानुयोग इस ग्रन्थका अधिकृत विषय है ॥ ४ ॥ ये ही चार अभिधेय, प्रयोजन, संबन्ध तथा अधिकारी ग्रन्थकी आदिमें अनुबन्धचतुष्टय कहे जाते है। अब **"द्रव्यानुयोग"** इस शब्दका क्या अर्थ है? इस विषयमें विचार करते है। सूत्र और अर्थके व्याख्यानको अनुयोग कहते है। उस अनुयोगके चार भेद है। उनमें प्रथम चरणानुयोग है, जिसमे आचारके वचन है, जैसे आचारांगादि सूत्र ॥ १ ॥ द्वितीय गणितानुयोग अर्थात् संख्याशास्त्र है, जेसे चन्द्रप्रज्ञप्ति आदिके सूत्र ॥ २ ॥ तृतीय धर्मकथानुयोग अर्थात् कथाशास्त्र है, इसमें ज्ञाताधर्मकथा आदि सूत्र है ॥ ३ ॥ और चतुर्थ द्रव्यानुयोग अर्थात् जीव आदि षट् द्रव्योंका विचार है। इसमें सूत्रकृतांगादि सूत्र, संमतिप्रकरण, तत्त्वार्थप्रकरण आदि अनेक महाशास्त्र है ॥ ४ ॥ अत एव अति उपयोगी होनेसे अन्तिम भेद जो द्रव्यानुयोग है उसीका विचार मै करता हूँ ॥ १ ॥

विना द्रव्यानुयोगोहं चरणकरणाख्ययोः ।
सारं नेति कृतिप्रेष्ठं निर्दिष्टं सम्मतौ स्फुटम् ॥२॥

भावार्थः—द्रव्यानुयोगके विचारके बिना द्रव्य तथा गुण-पर्यायोका ज्ञान नही होता अत एव चरणानुयोग तथा करणानुयोगमे द्रव्यानुयोगके ज्ञानके विना कुछ तत्त्व नहीं है, और द्रव्यानुयोगके ज्ञानको ही चरणानुयोग तथा करणानुयोगका सार और पण्डित जनोको अतिप्रिय संमति ग्रन्थमें स्पष्ट रीतिसे दर्शाया है ॥ २ ॥

व्याख्या । द्रव्यानुयोगोह द्रव्यगुणपर्यायविचार विना चरणकरणयो सार न । चरणसत्तयाः करणसत्तयाश्च सार केवल द्रव्यानुयोग एव । इत्यय निष्कर्ष । सम्मतिग्रन्थे स्फुट प्रकट कृतिप्रेष्ठ बुधजनवल्लभ निर्दिष्ट कथित बुधा एव जानते न तु बाह्यदृष्टय । यत "चरणकरणप्पहाणा ससमयपरसमयमुक्कवावारा । चरणकरणस्स सार णिच्चयसुद्ध न जाणति ॥१॥" इतीय गाथा सम्मतौ कथिता । अतश्चरणकरणानुयोगमूल इहोपायो द्रव्यानुयोग एव उक्त ॥ २ ॥

व्याख्यार्थः—द्रव्यानुयोग जिसमें जीव आदि संपूर्ण द्रव्य, गुण तथा संपूर्ण पर्यायोंका पूर्णरूपसे वर्णन है उसके (द्रव्यानुयोगके) ज्ञानके विना चरण तथा करणानुयोगमे

कुछ सार नहीं है, अर्थात् चरणसप्तति और करणसप्ततिका सार केवल द्रव्यानुयोग ही है, और वही पण्डितजनो (सम्यग्दर्शन आदि सहित जनों)को प्रिय है, क्योंकि आत्म-ज्ञानद्वारा मोक्षका कारण द्रव्यानुयोग ही है, उसीसे स्वमतका स्थापन तथा परमतका खण्डन होता है, यह वार्ता संमति ग्रन्थमे स्पष्ट रीतिसे दर्शाई गई है। "चरणानुयोग तथा करणानुयोगके ज्ञानसे संपन्न भी जन अपने तथा अन्यके शास्त्रीय सिद्धान्त-ज्ञानके व्यापारसे सर्वथा वर्जित रहते है, क्योकि वे चरणानुयोग तथा करणानुयोगके सारभूत निश्चय शुद्ध द्रव्यानुयोगको नहीं जानते" ॥ १ ॥ यह गाथा सम्मति ग्रन्थमे कही गई है। इसी हेतुसे चरणानुयोग और करणानुयोगका मूल (मुख्य सिद्धान्त) जाननेका उपाय द्रव्यानुयोग ही यहापर कहा गया है ॥ २ ॥

शुद्धान्नादिस्तनुर्योगो महान् द्रव्यानुयोगजः ।
इत्थ षोडशकाज्ज्ञात्वा विदधीत शुभादरम् ॥३॥

भावार्थः—शुद्ध आहार आदिका ग्रहण करना, अर्थात् चरण–करणानुयोगरूप योग लघु है और द्रव्यानुयोग नामक योग महान् है, इस प्रकार षोडशक नामके उपदेशग्रन्थसे जानकर शुभ मार्गमे आदर करना उचित है ॥ ३ ॥

व्याख्या । शुद्धान्नादि शुद्धाहारग्रहणमर्थात् चरणकरणानुयोगाख्यो योगो द्विचत्वारिंशद्दूषण-रहितपिण्डग्रहणो योगस्तनुर्लघु कथित । तथा द्रव्यानुयोग । स्वसमयपरसमयपरिज्ञान तदाख्यो योगो द्रव्यानुयोगजो योगो महान् महत्तर कथित । अत्र साक्षित्वमुपदेशपदादिषु ग्रन्थेषु वर्तते । ततो ज्ञात्वा शुभे पथि प्रवर्तता बाह्यव्यवहारप्राधान्य ज्ञानस्य गौणता यत्र भवति सोऽशुभमार्ग । १ । ज्ञानस्य प्राधान्य व्यवहारस्य गौणता यत्र स उत्तममार्ग । २ । अत एव ज्ञानादिगुणहेतुगुरुकुलवासरहितस्य शुद्धाहारादियत्नवतोऽपि महान् दोषश्चारित्रहानिश्च जायते । यदुक्तम् षोडशके गुरुदोषारम्भितया लब्धकरणम् । यत्नतो निपुणधीभि सन्निन्दादेश्च तथा ज्ञायते यन्नियोगेन । ३ ।

व्याख्यार्थः—शुद्ध शोधित आहारसेवन, अर्थात् शास्त्रप्रोक्त ४२ दोषोसे वर्जित भोजनग्रहण आदिरूप जो चरण तथा करणानुयोगरूप योग है वह लघु है और स्व तथा परसमयके ज्ञानरूप जो द्रव्यानुयोगरूप योग है वह अतिमहान् कहा गया है। इसी विषयकी साक्षिता उपदेशपद आदि ग्रन्थोंमें विद्यमान है। उन ग्रन्थोंसे द्रव्यानुयोगको श्रेष्ठतर जानकर शुभ मार्गमे ही आदरसे प्रवृत्त होना चाहिये। जहाँ लौकिक व्यवहारोकी प्रधानता हो और ज्ञानकी गौणता हो वह अशुभ मार्ग है ॥ १ ॥ और जहाँ ज्ञानकी प्रधानता तथा लौकिक व्यवहारकी गौणता है वह उत्तम वा शुभ मार्ग है ॥ २ ॥ इसी कारणसे ज्ञान आदि गुणोंका हेतुभूत जो गुरुकुलमे निवास है उससे रहित पुरुष चाहे शुद्ध

आहारादि करनेमें प्रयत्न भी करे, परन्तु वह ज्ञानसे रहित होनेसे महान् दोषभागी होता है तथा उसके चारित्रकी भी हानि होती है । इस विषयमें ऐसा कहा भी है,–उपदेशके ग्रन्थोमे यह निरूपित है कि द्रव्यानुयोगके ज्ञानविना शुद्ध आहारादिके ग्रहणमें महान् दोषोंके आरम्भ होनेकी संभावना है, इस हेतुसे तथा ज्ञानरहित होनेसे सज्जनोकी निन्दादिसे चरणकरणानुयोग द्रव्यानुयोगकी अपेक्षासे लघु है, उस लघु चरणकरणानुयोगके दोषोंको कुशलबुद्धि जन यत्नपूर्वक द्रव्यानुयोगद्वारा जानते है ॥३॥

सति द्रव्यानुयोगेऽस्मिन्नाध्यकर्मादिदूषणम् ।
इत्युक्तं पञ्चकल्पाख्ये भाष्ये यत्तद्गुरोः श्रुतम् ॥४॥

भावार्थः—इस द्रव्यानुयोगके ज्ञान होनेहीसे आधाकर्मादि (पाकादि कर्म अध्यवपूरकान्त) दूपण जाने जाते है, यह पञ्चकल्प नामक ग्रन्थमे तथा भाष्यमें कहा है और गुरुमुखसे भी ऐसा सुना है ॥ ४ ॥

व्याख्या । अस्मिन् द्रव्यानुयोगविचाररूपे ज्ञानयोगे सति आध्यकर्मादिदूषणम् । आधाकर्मादयोऽध्यवपूरकान्ता षोडशपिण्डोद्गमविषया दोषास्तत्र आधानम् । आधा साधुनिमित्त चेतस' प्रणिधान यथा अमुकस्य साधो हेतोर्मया भक्तादि पचनीयमिति आधया कर्मपाकादिक्रियया आधाकर्म तद्योगाद्भक्ताद्यप्याधाकर्म तदादिर्येषां दूषण गुरुसमुदायान्तर्निवमतो ज्ञानाभ्यासवमतो मुनेर्न भवति ॥ एव पञ्चकल्पभाष्ये यदुक्तम् तन्मया गुरो सकाशात् श्रुत कल्पाकल्पविचारस्तु अनेकान्तशास्त्रेणोक्तो यतो गाथा —" आहा गुडाई भु जति, अणमणो सकम्मुणा । उवलित्ते वियाणिज्जा, अणुवलित्ते विवा पुणो ॥१॥ एदे हिंदोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जई । एदे हिंदोहि ठाणेहिं अणायारतु जाणए ॥२॥" द्वितीयाङ्गस्य प्रथमाध्ययने । किश्चिच्छुद्ध कल्पमकल्प स्यात् स्यादकल्पमपि कल्प पिण्ड । शय्या वस्त्र भेषजाद्य वा देश काल पुरुषमवस्थामुपयोगशुद्धपरिणामात् प्रसमीक्ष्य भवति कल्प नैकान्तात्कल्पने कल्पम् ।२। इति प्रशमरतौ ॥४॥

व्याख्यार्थः—सब पदार्थोके ज्ञान करानेवाले इस द्रव्यानुयोग विचाररूप ज्ञानयोगके होनेपर ही आधाकर्म आदि दूपण, अर्थात् आधाकर्मसे आदि लेकर अध्यवपूरकान्त षोडश (१६) दोष आहार ग्रहण करनेसे उत्पन्न होते है । उन सोलह दोषोंमेसे साधुके पाकादिनिमित्त (चित्तकी तत्परता) को आधाकर्म कहते हैं । जैसे–अमुक साधुके लिये मुझे भात पकाना है । यहाँ "आधया पाकादिक्रियया कर्म इति आधाकर्म" पाक आदि क्रियासे जो कर्म किया जाता है उसको आधाकर्म कहते हैं। उस आधा क्रियाके योगसे भक्त (भात) आदि अन्न सिद्ध किया जाता है, उसको भी आधाकर्म कहते है । उस आधाकर्म आदिके दोष गुरुओंके समुदायमे निवास करते हुए मुनिको ज्ञानके अभ्यासके वशसे नहीं

होते। इस प्रकार **पञ्चकल्पभाष्य**में जो कहा है वह मैने गुरुमुखसे सुना है और कल्पाकल्पका विचार तो अनेकातशास्त्रसे कहागया है। इस विषयमे ये गाथा है। उपलिप्त हो अथवा अनुलिप्त हो, अन्योऽन्यकर्मसे अनभिज्ञ (अज्ञानी जन) आधाकर्मगत पाप अवश्य भोगते हैं ॥१॥ क्योंकि ये दोष है, ये दोषोंके स्थान है, इन व्यवहारोको द्रव्यानुयोगज्ञानसे रहित जन नहीं जानते और गुरुकुलनिवासी द्रव्यानुयोगज्ञाता मुनि दोष तथा दोषस्थानोंको जानता है ॥२॥ द्वितीयाङ्गके प्रथम अध्ययनमें ऐसा वर्णित है कि कोई वस्तु शुद्धकल्प भी अकल्प हो सकती है, और अकल्प भी कल्प हो सकती है। जैसे आहार, शय्या, वस्त्र, पात्र, औपध, भोज्य पदार्थ, देश, काल, पुरुप, अवस्था, ये सब उपयोगसे शुद्ध परिणामोंको देखकर कल्प (योग्य वा शुद्ध) होते हैं, किन्तु सर्वथा कोई पदार्थ अपने स्वरूपसे ही शुद्ध वा योग्य कल्पित नहीं हो सकता ॥२॥ ऐसा प्रशमरति नामक ग्रन्थमे कहा है ॥४॥

बाह्यक्रिया बहिर्योगश्चान्तरङ्गक्रियापरः ।
बाह्यहीनोऽपि ज्ञानाढ्यो धर्मदासैः प्रशंसितः ॥५॥

भावार्थः—बाह्य क्रियाको बहिर्योग कहते है, और जो अन्तरङ्ग क्रिया है उसको अन्तरङ्गयोग कहते है, किन्तु बाह्यक्रियासे हीन (शून्य) होनेपर भी यदि ज्ञानसे पूर्ण हो तो वह धर्मदासोसे प्रशंसित है ॥५॥

व्याख्या । बाह्यक्रिया आवश्यकादिरूपा बहिर्योगोऽस्ति ।१। च पुन । अन्तरङ्गक्रिया च स्वसमयपरसमयपरिज्ञानरूपा ज्ञानक्रिया, अपरो द्रव्यानुयोगोऽस्ति । अन्तरङ्गयोगो ज्ञानक्रिया । एव द्विविधो योगस्तत्र बाह्यक्रियाहीनोऽपि ज्ञानाढ्यो ज्ञानाधिक साधु । उपदेशमालाया व्याख्यातो यत —"नाणाहिओवरचरणहीणो विहुपयवेणपभासतो । णयदुक्खर करतो सुटठुवि अप्पागमो पुरिसो ।१। तहा हीणस्स विसुद्धपरूवगस्स नाणाहि जस्स कायव्व" तस्मात् क्रियाहीनस्यापि ज्ञानिनोऽवज्ञा न कर्तव्या । ज्ञानयोगाच्छासनप्रभावको ज्ञातव्य, कश्चिदेव कथयिष्यति यत् क्रियाहीन. । ज्ञानाधिको भव्य उक्तस्तद्दीपकसम्यक्त्वापेक्षया पर क्रियाविनैकेन ज्ञानेन स्वस्योपकारो न जायते दीपवत् । इति शङ्काकार प्रत्युत्तरयति । द्रव्यादिज्ञानमेव शुक्लध्यानमतो मोक्षकारण तत उपादेयमेव ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थः—आवश्यक आदिरूप जो बाह्य क्रिया है वह बहिर्योग है, और स्वसमय तथा परसमयके ज्ञानरूप जो ज्ञानक्रिया है वह अभ्यन्तर अर्थात् द्रव्यानुयोग है, वह अन्तरङ्ग योग अथवा ज्ञानक्रिया है। इस रीतिसे अन्तरङ्गयोग तथा बहिर्योग भेदसे दो प्रकारका योग कहा गया है। उनमेसे बाह्य क्रिया अर्थात् बहिर्योगसे हीन भी पुरुष हो, परन्तु ज्ञानपूर्ण अर्थात् अधिक ज्ञानसंयुक्त हो तो वह साधु है। क्योंकि वह साधुरूपसे उपदेशमालामें प्रख्यात है। यथा गाथा,—चरणकरणानुयोग अर्थात् बाह्यक्रियासे हीन भी शुद्ध उपदेश

ज्ञानमय वचनको कहते हुए, और दुष्कल्मषको करते हुए ज्ञानसे पूर्ण आत्मज्ञानी पुरुष निज ज्ञानसे ही साधु है, तथा विशुद्धज्ञानसे हीन होनेसे भी बाह्य क्रियासे संपन्न होनेपर भी वह साधु है, क्योंकि शरीर ज्ञान ही है, इस कारण क्रियाहीन भी ज्ञानी पुरुषका अनादर नहीं करना चाहिये, क्योंकि ज्ञानके योगसे वह सबके ऊपर आज्ञा करनेका प्रभाव धारण करता है, ऐसा समझना चाहिये।

अब कोई यहापर ऐसा कहता है कि क्रियाहीन और अधिक ज्ञानसम्पन्नको जो भव्य कहा है वह [1]दीपकसम्यक्त्वकी अपेक्षासे है, क्योंकि, क्रियाके विना केवल ज्ञानमात्रसे अपने आत्माका कुछ भी उपकार नही होता, जैसे—दीपक यदि अपना ही प्रकाश न करे तो अन्य घटपट आदिका प्रकाश कैसे कर सकता है ? इसप्रकार शंका का उत्तर ग्रन्थकार देते है कि द्रव्य आदि पदार्थोंका ज्ञान ही शुद्ध ध्यान कहा गया है, और वही मोक्षका कारण होनेसे उपादेय है ॥ ५ ॥

द्रव्यादिचिन्तया सारं शुक्लध्यानमवाप्यते ।
आद्रियध्वममुं तस्माद् गुरुशुश्रूषया बुधाः ॥६॥

भावार्थ—द्रव्य आदि पदार्थोंकी चिन्ता से सबका सारभूत शुक्लध्यान प्राप्त होता है, इस हेतुसे हे बुधजनो ! गुरुजनोंकी सेवा आदिसे आदरपूर्वक द्रव्य आदि पदार्थोंके ज्ञानके उपार्जनमें आदर करो ॥ ६ ॥

व्याख्या । द्रव्यादिचिन्तया षड्द्रव्यचिन्तनेन सार प्रधान शुक्लध्यानमवाप्यते, किं च आत्मद्रव्यस्य गुणपर्यायभेदचिन्तया शुक्लध्यानस्य प्रथम पादो भवति । तथा तस्यैव द्रव्यस्य गुणपर्याययोरभेदचिन्तया द्वितीयपादो भवति । एव शुद्धद्रव्यगुणपर्यायभावनया सिद्धिसमाप्तिर्जायते । ततो द्रव्यचिन्ताशुक्लध्यान फल । तेन ससारापगम । यत प्रवचनसारेऽप्युक्तम् । "जो जाणदि अरहन्ते दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्ते हिं । सो जाणदि अप्पाण मोहो खलु जादि तस्स लय ।१।" तस्मात् कारणात् भो बुधा ! गुरुशुश्रूषया गुरुसामीप्येन अमु द्रव्यानुयोगमाद्रियध्वमादर कुरुध्वमिति, गुरु त्यक्त्वा स्वेच्छया मा भ्रमत ॥६॥ अथ ज्ञान विना चारित्रमात्रेण ये सन्तुष्टा सन्ति तान् हितशिक्षया सम्बोध्यति ।

व्याख्यार्थः—द्रव्य आदि षट् पदार्थोंकी चिन्ता अर्थात् पूर्ण विचारसे प्रधानभूत शुक्लध्यान प्राप्त होता है । और आत्मद्रव्यके गुण तथा पर्यायोंके भेदके विचारसे शुक्लध्यानका प्रथम पाद सिद्ध होता है, तथा उसी आत्मद्रव्यके गुण तथा पर्य्यायोंके अभेदविचारसे शुक्लध्यानका द्वितीय पाद सिद्ध होता है। और इसी रीतिसे शुद्ध द्रव्य, गुण तथा पर्य्यायोकी भावनासे सिद्धिकी समाप्ति होती है । इसलिये द्रव्यकी चिन्ताका शुक्लध्यान फल है, और इस शुक्लध्यानकी प्राप्तिसे संसारका नाश होता है, क्योंकि, ऐसा ही प्रव-

---

१ दीपकमे जैसे दूसरेके प्रकाश करनेका सामर्थ्य रहता है ऐसे ही अपनेको भी, न कि केवल अन्य पदार्थोंके प्रकाश करने मात्रका ।

चनसारमे भी कहा है:—जो कोई अर्हन् भगवान्‌को द्रव्य, गुण तथा पर्य्यायरूपसे जानता है वही आत्माको भी जानता है, क्योंकि द्रव्य, गुण तथा पर्य्यायरूपसे आत्मज्ञानी पुरुषका मोह लयको प्राप्त होता है ॥१॥ इस कारण हे बुधजनो ! गुरुके समीप जाकर भक्ति शुश्रूषादि द्वारा इस द्रव्यानुयोगके ज्ञानसंपादनमे आदरसे लगो। तात्पर्य यह है कि गुरुसे आदरपूर्वक इसके ज्ञानको ग्रहण करो, और गुरुको त्याग कर अपनी इच्छासे भ्रमण न करो ॥६॥

अब जो ज्ञानके बिना चारित्र मात्रसे संतुष्ट है उनको हितदायक शिक्षासे संबोधन करते है —

अस्य येनेक्षितः स्तायोऽत्रौघेन प्रेम यस्य वा ।
द्वौ निर्ग्रन्थाविमौ ख्यातौ नान्य इत्याह सम्मतिः ॥७॥

भावार्थः—जिस पुरुषने इस द्रव्यानुयोगरूपी समुद्रका अधोभाग देखा है, अथवा जिसका इसमे सामान्यरूपसे अनुराग है, ये दो प्रकारके पुरुष निर्ग्रन्थ अर्थात् साधु कहे गये है न कि अन्य, ऐसा सम्मति ग्रन्थ कहता है ॥ ७ ॥

व्याख्या। अस्य द्रव्यानुयोगसमुद्रस्य स्तायस्तलस्पर्शन येन ईक्षितो विलोकित सम्मत्यादितर्कग्रन्थाध्ययनेन गीतार्थो जात स एव एक प्रशस्य । तथा अत्र द्रव्यानुयोगे ओघेन सामान्यप्रकारेण यस्य प्रेम रागोऽस्ति गीतार्थनिश्रय सोऽपि प्रशस्य । इमौ द्वौ निर्ग्रन्थौ साधू ख्यातौ कथितौ । आभ्यामपरस्तृतीय कश्चित्साधुरपि नास्ति, इत्युक्ति सम्मतिग्रन्थ आह । यत —"गीयत्थोयविहारो बीओगीयत्थ निस्सओ भणिओ । इत्तोतइयविहारो णाणुण्णाओ जिणवरेंहि ॥१॥" एतावन्मात्रो विशेषोऽस्ति। या चरणकरणानुयोगदृष्टिर्निशीथकल्पव्यवहाराध्ययनेन जायते सा जघन्या दृष्टि, या च दृष्टिवादाध्ययनेन जायते सा मध्यमा दृष्टि । २ । या पुन समस्तश्रुतनिष्कर्षज्ञानरूपेण जायते सा उत्कृष्टा दृष्टि ।३। एव जघन्यमध्यमोत्कृष्टा दृष्टयस्तित्रस्तद्विशेषेण गीतार्था अपि त्रय । अत्र द्रव्यानुयोगदृष्टि सम्मत्यादितर्कशास्त्रपारीणताख्या उत्कृष्टा । तथा तन्निश्रया द्वितीया दृष्टि । एतद्दृष्टिद्वयपरौ द्वावेव निर्ग्रन्थौ स्तोऽपर कोऽपि साधुर्नेति भाव ॥७॥

व्याख्यार्थः—जिस महा उद्योगी पुरुषने इस द्रव्यानुयोगरूप महासमुद्रके तलस्पर्शको गोता मारकर देखा है, अर्थात्, सम्मति आदि तर्कग्रन्थोको पूर्णरूपसे पढ़कर सिद्धान्तरहस्यका ज्ञाता हुआ है वही एक पुरुष प्रशंसनीय है। अथवा इस द्रव्यानुयोगमे जिसका सामान्य प्रकारसे प्रेम है, अर्थात् तर्कके अध्ययनपूर्वक अनुरागसे सिद्धान्तरहस्यको जिसने निश्चय किया है, ये ही दो प्रकारके पुरुष निर्ग्रन्थ साधु प्रख्यात हैं अर्थात् शास्त्रोमे कहे गये है। इन दोनोंसे अन्य कोई तृतीय साधु नहीं है, ऐसा कथन सम्मति ग्रन्थका है। उसकी गाथा यह है—गीतार्थ तथा गीतार्थ निश्चय इन दोनो के सिवाय किसी तीसरे को श्री जिनेन्द्रने साधु नहीं कहा है ॥ १ ॥

इसमे इतनी विशेषता है कि जो निशीथकल्प (अर्द्धरात्रिके तुल्य अन्धकारमय) व्यवहारके अध्ययनसे चरणकरणानुयोगदृष्टि उत्पन्न होती है वह जघन्य अर्थात् निकृष्ट दृष्टि है, जो दृष्टिवाद शास्त्रके अध्ययनसे उत्पन्न होती है वह मध्यमा दृष्टि है, और समस्त शास्त्रोके तत्वज्ञानसे उत्पन्न जो दृष्टि है वह उत्कृष्ट अर्थात् उत्तम दृष्टि है ॥३॥ इस प्रकार जघन्य मध्यम तथा उत्तम भेदसे तीन प्रकारकी दृष्टिये है, और उन उन दृष्टियोके विशेषसे गीतार्थ भी तीन ही प्रकारके है। इनमे संमति आदि तर्क शास्त्रोमे पारीणता (तर्कशास्त्रमे पारगामिता) नामवाली जो द्रव्यानुयोगरूप दृष्टि है वह उत्तम है, और उस तर्कशास्त्रको निश्चय करनेवाली द्वितीया दृष्टि है। इन दोनो दृष्टियोंमें परायण दोनो प्रकारके ही पुरुष निर्ग्रन्थ साधु है, इनसे भिन्न कोई साधु नही है, यही पूर्वोक्त वाक्यका अभिप्राय है ॥७॥

अथ द्रव्यानुयोगप्रत्याप्त्या निजस्यात्मन कृतकृत्यता दर्शयन्नाह ।

अब द्रव्यानुयोगकी प्राप्तिसे अपने आत्माको कृतार्थ दिखाते हुये कहते है ।

तस्माद्गुरुपदाधीनो लीनश्चास्मिन्प्रतिक्षणम् ।
साधयामि क्रियां यां मे महत्याधारता हि सा ॥८॥

भावार्थः—द्रव्यानुयोगके भी बलवत्त्वके हेतु गुरु है, इस हेतुसे गुरुके चरणोंके आश्रित होकर तथा प्रतिक्षण इस द्रव्यानुयोगरूप योगमे लीन होकर जिस क्रियाको मै सिद्ध करता हू उसमे वही मेरी बड़ी आधारता है ॥८॥

व्याख्या । तस्मादिति । तत कारणात् द्रव्यानुयोगबलवत्ताहेतुर्गुरुस्तस्य पदयोश्चरणयोराधीन । शुश्रूषापरो विनयादिप्रसन्नो गुरुर्ज्ञानमेव दत्त इति । पुन अस्मिन् द्रव्यानुयोगे प्रतिक्षणमनुपमय लीनो या चरणकरणानुयोगरूपा क्रिया साधयामि सा एव मे महती महीयसी आधारता । एतावता तादृक् क्रियारहित पर गुरुसेवी ज्ञानप्रिय इच्छायोगाधिकारी भवति । यत –"कर्तुमिच्छो श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोपि प्रमादिन । विकलो धर्मयोगो य इच्छायोग उदाहृत" ।१। ललितविस्तरादौ ॥८॥

व्याख्यार्थः—द्रव्यानुयोगजनित ज्ञानके सर्वोत्कृष्ट तत्त्व सिद्ध करनेमे दयालु गुरु ही मुख्य कारण हैं, इस कारणसे श्रीगुरुमहाराजके चरणकमलोंके आधीन अर्थात् उनकी शुश्रूषा विनय आदिमे ही सदा तत्पर होकर (क्योंकि विनय आदिसे प्रसन्न गुरु ज्ञान देते है) फिर इस द्रव्यानुयोगमें प्रतिक्षण लीन होकर जिस चरणकरणानुयोगरूप क्रियाको मै सिद्ध करता हूँ वह क्रियाही मेरेलिये महान् आश्रय है। इतने कथनसे यह सिद्ध हुआ कि उस क्रियासे रहित, केवल गुरुसेवी, तथा ज्ञानप्रिय जन इच्छायोगका अधिकारी होता है। क्योकि–शास्त्रीय अर्थके सिद्ध करनेकी इच्छावाले ज्ञानी ऐसे भी

प्रमादी पुरुषका जो विफल धर्मयोग है वही इच्छायोग कहा गया है ॥१॥ ऐसा वचन ललितविस्तर आदि ग्रन्थमें है ॥८॥

एवं इच्छायोगे स्थितानां परोपकारार्थं द्रव्यानुयोगविचारं कथयामः। पुनरेतावतैव सन्तुष्टिर्न कर्तव्या। विशेषार्थिना गुरुसेवा न मोक्तव्या। एवं हितशिक्षां कथयन्नाह।

इस प्रकार जो इच्छायोगमें स्थित हैं उनके परोपकारार्थ द्रव्यानुयोगका विचार कहते हैं, क्योंकि इच्छायोगमें स्थितिमात्रसे प्राणीको सन्तोष नहीं करना चाहिये, और विशेष अर्थके अभिलाषी जनको गुरुसेवा कदापि नहीं त्यागनी चाहिये। इस प्रकारकी हितकारिणी शिक्षाको कहते हुये ग्रन्थकार कहते हैं:—

तत्त्वार्थसंमतिमुखेषु महाश्रुतेषु
द्रव्यानुयोगमहिमा कथिता विशेषात्।
तल्लेशमात्रमिह पश्यत सत्प्रबंधे
सर्वादरेण किल तिष्ठत तीर्थवाक्ये ॥९॥

इति श्रीद्रव्यानुयोगतर्कणायां प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

भावार्थ—तत्त्वार्थसंमति आदि महा शास्त्रोमे द्रव्यानुयोगकी महिमा विशेष रूपसे वर्णन की गई है, अतः हे बुधजन! इस लघु प्रबन्धमे अर्थात् इस द्रव्यानुयोगतर्कणा नामक ग्रन्थमे उनका यत्किंचित् लेशमात्र तुम लोग देखो, और सर्वथा आदर तथा विश्वासपूर्वक तीर्थ (शास्त्रवक्ता गुरु) के वाक्यमे स्थित रहो ॥९॥

द्रव्यानुयोग तर्कणामे प्रथम अध्याय पूर्ण हुआ।

व्याख्या। तत्त्वार्थसंमतिप्रधानेषु 'महाश्रुतेषु' महाशास्त्रेषु द्रव्यानुयोगमहिमा 'कथित'। विशेषाद्विस्तरेण तेषु ग्रंथेषु प्रकाशितः। तेषां ग्रंथोक्तानां वाक्यानां लेशमात्रमल्पमात्रम्। इहैतस्मिन्वक्ष्यमाणे सत्प्रबंधे द्रव्यानुयोगतर्कणायां 'पश्यत' विलोकयत। 'किल' निश्चयेन तीर्थ-वाक्ये, तीर्थो गुरुस्तस्य वाक्यं द्रव्यादिपदसमूहस्तस्मिन् तीर्थवाक्ये 'सर्वादरेण' सर्वप्रयत्नेन 'तिष्ठत' आदरं कुरुत। परन्तु परमार्थतो गुरुवाक्ये स्थातव्यम्, अल्पमतिं ज्ञात्वा अहंकारो न कर्तव्यः। यथा अधनेन धनं प्राप्तं तृणवन्मन्यते जगत् इति दृष्टांतात्। अत एव उपरितनाश्चत्वारो नया अतिगंभीरार्थाः यस्य कस्यापि स्मृतिविषयं न यान्ति। तेन सिद्धांते प्रथमं न दर्शितास्तथा रहस्यं च गुरुभक्तायैव देयमित्युक्तत्वात् ॥

इति श्रीद्रव्यानुयोगतर्कणायां कृतिभोजविनिर्मितायां प्रथमोऽध्यायः सूचनार्थमुपदर्शितः।

व्याख्यार्थ—हे बुधजन! तत्त्वार्थसंमति आदि प्रधान महाशास्त्रोमे विस्तारसे द्रव्यानुयोगकी महिमा प्रकाशित है, किन्तु उन ग्रन्थोमे कथित वाक्योका अति अल्प लेशमात्र इस वक्ष्यमाण लघु सत्प्रबन्ध अर्थात् द्रव्यानुयोगतर्कणा नामक ग्रन्थमे, आप लोग देखो, और निश्चयसे तीर्थरूप जो गुरु है, उनके वाक्यरूप जो द्रव्य आदि पदोंका समूह

है उसमे सर्व आदर अर्थात् संपूर्ण प्रयत्नसे आदर करो, परन्तु परमार्थसे गुरुके वाक्यमें स्थित रहना चाहिये, तथा अपनी अल्पबुद्धिको जानकर अहंकार नही करना चाहिये। और "निर्धन पुरुष धनको पाकर संसारको तृणके समान समझता है" यह जो दृष्टान्त है वह तुमारे ऊपर न घटे ॥ इसीसे ऊपरके चारो नय अति गंभीर अर्थसहित है। और जिस किसी साधारण मनुष्यके स्मरण-विषयमे नहीं आते इसी कारणसे सिद्धान्तमे वे प्रथम नहीं दिखाये गये, क्योंकि उनका रहस्य परम गुरुभक्त को ही देना उचित है, ऐसा शास्त्रकारोंने कहा है ॥

इति द्रव्यानुयोगतर्कणाया कृतिभोजविनिर्मितायामाचार्योपाधिधारिद्विवेद्युपनामकपण्डित-
ठाकुरप्रसादशास्त्रीप्रणीतभाषाटीकासमलङ्कृताया प्रथमोऽध्याय ॥१॥

अथ द्रव्यस्वरूपमाह।

अब द्रव्यके स्वरूपका निरूपण करते है।

गुणपर्याययोः स्थानमेकरूपं सदापि यत्।
स्वजात्या द्रव्यमाख्यातं मध्ये भेदो न तस्य वै ॥१॥

भावार्थ—जो गुण और पर्य्यायोका स्थान है, जो निजस्वरूपसे सदा एकरूप रहता है, और जिसके निजस्वरूपका मध्यमें कुछ भेद नहीं है, वह द्रव्य कहा गया है ॥१॥

व्याख्या। गुणपर्याययोर्भाजन कालत्रये एकरूप द्रव्यम् स्वजात्या निजत्वेन एकस्वरूप भवति। पर पर्यायवत् न परावृत्ति लभते तद्द्रव्यमुच्यते। यथा ज्ञानादिगुणपर्यायभाजन जीवद्रव्यम्। रूपादिगु-णपर्यायभाजन पुद्गलद्रव्यम्। सर्वरक्तत्वादिघटत्वादिगुणपर्यायभाजन मृद्द्रव्यम्। यथा वा ततव पटापेक्षया द्रव्यम्। पुनस्ततवोऽवयवापेक्षया पर्याया'। कथ ? यत पटविचाले पटावस्थाविचाले च ततूना भेदो नास्ति। तन्त्ववयवावस्थायामन्वयत्वरूपो भेदोस्ति। तस्मात् पुद्गलस्कधमध्ये द्रव्यपर्यायत्वमापेक्षिक बोध्यम्। अथ कश्चिदेव कथयिष्यति। द्रव्यत्व तु स्वाभाविक न जातम्। आपेक्षिक जात। तदा त प्रभाषते। भो तार्किक! शृणु। यत्सकलवस्तूना व्यवहारोऽपेक्षयैव जायते। न तु स्वभावेन। तस्मादत्र न कश्चिद्दोष। ये च समवायिकारणप्रमुखैर्द्रव्यलक्षण मन्वते तेषामपि अपेक्षामनुमर्तव्यैवेति। गुणपर्यायवद्द्रव्यमिति तत्त्वार्थे। विस्तरस्तु द्रव्याणामुद्देशलक्षणपरीक्षामिस्तत्रैवास्ति। अतस्ततोऽवसेय ॥१॥

व्याख्यार्थ—जो गुण और पर्य्यायका आश्रय हो, निजस्वरूपसे कालत्रयमें भी एक-रूप हो, न कि-पर्य्यायके सदृश परिवर्तनको प्राप्त हो उसको द्रव्य कहते हैं। जैसे ज्ञान आदि गुणपर्य्यायका भागी जीवद्रव्य है, और रूप आदि गुणपर्य्यायका भागी पुद्गल द्रव्य है। इसीप्रकार सर्व रक्तत्व आदि गुण तथा घटत्व आदि पर्य्यायका भागी मृत्तिकारूप

द्रव्य है । अथवा जैसे तन्तु (सूत्र) पटरूप कार्य्यकी अपेक्षासे द्रव्य हैं, और वेही तन्तु अपने अवयवोंकी अपेक्षासे पर्य्याय कहे गये है । किस प्रकारसे ? ऐसा पूछो तो कहते हैं—क्योंकि पटके तथा पटकी पर्य्यायोंके संचालनमे तन्तुओमें भेद नहीं है, और तन्तुओके अवयवोंकी अवस्थाओके संचालनमे अन्वयत्वरूप भेद हैं, इसलिये पुद्गलस्कन्धोंके मध्यमें द्रव्य तथा पर्य्याय सापेक्षिक समझना चाहिये । यहॉपर कोई ऐसा कहता है कि इसप्रकार माननेसे द्रव्यस्वरूप स्वाभाविक नहीं रहा किन्तु सापेक्षिक हो गया, तो इस शंकाका समाधान करते हैः—हे तार्किक सुनो, संपूर्ण वस्तुओका व्यवहार इस लोकमे अपेक्षासेही होता है, इसलिये अपेक्षासे किसी वस्तुको द्रव्य अथवा पर्य्याय माननेमे कोई दोष नहीं है । और जो नैयायिक समवायी [1]कारण आदि द्रव्यका लक्षण मानते हैं उनको भी अपेक्षाका अनुसरण अवश्य करना होगा । और 'गुणपर्य्यायवद्द्रव्यम्" गुण तथा पर्य्यायसहित होना, यह द्रव्यका लक्षण महातत्वार्थसूत्रमे कहा है । तथा उद्देश, लक्षण और परीक्षाद्वारा द्रव्योंका विस्तारसे निरूपण भी उस महाशास्त्र तत्वार्थसूत्रमे ही है, इसलिये द्रव्योका विशेष विस्तार उसी शास्त्रसे जानना चाहिये ॥१२॥

अथ द्रव्य सक्षेपत उक्तम् । अस्यैव गुणपर्याययोर्भेदादिकाक्षया तदेव दर्शयन्नाह ।

अव द्रव्यका तो सक्षेपसे निरूपण करचुके, आगे इसहीके गुणपर्य्यायोंका भेदादिवर्णन करना है, अत वही दर्शाते हुये अग्रिमसूत्र कहते है ।

सहभावी गुणो धर्मः पर्यायः क्रमभाव्यथ ।
भिन्ना अभिन्नास्त्रिविधास्त्रिलक्षणयुता इमे ॥२॥

भावार्थः—द्रव्यके साथ सदा रहनेवाला जो धर्म है उसको गुण कहते है, और द्रव्यमे जो क्रमसे होनेवाला है उसको पर्य्याय कहते है । द्रव्य, गुण तथा पर्य्याय परस्पर [2]भिन्न भी हैं, [3]अभिन्न भी है, तीन प्रकार के है और त्रिलक्षण सहित है ।

व्याख्या । द्रव्यस्य सहभावी यावद्द्रव्यभावी यो धर्म स गुण उच्यते । यथा जीवद्रव्यस्योपयोगाख्यो गुण । पुद्गलस्य ग्रहण गुण । धर्मास्तिकायस्य गतिहेतुत्व गुण । अधर्मास्तिकायस्य स्थितिहेतुत्व गुण । कालस्य वर्तनाहेतुत्व गुण । यदैव द्रव्य उत्पद्यते तदैव ते द्रव्येण गुणा उत्पद्यन्ते । पौर्वापर्यभाव एव नास्ति । गुणगुणिनो समानसामग्रीकत्वात् सव्येतरविषाणवदिति । अनादिनिधनाना द्रव्यगुणानामुत्पत्तिदर्शन व्यवहारंत कृष्णादिघटवद् । अथ क्रमभावी अयावद्द्रव्यभावी पर्याय । यथा जीवस्य नरकादिपर्यायां ।

---

(१) न्यायमें द्रव्यको समवायी कारण माना है जैसे घटआदि कार्य्यमे मृत्तिका समवायी कारण है ।

(२) जीव और उसके ज्ञान आदि उपयोग व्यवहारदृष्टिसे भिन्न हैं ।

(३) परन्तु एकही देशमे जीव तथा ज्ञानादिकी उपलब्धि होनेसे जीवपर्य्याय अभिन्नभी है । चतुर्विध दर्शन तथा अष्टविध ज्ञानको उपयोग कहते हैं ।

पुद्गलस्य रूपरसस्पर्शादिपर्याया' । धर्मस्य व्यजनार्थपर्यायौ । अधर्मस्य व्यजनार्थपर्यायौ । कालस्य व्यजनार्थपर्यायौ । आकाशस्य व्यजनार्थपर्यायौ । एव द्रव्याणा सख्याकृतो भेद । लक्षणादिकृतो भेद । प्रदेशादिविभागतस्त्रिविधा । उपचारेण नवविधा । एकैकस्य त्रैविध्यात् । तथापि लक्षणादुत्पादव्ययध्रौव्य-युक्ता । इत्थ षडपि जैनप्रमाणप्राप्तानि द्रव्याणि इमे । इति द्रव्यगुणपर्याया प्रत्येक परस्पर भिन्ना अभिन्नास्त्रिविधास्त्रिलक्षणयुता सतीति व्याख्येयम् ॥२॥

व्याख्यार्थ—द्रव्यके सहभावी अर्थात् द्रव्यके साथही साथ होनेवाला, तथा याव-द्द्रव्यभावी अर्थात् उस द्रव्यमात्रमें रहनेवाला जो धर्म है उसीको गुण कहते है । जैसे जीव द्रव्यका [1]उपयोग नाम गुण है, पुद्गल द्रव्यका ग्रहण गुण है, धर्मास्तिकाय (धर्मद्रव्य) का [2]गतिहेतुता गुण है, अधर्मास्तिकाय (अधर्मद्रव्य) का स्थितिकी कारणतारूप गुण है, और ऐसे ही कालद्रव्यका [3]वर्तनाहेतु लक्षण गुण है । जिस समय जो द्रव्य उत्पन्न होता है उसी समानकालमे उस द्रव्यके गुणभी उत्पन्न होते है, इस हेतुसे द्रव्य तथा उसके गुणोका पौर्वापर्य्यभाव, अर्थात पूर्व कालमे द्रव्य है पश्चात् उस द्रव्यके गुण है यह वार्ता नहीं है । दक्षिण तथा वाम भागके पशुके शृंगोके सदृश द्रव्य तथा गुण ये दोनो समान सामग्रीसे जन्य होनेसे एकही कालमें है । अनादि अनन्त द्रव्य गुणोकी उत्पत्ति संसारके व्यवहारसे एकही कालमे देखी गई है, जैसे कृष्णघट । अब क्रमभावी, अथवा अया-वद्द्रव्यभावी अर्थात् उस संपूर्ण द्रव्यमात्रमें जो न रहे किन्तु किसी दशामे रहे उसको पर्य्याय कहते हैं । जैसे जीव द्रव्यके नरकआदि पर्य्याय, पुद्गलद्रव्यके रूप रस स्पर्शादि पर्य्याय, धर्म-द्रव्यके व्यंजन तथा अर्थपर्य्याय, अधर्मद्रव्यके भी व्यंजन तथा अर्थपर्य्याय, कालद्रव्यके व्यंजन तथा अर्थपर्य्याय, और आकाशद्रव्यके भी व्यंजन तथा अर्थपर्य्याय है । इसी प्रकार द्रव्योंके संख्याकृत भेद, लक्षणादिकृत भेद, प्रदेश विभागकृत भेद हैं, इसरीतिसे तीन प्रकारके हैं, और उपचारसे नवविध हैं, क्योकि एक एक के तीन तीन भेद हैं, तथापि लक्षणसे संपूर्ण द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त हैं । इस प्रकार जीव १, पुद्गल २, धर्म ३, अधर्म ४, आकाश ५ तथा काल ६, ये छहों द्रव्य जैनप्रमाणसे प्राप्त (सिद्ध) हैं, और ये द्रव्य, गुण, पर्य्याय परस्पर भिन्न भी हैं और अभिन्न भी, तथा त्रिविध है और त्रिलक्षण, अर्थात उत्पत्ति, व्यय और ध्रौव्ययुक्त है । ऐसा सूत्रका व्याख्यान करना चाहिये ॥२॥

अथ द्रव्येण सह गुणपर्याययोर्भेद दर्शयन्नाह ।

अब इसके अनन्तर द्रव्यके साथ गुण और पर्य्यायका भेद दर्शातेहुये अग्रिम सूत्र कहते हैं ।

---

(१) परन्तु एकही देशमे जीव तथा ज्ञानादिकी उपलब्धि होनेसे जीवपर्य्याय अभिन्न भी है । चतुर्विध दर्शन तथा अष्टविध ज्ञानको उपयोग कहते हैं ।

(२) प्रत्येक पदार्थकी गतिमे सहकारिकारणता धर्म द्रव्यको है ।

(३) अमुक पदार्थ इतने समयसे है, इस प्रकार सब पदार्थोंके वर्तानेके लक्षणरूप काल है ।

मुक्ताभ्यः श्वेततादिभ्यो मुक्तादाम यथा पृथक् ।
गुणपर्यायोर्व्यक्तेर्द्रव्यशक्तिस्तथाश्रिता ॥३॥

भावार्थ—जैसे मोतियोसे तथा श्वेतता आदि गुणोंसे मोतीकी माला भिन्न है, ऐसेही गुणपर्य्यायकी व्यक्तिसे द्रव्यशक्ति पृथक् होकर भी एक प्रदेशमे आश्रित होनेसे अभिन्नरूप है ॥३॥

व्याख्या । यथा मुक्ताभ्यो, मौक्तिकाना श्वेनतादिभ्यश्च मौक्तिकमाला भिन्ना वर्तते, तथैव द्रव्य-शक्तिर्गुणपर्यायव्यक्तिभ्याम् । तथात्र समाधि । गुणपर्याययोर्व्यक्ते सकाशात् पृथगपि द्रव्यशक्तिरेकप्रदेश सबधेनाश्रिता अभिन्ना अपृथगित्यर्थ । श्वेततादयो मौक्तिकाना गुणस्थानिन, मौक्तिका पर्यायस्थानिन । एतद्द्वय भिन्नमपि द्रव्यस्थाने मुक्तादाम्नि गतमभिन्न सन् मुक्तादामेति व्यवहारो जायते । इति दृष्टातयोजना । अथ च घटादिद्रव्य प्रत्यक्षप्रमाणेन सामान्यविशेषरूपमनुभवत् सामान्योपयोगेन मृत्तिकादिसामान्य भासते विशेषोपयोगेन घटादिविशेष च भासते । तत्र यत्सामान्यमान तद्द्रव्यरूपम् । यश्च विशेष स गुणपर्याय-रूपो ज्ञेय । ३ ।

व्याख्यार्थ—मौक्तिक (मोतीकी) माला, मोतीसे तथा मोतीमे रहनेवाले श्वेतता आदि गुणोंसे जैसे भिन्न भासती है, ऐसे ही गुणव्यक्ति तथा पर्य्यायव्यक्तिसे द्रव्यशक्ति भिन्न भासनेपर भी एकप्रदेशसंबन्धमे आश्रित होनेसे अभिन्न है, यह अभिप्राय सूत्रका है । श्वेत आदि गुण जो हैं वे मोतियोके गुणस्थानी है, और मोती पर्य्यायस्थानी हैं । ये दोनों (गुणपर्य्याय) भिन्न होकर भी, मोतीकी मालारूप द्रव्यस्थानमे मिले हुए अभिन्न हैं, इस ही से मोतीकी माला यह व्यवहार होता है, ऐसे सूत्रके दृष्टान्तकी योजना है । और जो घट आदिरूप द्रव्य प्रत्यक्ष प्रमाणसे सामान्य और विशेषरूपको अनुभव करता हुआ सामान्य उपयोगरूपसे मृत्तिका आदि सामान्यरूप भासता है, और विशेष उपयोगसे घट आदि विशेषरूप भासता है, इसमे जो सामान्यका भान है वह तो द्रव्यरूप और जो विशेषका भान है उसको गुणपर्य्यायरूप जानना चाहिये ॥ ३ ॥

अथ सामान्य द्विप्रकार दर्शयन्नाह ।

अब दो प्रकारके सामान्यको दिखाते हुए सूत्र कहते है ।

ऊर्ध्वतादिमसामान्यं पूर्वापरगुणोदयम् ।
पिंडस्थादिकसंस्थानानुगता मृद्यथा स्थिता ॥४॥

भावार्थ—पूर्वोक्त गुणपर्यायोके उदयका कारण, तथा पूर्वोत्तर पर्य्यायोंकी त्रिकाल-दशामे पिंड कुसूल आदि अनेक आकारोंमे जो एक अनुगतरूपसे स्थित है उसको प्रथम ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या । पूर्व प्रथमोऽपरोऽग्रेतनो यो गुणो विशेषस्तयोरुदय कारण पूर्वापरगुणोदय पूर्वापरपर्याय-योरनुगतमेक द्रव्य त्रिकालानुयायी यो वस्त्वशस्तदूर्ध्वतासामान्यमित्यभिधीयते । निदर्शनमुत्तानमेव । यथा—पिंडो, मृत्पिंड अस्थि कुसूल इत्यादयोऽनेके सस्थाना आकृतयस्तासु अनुगता पूर्वापरसाधारणपरिणामद्रव्यरूपा

मृत्तिका तथाकारा स्थिता । एतदूर्ध्वतासामान्य कथ्यते । यदि च पिंडकुसूलादिपर्यायेषु अनुगतमेक मृद्द्रव्य न कथ्यते तदा घटादिपर्यायेषु अनुगत घटादिद्रव्यमपि न कथ्यते । तथा च सर्वं विशेषरूप भवति । क्षणिकवादिबौद्धमतमायाति । अथवा सर्वद्रव्येषु एकमेव द्रव्यमागच्छतीति । तत घटादिद्रव्ये अथ च तदतर्वर्तिसामान्यमृदादिद्रव्ये चानुभवानुसारेण परापरोर्ध्वतासामान्यमवश्यमगीकर्तव्यम् । घटादिद्रव्याणि स्तोकपर्यायव्यापीनि पुनर्मृदादिद्रव्याणि बहुपर्यायव्यापीनि सति । इत्थ नरनारकादिद्रव्याणा विशेषो ज्ञातव्य. । एतत्सर्वमपि नैगमनयमतम् । तथा शुद्धसग्रहनयमते तु सदद्वैतवादेन एकमेव द्रव्यमापद्यत इति ज्ञेयम् ॥४॥

व्याख्यार्थ—पहिले और अगले विशेषोके उदयका जो कारण सो पूर्वापर गुणोदय अर्थात् पूर्व और उत्तर पर्यायोमें त्रिकाल अनुयायी पदार्थका अंश है उसको ऊर्ध्वता नामक प्रथम सामान्य कहते है । दृष्टान्त यह है कि जैसे-मृत्तिकाका पिंड, कुसूल इत्यादि आकृतियों मे अनुगत अर्थात् पूर्वोत्तर साधारण परिणामरूप द्रव्यरूप जो मृत्तिका है वह उसही आकारमे स्थित है । इसहीको ऊर्ध्वता सामान्य कहते है । और यदि पिंड कुसूल आदि यावत् पर्य्यायोंमे अनुगत एक मृत्तिकारूप द्रव्य न कहै तो घट आदि पर्य्यायोंमे अनुगत घट आदि द्रव्य भी नहीं कह सकते, और इस प्रकारसे सब विशेषरूप होनेसे क्षणिकवादी बौद्धका मत आकर प्राप्त होता है । अथवा संपूर्ण द्रव्योंमें एकही द्रव्य आता है, इस लिये घट आदि द्रव्यमें और उसके अन्तर्गत सामान्य मृत्तिका आदि द्रव्यमे भी अनुभवके अनुसार पूर्वापरदशासाधारण ऊर्ध्वता सामान्य अवश्य अङ्गीकर्तव्य है । इनमे घटआदि द्रव्य तो अल्पपर्य्याय व्यापी है और मृत्तिका आदि द्रव्य बहुत पर्य्याय व्यापी हैं । इसी प्रकार नर तथा नारक आदि द्रव्योका भी विशेष समझना चाहिये । यह सब द्रव्य गुण तथा पर्य्यायका भेद और अभेद तथा ऊर्ध्वता सामान्यकी व्यवस्थादि नैगमनयमतके अनुसार वर्णन किया गया है, और शुद्धसंग्रहनयमतके अनुसार तो सद् अद्वैतवादसे एक ही द्रव्य प्राप्त होता है, ऐसा जानना चाहिये ॥४॥

पूर्वापरसाधारण परिणामद्रव्यमूर्ध्वता कटककंकणाद्यनुगामिना न वदतीति तत्स्वरूपमुक्त्वाथ तिर्यक्सामान्यलक्षणमाह ।

पूर्वापरपर्य्यायोंमे साधारण परिणामरूप द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य है, वह कुंडल, कटक (कड़े) कंकण आदि पर्य्यायोंमे अनुगामीपनेको नहीं कहता है, अतः ऊर्ध्वतासामान्यका स्वरूप कहकर अब तिर्य्यक्सामान्यका लक्षण कहते है ॥

तुल्या परिणतिर्भिन्नव्यक्तिषु यत्तदुच्यते ।
तिर्यक्सामान्यमित्येव घटत्वं तु घटेष्विव ॥५॥

भावार्थ—भिन्न भिन्न प्रदेशों मे स्थित जो अनेक व्यक्ति हैं उन सबमे सदृश परिणामरूप जो द्रव्यशक्ति है उसको तिर्य्यक् सामान्य कहते है, जैसे कि घटोंमे घटत्व ॥५॥

व्याख्या । यत् भिन्नव्यक्तिषु भिन्नप्रदेशविशेषेषु तुल्या समाना एकरूपा । एकाकारा द्रव्यशक्तिस्तत्तिर्यक्सामान्यमुच्यते तु । यथा । घटेषु घटत्व, गोषु शावलेयादिषु गोत्वम, अश्वेषु अश्वत्व, तिष्ठति सामान्यभूतम् । तथा । अनेकाकारघटसहस्रेष्वपि घटत्वमेवेति तिर्यक्सामान्यमिति । अत्र कश्चिदाह । यद्घटादिभिन्नव्यक्तिषु यथा घटत्वादिक सामान्यमेकमेवास्ति तथा पिंडकुसूलादिभिन्नव्यक्तिषु मृदादिसामान्यमेकमेवास्ति । तर्हि तिर्यक्सामान्योर्ध्वतासामान्ययो को विशेषस्तत्राह । यत्र देशभेदेन या एकाकारा प्रतीतिरुत्पद्यते तत्र तिर्यक्सामान्यमभिधीयते । यत्र पुन कालभेदेन अनुगताकारप्रतीतिरुत्पद्यते तत्र ऊर्ध्वतासामान्यमभिधीयते इति । एव सति दिगबरानुसारी कश्चिद्वक्ति । षण्णा द्रव्याणा कालपर्यायरूप ऊर्ध्वताप्रचय । काल विना पचद्रव्याणामवयवसघातरूपतिर्यक्प्रचयश्चास्ति । एव वदता तेषा मते तिर्यक्प्रचयस्याधारो घटादिस्तिर्यक्सामान्य भवति । तथा परमाणुरूप प्रचयपर्यायाणामाधारो भिन्न एव युज्यते । तस्मात् पचद्रव्याणाम् । स्कध १ देश २ प्रदेश–भावेन एकानेकव्यवहार उत्पादनीय । परन्तु तिर्यक्प्रचय इति नामातरमप्रयोजक वालुकापेषवत् । इति नियम १४ । ५ ।

व्याख्यार्थ—जो भिन्न भिन्न प्रदेशोवाले विशेषोंमे समान अर्थात् एक आकारवाली द्रव्यशक्ति हे उसको तिर्य्यक् सामान्य कहते है । जैसे सपूर्ण घट व्यक्तियोमे घटत्व, शावलेय आदि समस्त गो व्यक्तियोमे गोत्व, एवमेव अश्व (घोडे) मे अश्वपना सामान्यभूत रहता है वैसेही अनेक आकारवाले हजारो घटोमे भी घटत्वही रहता है ऐसा तिर्यक् सामान्य है ॥ अब यहाँपर कोई शंका करता है कि जैसे घट आदि भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमे घटत्व आदि सामान्य एक ही है ऐसे ही पिड, कुसूल आदि भिन्न व्यक्तियोंमे मृत्तिका आदि सामान्य भी एक ही रूप है । तो तिर्य्यक् सामान्य तथा ऊर्ध्वता सामान्य इन दोनोमें क्या विशेष है ? इस शंकाका उत्तर देते है—जहाँपर एक जातिके पदार्थोमे केवल देशभेदसे जो सब उस प्रकारकी व्यक्तियोंमे एकाकार प्रतीति होती है वहाँपर उस (एकाकार प्रतीति वा भान) को तिर्य्यक् सामान्य कहते है, और जहाँ पुनः कालभेदसे सब पर्य्यायोंमे अनुगत एकाकार प्रतीति होती है उसको ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं, ये ही दोनोमे भेद है । इस प्रकार मानने पर कोई दिगम्बर जैनमतानुयायी कहते है कि [1]जीव, [2]पुद्गल, [3]धर्म; [4]अधर्म, आकाश[5] तथा [6]काल इन छहो द्रव्योका काल पर्य्यायरूपमे तो ऊर्ध्वता प्रचय है; और कालको छोडकर शेष पंच द्रव्योंका अवयव संघातरूप तिर्य्यक् प्रचय है । इस प्रकार कहनेवाले दिगम्बरियोंके मतमे तिर्य्यक् प्रचयका आधार घटआदि तिर्य्यक् सामान्य होता है; और उसी रीति परमाणुरूप प्रचय पर्य्याओंका आधार उनसे कोई भिन्न होना योग्य हे ॥ इस हेतुसे पञ्चद्रव्योंका स्कध १ देश २ तथा प्रदेश भावसे एक तथा अनेक व्यवहार प्रतिपादन करना चाहिये, परन्तु तिर्य्यक् प्रचय ऐसा अन्य नाम तो व्यर्थही है, जैसे वालू (रेती) का चूर्ण । वस यही नियम है ॥५॥

अथोर्ध्वतासामान्यशक्तेर्भेदद्वयं दर्शयन्नाह ।

इसके पश्चात् ऊर्ध्वता सामान्य शक्तिके दो भेद दर्शाते है,

गुणपर्याययोः शक्तिमात्रमोघोद्भवादिमा ।
आसन्नकार्ययोग्यत्वाच्छक्तिः समुचिता परा ॥६॥

भावार्थः—द्रव्योंके गुण तथा पर्य्यायमे शक्तिमात्र है, उसके दो भेद है। उनमेसे जो प्रथम शक्ति है उसको ओघोद्भवा कहते है, और समीपवर्ती कार्य्यके योग्य होनेसे तथा व्यवहारके उपयुक्त होनेसे द्वितीय शक्तिको समुचिता शक्ति कहते है ॥ ६॥

व्याख्या। सर्वेषा द्रव्याणा निजनिजगुणपर्याययो शक्तिमात्रम् । ओघोद्भवा ओघशक्ति आदिमा प्रथमभेदरूपा कथ्यते । पुन आसन्न निकट शीघ्रभावि वा यत्कार्यं तस्य योग्यत्वात् व्यवहारयोग्यत्वात् समुचिता शक्तिरपरा द्वितीया समुचितशक्तिरुच्यत इति । ६ ।

व्याख्यार्थः—सम्पूर्ण द्रव्योंके गुण तथा पर्यायमे जो शक्तिमात्र है उसके दो भेद है, प्रथम अथवा आदि शक्ति जो ओघसे अर्थात् समूहसे उत्पन्न होती है उसको ओघशक्ति कहते है, और पुनः समीपवर्ती शीघ्रभावी जो कार्य है उसके योग्य होनेसे तथा व्यवहारके उपयोगी होनेसे द्वितीय शक्तिको समुचित शक्ति कहते है ॥ ६ ॥

अथैतद्भेदद्वयं दृष्टान्तेन द्रढयन्नाह ।

अब इन दोनों भेदोंको दृष्टान्तसे दृढ करते हुए अग्रिम सूत्र कहते है।

ज्ञायमाना तृणत्वेनाज्यशक्तिरनुमानतः ।
किं च दुग्धादिभावेन प्रोक्ता लोकसुखप्रदा ॥ ७ ॥

भावार्थः—यद्यपि घृतकी शक्ति तृणपनेकर अनुमानसे जानी जाती है, तथापि दुग्धभावसे कही हुई लोकमे सुख देनेवाली होती है ॥ ७ ॥

व्याख्या—यथा आज्यशक्तिर्घृतशक्ति तृणत्वेन तृणभावेन अनुमानप्रमाणतो ज्ञायमानापि लोकानामग्रत कथयितु न शक्यते । यदि तृणपुद्गलेषु घृतशक्तिर्नास्ति तदा तृणाहारेण धेनुर्दुग्धं कथं दत्ते । तद्दुग्धान्तर्भूता घृतशक्तिः कुत आगता । इत्थमनुमीयमाना तृणभावेन घृतशक्तिर्ज्ञातापि लोकानां पुरत प्रकाशयितुमशक्या । तस्मात् तृणभावेन या शक्ति सा ओघशक्तिरित्येकदृष्टान्त. । किं चानुमीयमानौघशक्तिराद्या पुनर्व्यवहारादेश लभते । तथाहि । तृणजन्यदुग्धादिभावेन दुग्धदध्यादिभावेन परिणता घृतशक्तिः प्रकाश्यमाना लोकसुखप्रदा लोकचित्तगम्या भवेत् । तत सा शक्तिर्द्वितीया समुचितशक्ति कथ्यते । अत्राय विवेक । अनन्तरकारणमध्ये समुचितशक्ति, परम्परकारणमध्ये ओघशक्तिरिति । ओघशक्तौ तु तृणानि धेनुरश्नाति, पुष्टा सती दुग्धं दत्ते, दुग्धेन[१] दधि जायते, दध्न कारणकलापेन घृतमेवमोघेन घृतशक्तिः स्फुटीभवति । तथान्यत्र दुग्धदध्यादेर्घृतमेवेति व्यवहारयोग्यत्वं लोकप्रसिद्धमेवेति । अयं च ओघशक्तिसमुचितशक्त्योरन्यकारणता, प्रयोजनतेतिनामान्तरद्वयमपि ग्रन्थान्तरात्कथितमिति ज्ञेयम् । ७ ।

---

१ ख पुस्तके नास्ति

व्याख्यार्थः—जैसे घृतशक्ति तृणस्वरूपसे अनुमानप्रमाण द्वारा जानी जाती है तो भी मनुष्योंके आगे कही नहीं जा सकती। यदि तृणरूप पुद्गलोंमे घृतशक्ति नहीं होती तो तृणका भोजन करनेसे गौ दुग्ध कैसे देती ? और उस दुग्धके भीतर भी जो घृतशक्ति है वह कहांसे आती ? इसप्रकार अनुमान की हुई घृतशक्ति तृणभावसे जान ली गई है तो भी मनुष्योंके आगे वह प्रकट नहीं की जा सकती। इसी हेतु तृणभावसे ज्ञात जो घृतशक्ति है वह पहली ओघशक्ति है। यह एक दृष्टान्त हुआ। किञ्च, अनुमान प्रमाण सिद्ध जो वह आदिम ओघशक्ति है सो फिर व्यवहारके आदेश को प्राप्त होती है। सो ही कहते हैं कि तृणके भोजनसे उत्पन्न हुए दुग्ध आदि भावसे परिणामको प्राप्त हुई घृतशक्ति जो लोकमे प्रकाशित की जाती है वह लोगोको सुख देनेवाली अर्थात् रमणीय होती है। तात्पर्य यह कि यदि लोकमे कहो कि घृत तृणसे उत्पन्न होता है तो लोगोको अच्छा नहीं लगेगा और दुग्धसे घृत उत्पन्न होता है ऐसा कहना सबको अच्छा लगेगा, क्योंकि घृत साक्षात् दुग्ध व दधि (दही) से उत्पन्न होता है इसकारण वह दूसरी शक्ति समुचिता शक्ति कहलाती है। यहांपर ऐसा विवेक करना चाहिये कि व्यवधानरहित कारणके मध्यमे जो शक्ति है वह समुचित शक्ति है अर्थात् दुग्ध तथा दधिरूप कारण और घृतकार्यके मध्यमे कोई व्यवधान नहीं है, इसलिये घृतकार्यके अव्यवहित पूर्व दुग्ध वा दधिरूप कारणमे जो शक्ति है वह समुचित शक्ति है। परंपरा कारणके मध्यमे जो शक्ति है वह ओघशक्ति है। इस ओघशक्तिमे परंपरा इसप्रकार है कि गौ पहले तृणोको खाती है, फिर उससे रस आदिका जो परिणमन होता है उससे जब पुष्ट होती है तब दुग्ध देती है, पुनः दुग्धसे दधि होता है, इसरीतिसे तृणसे दधिपर्य्यन्त जो कारणोका समूह है उससे घृत होता है, ऐसे ओघसे घृतशक्ति प्रकट होती है। और अन्यत्र दूध दही आदि घृतरूप है यह व्यवहार लोकमे प्रसिद्ध ही है। तथा ओघशक्ति और समुचित शक्तिके अन्य ग्रंथोमे कहे हुये समुचित कारणता तथा प्रयोजनता ये दो दूसरे नाम भी जानने चाहिये।

अथ आत्मद्रव्यमध्ये एतच्छक्तिद्वयं विवक्ति।

अजीव द्रव्यमे दोनो शक्तियोका निरूपण करके अब आत्मद्रव्यमे ओघशक्ति तथा समुचितशक्तिकी विवेचना करते हैं—

प्राक् पुद्गलपरावर्ते धर्मशक्तिर्यथौघजा।
अन्त्यावर्ते तथा ख्याता शक्तिः समुचिताङ्गिनाम् ॥८॥

भावार्थः—जैसे भव्य जीवोंके प्रथम पुद्गलोंके परावर्त्तनोंमे ओघ (समूह)से उत्पन्न हुई धर्मशक्ति थी वैसे ही अन्तके पुद्गल परावर्त्तनमे समुचिता नामसे प्रसिद्ध धर्मशक्ति है ॥ ८ ॥

व्याख्या । यथा अङ्गिना प्राणिना भव्याना प्राक् पुद्गलपरावर्ते प्रथमपुद्गलपरावर्ते जात्येकवचनम् । अर्थात् अनन्तेषु पुद्गलपरावर्तेषु प्रथम व्यतीतेषु सत्सु ओघजा सामान्यरूपा धर्मशक्तिस्तदनुगता आसीत् । यद्येव न भवेत्तर्हि अन्त्यपुद्गलपरावर्ते सा कुत प्राप्स्यते । यत 'नासतो विद्यते भाव' इत्यादिवचनात् । तथा पुनरन्त्यावर्ते चरमपुद्गलपरावर्ते धर्मशक्ति समुचिता स्याता । अत एवाचरमपुद्गलपरावर्तकालो भवबाल्यकाल पुनरन्त्यपुद्गलपरावर्तकालो धर्मयौवनकालश्च कथ्यते । उक्त च ।

अचरमपरिवट्टेसु कालो भवबालकालगो भणिओ ।

चरमोउ धम्मजुव्वणकालो तह वत्रभेउत्ति ।१। एतद्विंशतया पठितमिति ॥८॥

व्याख्यार्थः—जैसे भव्य जीवोंके प्रथम पुद्गलोंके परावर्त्तनोंमे, "प्राक्पुद्गल परावर्त्ते" यहां जातिकी अपेक्षा से एक वचनका प्रयोग किया गया है—भावार्थ—अनन्त परावर्त्तमान अर्थात् एकके पीछे निरन्तर गमनागमनशील जो पुद्गल प्रथम व्यतीत होते चले आये हैं उनमे ओघसे उत्पन्न तथा उनके सब पर्यायोमे अनुगत सामान्य रूपको धारण करनेवाली धर्मशक्ति विद्यमान थी। क्योकि यदि ऐसा न माना जाय तो अन्तिम पुद्गल परावर्त्तनमे उन पुद्गलोको पर्यायोमे चलानेवाली धर्मशक्ति कहांसे प्राप्त हो सकती है? क्योंकि असत पदार्थका भाव अर्थात् विद्यमानपना नहीं हो सकता इत्यादि वचन है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रथम पुद्गलोके परावर्त्तनोमे सामान्यरूप ओघसे उत्पन्न धर्मशक्ति अवश्य थी। तथा अन्तिम पुद्गलोके परावर्त्तनोंमे जो विद्यमान धर्मशक्ति है उसका समुचिता नाम है। इसी कारणसे प्रथम पुद्गलोंका जो परावर्त्तन काल वह भवका बाल्य काल है, और जो अन्तके पुद्गलोका परावर्त्तन काल है वह धर्मका यौवनकाल कहा जाता है। इस विषयमे यह वचन भी कहा गया है कि—प्रथम पुद्गलोंके परावर्त्तनोका काल भवका बाल्यकाल कहलाता है, तथा अन्तके पुद्गलोंका परावर्त्तन काल धर्मयौवनकाल कहलाता है ।१। यह गाथा विंशति नामक ग्रंथमे पठित है ॥८॥

अथ द्रव्यशक्ति व्यवहारनिश्चयनयाभ्या दर्शयन्नाह ।

अब द्रव्यकी शक्तिको व्यवहार तथा निश्चयनयसे दर्शाते हुए अग्रिम सूत्र कहते हैं ।

कार्यभेदाच्छक्तिभेदो व्यवहारेण दृश्यते ।
युक्निश्चयनयादेकमनेकैः कार्यकारणैः ॥९॥

भावार्थ—व्यवहारनयकी अपेक्षासे कार्योंके भेदसे शक्तिभेद भी दीख पड़ता है. तथा निश्चयनयकी अपेक्षासे तो अनेक कार्य्य तथा कारणोंसे युक्त होने पर भी निजशक्ति स्वभाव एकही द्रव्य है ॥९॥

व्याख्या । एव पूर्वोक्तप्रकारेण एकैकस्य कार्यस्य ओघशक्तिसमुचितशक्तिरूपा शक्तयोऽनेकदा एकद्रव्यस्य प्राप्यन्ते । ताः पुनर्व्यवहारनयेन व्यवहृता सत्य. कार्यकारणभेद सूचयन्ति ।

कथ—व्यवहारनयो हि कार्यकारणभेदमेव मनुते । निश्चयनयो हि अनेककार्यकारणैर्युगपि द्रव्यमेकमेव स्वशक्तिस्वभावमस्तीत्यवधारयति । कदापि इत्थं नावधायत । तदा स्वभावभेदाद्द्रव्यभेदोऽपि सपद्येत । तस्मात्तत्तद्देशकालादिकापेक्षया एकस्यानेककार्यकारणस्वभावमङ्गीकुर्वता न कोपि दोपपोप । कारणान्तरापेक्षापि स्वभावान्तर्भूता एवास्ति । तेन तस्यापि वैफल्य न जायते । तथा शुद्धनिश्चयमताङ्गीकारे तु कायकारणकल्पनैव मिथ्या । यत—आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथेति वचनात् । कार्यकारणकल्पनाविरहित शुद्धमविकलमचलितस्वरूप द्रव्यमस्तीति ज्ञेयम् ॥९॥

व्याख्यार्थ—पूर्व प्रसग मे कही हुई रीतिसे एक एक कार्यकी ओघशक्ति तथा समुचित शक्तिरूप जो शक्तियें है वे एक द्रव्यके अनेक प्राप्त होती हैं, और व्यवहारनयसे व्यवहृत (व्यवहार वा उपयोगमे प्राप्त) होनेसे वे ही शक्तियें कार्य तथा कारणका भेद सूचित करती हैं, क्योंकि व्यवहार नय कार्य्यकारणका भेद ही मानता है, और निश्चय (शुद्ध) नय तो अनेक कार्य्य तथा कारणों से युक्त होनेपर भी द्रव्य एक निजशक्ति स्वभाववाला है ऐसा निश्चय कराता है, और ऐसा निश्चय कभी भी नहीं कराता कि कार्य्यकारणोंके भेदसे अनेक स्वभावयुक्त द्रव्य होता है। क्योंकि जब ऐसा माना जायगा तव स्वभाव-भेदसे द्रव्य—भेद भी प्राप्त हो जायगा। इसलिये उस उस देश उस उस काल आदिकी अपेक्षासे एक द्रव्यका अनेक कार्य कारण स्वभाव अंगीकार करनेवालोको कोई भी दोषका लेश नहीं है, और कारणान्तरकी अपेक्षा जो है वह भी द्रव्यके स्वभावके अन्तर्गत ही है, इसलिये उसको भी निष्फलता नहीं होती और शुद्ध निश्चय नयके मतको स्वीकार करने पर तो कार्य्यकारणकी कल्पना ही मिथ्या है। क्योंकि "जो धर्म अथवा स्वभाव अर्थात् द्रव्यका अनेक स्वरूप आदि अन्तमे नहीं है वह वर्त्तमानमे भी वैसा ही है अर्थात् नहीं है ऐसा वचन है, इससे कार्य्यकारणकी कल्पनासे शून्य, अखंडित, तथा अविचलित स्वरूप एक ही द्रव्य है ऐसा जानना चाहिये ॥९॥

पूर्वत्र शक्तिस्वरूप द्रव्य व्याख्यातम् । अथ च व्यक्तिरूपौ गुणपर्यायौ वर्णयन्नाह ।

पूर्व प्रकरणमे शक्तिस्वरूप द्रव्यका वर्णन किया गया, अव व्यक्तिरूप गुण तथा पर्यायका वर्णन करते हुए अग्रिम सूत्र कहते हैं।

स्वस्वजात्यादिभूयस्यो गुणपर्यायव्यक्तयः ।
शक्तिरूपो गुणः केषांचिन्मते तन्मृषागमे ॥१०॥

भावार्थ—सहभावी अथवा क्रमभावी कल्पनासे किये हुए निजस्वभावसे वर्त्तमान गुण तथा पर्यायोंके व्यक्ति अनेक प्रकारके हैं, और किन्हींके अर्थात् दिगम्बरमतानुसारियोंके मतसे गुण जो है वह शक्तिरूप ही है, परन्तु यह शास्त्रीय सिद्धान्तोंसे मिथ्या है ॥१०॥

व्याख्या । स्वस्वजात्या सहभाविक्रमभाविविकल्पनाकृतनिजस्वभावेन वर्तमाना गुणपर्याय-

व्यक्तयो भूयस्यो बहुप्रकारा सन्तीति । अत्र कश्चिद्दिगम्बरानुसारी शक्तिरूपो गुण इति कथयन्नाह । यतो द्रव्यपर्यायकारण द्रव्यम् । गुणपर्यायकारण गुण । द्रव्यपर्याययोर्द्रव्यस्यान्यथाभाव । यथा नरनारकादयो यथा वा द्व्यणुकत्र्यणुकादय । पुनर्गुणपर्याययोर्गुणस्यान्यथाभाव । यथा मतिश्रुतादिविशेष । अथवा भवस्थसिद्धादिविशेष । एतौ द्रव्यगुणौ स्वस्वजात्या शाश्वतौ पर्यायेणचाशाश्वतौ इत्थ सगिरन्ते । परमार्थतस्तु आगमयुक्त्या एतत्सर्वं मृषा असत्कल्पनमित्यवधार्यं प्रमाणाभावात् । १० ।

व्याख्यार्थः—द्रव्योके अपने २ स्वभावसे सहभावी अर्थात् द्रव्यके साथ ही होनेवाले गुणोके व्यक्ति तथा द्रव्योके निज २ स्वभावसे क्रमभावी पर्यायोके व्यक्ति अनेक प्रकारके है। यहां कोई दिगम्बरमतके अनुयायी शक्तिरूप ही गुण है ऐसा कहते हुए कहते हैं कि द्रव्यपर्य्यायका कारण तो द्रव्य है, और गुणपर्य्यायका कारण गुण है, तथा द्रव्य और पर्यायमे भी द्रव्यका अन्यथा भाव है, जैसे जीवद्रव्यके नर तथा नारकादि विशेप, पुद्गल द्रव्यके द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि विशेप, और गुणपर्यायोमे गुणका अन्यथाभाव अर्थात् गुणकी रूपान्तरसे स्थितिरूप ही है। जैसे ज्ञानगुणके मतिश्रुत आदि विशेष, अथवा भवस्थ सिद्ध आदिक विशेप। फिर यह द्रव्य गुण निज निज स्वभावसे तो नित्य है, और पर्यायरूपसे अनित्य है, ऐसा दिगम्बर जैनी कहते है। परन्तु यथार्थमे शास्त्रीय युक्तिसे यह सब मिथ्या है अर्थात् यह कल्पना उनकी असद्रूप है। क्योकि इस कल्पनामे कोई प्रमाण नहीं है ॥१०॥

अथ गुणपर्याययोरैक्य प्रदर्शयन्नाह ।

अब गुण तथा पर्य्यायकी एकता दर्शाते हुए यह सूत्र कहते है ।

पर्यायान्न गुणो भिन्नः सम्मतिग्रन्थसम्मतः ।
यस्य भेदो विवक्षातः स कथं कथ्यते पृथक् ॥११॥

भावार्थः—संमतिग्रन्थको यह सम्मत है कि पर्यायसे गुण भिन्न नहीं हैं, क्योंकि जिसका भेद वक्ताकी इच्छा अथवा किसी अपेक्षाके आधीन है वह पदार्थ भिन्न कैसे कहा जा सकता है? ॥ ११ ॥

व्याख्या—पर्यायाद्गुणो भिन्न पृथक् न किन्तु पर्याय एव गुण इत्यर्थ । कीदृशो गुणः ? सम्मतिगन्थसम्मत । सम्मतिग्रन्थे श्रीमत्सिद्धसेनैराचार्यैर्व्यक्तवाचा समुच्चारितस्तथा च तद्ग्रन्थ ।

परिगमणं पज्जाओ अणेगकरणे गुणत्ति तुल्लठ्ठा ।
तहवि न गुणत्ति भण्णइ पज्जवणयदेसणं जम्मा । १ ।

इति यथा क्रमभावित्व पर्यायलक्षणम्, तथैवानेककरणमपि पर्यायस्य लक्षणान्तरमेवास्ति । द्रव्य तु एकमेवास्ते ज्ञानदर्शनादिभेदकार्येऽपि पर्याय एव पर गुणो न कथ्यते । यस्मात् द्रव्य-पर्याययोर्भगवतो देशना वर्तते । परन्तु गुणपर्याययोर्देशना न विद्यते । अथ गाथार्थ. । एव सति गुण पर्यायाद्भिन्नो न तर्हि द्रव्यम् १ गुण. २ पर्याय ३ इति नामत्रय पृथक् कथ सङ्कलितम् ? इत्य केचन व्याचक्षते तानाह । यस्य गुणस्य विवक्षाकृतो भेदो, विवक्षा हि

नयस्य कल्पना । यथा तैलस्य धारा । अत्र तैलात् धारा भिन्ना प्रदर्शिता । तथापि भिन्ना नास्ति । तथैव सहभावी गुण क्रमभावी पर्याय इति भिन्नत्व विवक्षित, पर परमार्थदृशा भिन्नत्व नास्ति । तस्माद्यस्य भेद उपचरितो भवेत् स कथ भिन्नत्वेन व्यपदिश्यते । यथा उपचरितगुणे दृष्टान्तवचन "गौर्दोग्धि" इत्यत्र गौर्न दोग्धि तद्वत् उपचरितगुणोऽपि शक्तित्व न धत्त इति । ११ ।

व्याख्यार्थः—पर्यायसे गुण भिन्नरूप नहीं है किन्तु पर्याय ही गुण है । कैसा गुण ? इस आकांक्षापर विशेषण कहते हैं कि सम्मतिग्रथके सम्मत अर्थात् सम्मतिग्रन्थमें श्रीसिद्धसेन आचार्यद्वारा स्पष्ट वाणीसे कहा गया ऐसा । उनके ग्रन्थकी गाथा यह है कि द्रव्यमें जो क्रमसे गमन करे अर्थात् क्रमसे हो वह पर्याय है तथा एकको अनेक करना यह गुण है और दोनों समान हैं तथापि गुण नहीं कहा जाता है, क्योंकि शास्त्रोंमें पर्यायनयका ही कथन है । १ । तात्पर्य—गाथाका यह है कि जैसे क्रमभावीपना पर्यायका लक्षण है, उस ही प्रकार एकको अनेक करना भी पर्यायका दूसरा लक्षण ही है । द्रव्य तो सदा एक रूप ही रहता है, तथा ज्ञान दर्शन आदिकके भेदका करनेवाला भी पर्याय ही कहा जाता है न कि गुण । क्योंकि गुण, भेद करनेवाला नहीं है, इसीसे श्रीभगवान्‌का उपदेश भी द्रव्य तथा पर्यायमें ही है । परंतु गुण और पर्यायमें उपदेश नहीं है । यदि पूर्वोक्त प्रकार गुण पर्यायसे भिन्न नहीं है तो द्रव्य, गुण तथा पर्याय यह तीन नाम जुदे कैसे गिने गये ? इस प्रकार जो कितने ही कहते हैं उनका समाधान करनेके लिये उत्तरार्द्धसे कहते हैं कि जिस गुणका विवक्षासे किया हुआ भेद है वह भिन्नपनेसे कैसे कहा जाय ? भावार्थ—नयोंकी जो कल्पना है वह विवक्षा कहलाती है, जैसे "तैलकी धारा", इस वाक्यमें तैलसे धारा जुदी दिखाई गई है, तो भी यथार्थमें धारा तैलसे भिन्न वस्तु नहीं है, वैसे ही सहभावी साथ होनेवाला गुण, तथा क्रमभावी (क्रमसे होनेवाली) पर्याय, ऐसे गुण पर्यायका भेद केवल विवक्षासे है, परंतु परमार्थदृष्टिसे भेद नहीं है । इसकारण जिसका भेद उपचारसे माना गया हो, वह यथार्थमें भिन्नरूपसे कैसे कहा जा सकता है ? और गुण उपचारसे है, इसमें दृष्टान्त यह है कि जैसे 'गौ दुहती है' यहा गौ नहीं दुहती है । यहापर दोहनकर्त्तापना उपचारसे गायमें है न कि यथार्थमें । ऐसे ही उपचारको प्राप्त हुआ गुण भी शक्तिको नहीं धारण करता है ॥ ११ ॥

अथ ये च गुण पर्यायाद्भिन्न इति प्रमाणयन्ति तान् दूषयन्नाह ।

अब गुण पर्यायसे भिन्न पदार्थ है, ऐसा जो प्रमाण करते हैं उनको दूषण देते हुये आगेका सूत्र कहते हैं ।

गुणो द्रव्यं तृतीयं चेत्तृतीयोऽपि नयस्तदा ।
सिद्धान्ते द्रव्यपर्यायार्थिकभेदान्नयद्वयम् ॥ १२ ॥

भावार्थ—द्रव्य तथा पर्यायको माननर सिद्धान्तमे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेदसें दो ही नय कहे गये हैं। यदि गुण भी तृतीय द्रव्य होता तो तीसरा नय भी कहते ॥१२॥

व्याख्या। यदि गुणस्तृतीय पदार्थो द्रव्यपर्यायाद्भिन्नोन्य पदार्थो भावो भवेत्, तर्हि तृतीयो नयोऽपि लभ्यते। सूत्रे तु दव्यार्थिकपर्यायार्थिक इति नयद्वयमेव कथितम्। नयान्तर यद्यभविष्यत्तदाद्रक्ष्यत्। अतो नयद्वयादपरो नय एव न। उक्त च सम्मतौ—

दोऊ णया भगवया दव्वट्ठियपज्जवट्ठियाणियया।
जइ पुण गुणोवि हुतो गुणट्ठियणयोवि जुज्जंतो ॥१॥
जं च पुण भगवया ते सुत्तेसु मुत्तेसु गोयमाईणं।
पज्जवसण्णा णियया वागरिया तेण पज्जाया ॥२॥

रूपादीना गुणसज्ञा सूत्रे न भाषिता, परन्तु "वण्णपज्जवा गधपज्जवा इत्यादिपाठ पर्यायशब्देन पठितस्तथापि गुणो न कथ्यते। अन्यच्च। एगगुणकालएइत्यादिस्थानेष्वपि गुणशब्दो यश्च दृश्यते सोपि गणितशास्त्रसिद्धपर्यायविशेष सख्यावाचको ज्ञेय। परन्तु गुणास्तिकनयविषयवाचको न। उक्त च। सम्मतिग्रन्थमध्ये—

जंपंति अत्थिसमए एगं गुणो दसगुणो अणंतगुणो।
रूवाईपरिणामा भन्नइ तम्हा गुणविसेसा ॥ १ ॥
गुणसद्दमंतरेणावि तणुपज्जवविसेससंखाण।
सिज्झइ ण वरं संखा णसत्थधम्मो एव गुणोत्ति ॥२॥
जह दंससु दंसगुणंमि य एगंमि दसतणं समत्तो च।
अहियं वि गुणसद्दे तहेव एयंमि दव्वट्ठं ॥३॥

एव गुण पर्यायात् परमार्थदृशा भिन्नो नास्ति। तस्माद् द्रव्यमिव शक्तिरूपता कथ स्यादित्यभिप्राय ।१२।

व्याख्यार्थः—यदि गुण तीसरा पदार्थ अर्थात् द्रव्य ओर पर्यायसे भिन्न पदार्थ होता तो तीसरा नय भी प्राप्त होता, अर्थात् सूत्रमे तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो नय ही कहे गये हैं, यदि तीसरा होता तो दीख पड़ता। इससे यह सिद्ध हुआ कि इन कथित दो नयोसे अन्य कोई नय ही नही है। संमतिग्रन्थमे ऊपर कहा भी है।

गाथार्थ—श्री भगवान्ने द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक ये दो ही नय कहे है, फिर यदि द्रव्यपर्यायसे भिन्न गुण भी होता तो गुणार्थिक नय भी कहना योग्य था ॥ १ ॥ और भगवान्ने जो गोतमादिकको सूत्र कहे है उनमें पज्जव संज्ञा कही है इसलिये गुण पर्याय ही कहलाते है ॥२॥

रूपादिककी सूत्रमे गुणसंज्ञा नही कही गई है परन्तु 'वण्णपज्जवा,'गन्ध पज्जवा' इत्यादि पाठ पर्यायशब्दसे ही कहा है अर्थात् वर्णपर्याय, गुणपर्याय ऐसा ही कहा गया है। और गुण शब्द वहापर नही कहा ॥ और भी 'एग गुणकाल ए' एक गुणकालमे इत्यादि स्था—

नोंमे जो गुण शब्द दीख पड़ता है, वह गुण शब्द भी गणितशास्त्रमे सिद्ध पर्यायविशेषका ही नाम है, इसलिये उसको संख्याका वाचक ही समझना चाहिये और गुणास्तिक नयके विषय का वाचक नही। संमतिग्रंथमे कहा भी है :—

गाथार्थ—आर्थिक समय मे ऐसा कहते है कि एक गुण, दश गुण, तथा अनन्त-गुण रूपादि परिणाम कहे गये है, इस कारण गुणशब्द संख्याविशेषवाचक है ॥ १ ॥ और गुणशब्दके विना भी संख्याओके विषयमे तनुपर्य्यायविशेष ऐसा प्रयोग किया है, इस हेतुसे एक गुण यह समूहका धर्म संख्यापरक है न कि शक्तिपरक ॥ २ ॥ जैसे दशसंख्याओंमे दशगुण है, ऐसे ही एकमे एक गुण, शतमे शतगुण है। इसी प्रकार समस्त संख्याओंमे गुण शब्दका प्रयोग है, ऐसे एक गुण द्रव्यस्थ गुण नहीं है ॥३॥

इस रीतिसे परमार्थ दृष्टिसे पर्य्यायसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है, इस कारण से द्रव्य के सदृश शक्तिरूपता गुणकी कैसे होसकती है ? ॥१२॥

अथ केचन पर्यायस्य दल गुण इति वदन्ति। गुण शक्तिरूपमेव मन्वानश्च विवदन्ते, तान् दूषयन्नाह।

अव वादीगण गुणको पर्य्यायका कारण मानते है, और गुणको स्वतत्त्वशक्तिरूप मानते हुए परस्पर विरुद्ध विवाद करते है, उनको दूषण देते हुए यह सूत्र कहते है।

पर्यायस्य दलं यर्हि गुणो द्रव्येण किन्तदा।
गुणपर्याय एवेयं गुणपरिणामकल्पना ॥१३॥

भावार्थ—और यदि पर्य्याय का कारण (उपादान कारण) गुण हो तो पुनः द्रव्यका क्या प्रयोजन है ? । और गुणपर्य्याय यह जो कथन है सो तो गुणकी ही परिणामरूप कल्पना है, न कि अन्य कुछ ॥ १३ ॥

व्याख्या। यर्हि गुण पर्यायस्य दल उपादानकारण भवति। तदा द्रव्येण किमिति किं प्रयोजन द्रव्यप्रयोजन गुणेनैव सिद्धमित्यर्थात् गुणपर्यायावेव पदार्थौ उपदिश्यता तृतीयस्यासम्भवात् इति नियम। पुनरत्र कश्चित्कथयिष्यति। द्रव्यपर्याय १ गुणपर्याय २ रूपे कार्ये भिन्ने स्तस्तत्र द्रव्य १ गुणरूप २ कारणे अपि भिन्ने स्त। इति कल्पनया वादी वदत्य। कथ—कार्ये कारणोपचारात् कार्यमध्ये कारणशब्दप्रवेशो जायते। तथा कारणभेदे कार्यभेदः सिद्धयति। अथ च कार्यभेदसिद्धौ कारणभेदसिद्धि-रित्यन्योन्याश्रयोनाम दूषणमुत्पद्यते। तस्मात् गुणपर्यायस्तु गुणपरिणामस्यैव पटान्तरभेदकल्पनारूप। तत एव केवल सम्भावना, परन्तु परमार्थतो न हि। अथ च द्रव्यादि नामत्रयमपि भेदोपचारेणैव ज्ञेयम्। १३।

व्याख्यार्थ—यदि गुण पर्य्यायका उपादान कारण हो तो द्रव्यसे क्या प्रयोजन ? अर्थात् द्रव्यका प्रयोजन गुणसे ही चल जायगा तव अन्य पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है ? और द्रव्यका कार्य्य गुणसे हो गया तो गुण, तथा पर्य्याय, इन्हीं दोनों पदार्थोंका उपदेश करना चाहिये क्योकि तृतीयका असंभव है, ऐसा नियम होना चाहिये

अब इस विषयमे यदि कोई ऐसा कहे कि द्रव्यपर्य्याय तथा गुणपर्य्याय ये दोनो कार्य्य भिन्न भिन्न रूपके है, इसलिये द्रव्य तथा गुण ये कारण भी भिन्न भिन्न रूपके होना चाहिये। इस प्रकार कल्पनावादी भी मिथ्या है। क्योंकि कार्य्यमें ही उपचारसे कारण की कल्पना होती है इसलिये कार्य्यमे कारण शब्दका प्रवेश होता है। और भी प्रथम कारणका भेद सिद्ध होने पर कार्य्यका भेद सिद्ध होता है, और ऐसे ही कार्य्यका भेद सिद्ध हो जावे तब कारणका भेद सिद्ध हो सकता है, इस प्रकार कारणके भेद सिद्ध होनेमें कार्य्य-भेद सिद्ध कारण होगा, तथा कार्य्यके भेद सिद्ध होनेमे कारणका भेद सिद्ध होना कारण होगा, इस रीतिसे तुम्हारे मतमें अन्योन्याश्रय नामका दूषण भी आता है। इसलिये गुणपर्य्याय यह जो कथन है सो तो गुणकी ही परिणामरूपसे कल्पना है, क्योंकि कल्पनामात्रसे ही पर्य्यायसे गुणके भेदका संभव है, और परमार्थदृष्टिसे तो गुणका पर्य्यायसे भेद है ही नहीं, किन्तु परमार्थमे द्रव्य गुण तथा पर्य्याय ये तीनों नाम भी भेदके उपचारसे ही कल्पित किये है, ऐसा जानना चाहिये ॥ १३ ॥

एकानेकस्वरूपेण भेदा एवं परस्परम् ।
आधाराधेयभावेन कल्पनां च विभावय ॥ १४ ॥

भावार्थः—इस पूर्वोक्त प्रकारसे द्रव्य एक ही है, गुण पर्य्याय अनेक है, इस रीतिसे परस्पर अर्थात् एक दूसरेकी अपेक्षासे भेदकी कल्पना मात्र जानो, और इसी पूर्वोक्त रीतिसे आधाराधेयभावकी कल्पना भी निश्चय करो ॥ १४ ॥

व्याख्या। एवममुना प्रकारेण द्रव्यमेक, गुणपर्याया अनेके, इत्थ भावना कार्या। परस्परमन्योन्य भेदभावकल्पना कर्तव्येत्यर्थ । च पुन अनयैव दिशा आधाराधेयभावेन कल्पना विभावय । आधाराधेयप्र मुखभावानामपि स्थभावेन भेदान् विचार्य मनसि ज्ञेयम् । यत परस्परावृत्तिधर्माणि परस्परभेदान् ज्ञापयन्तीति भाव ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थः—इस पूर्वोक्त रीतिसे कल्पना मात्रसे गुण, पर्य्यायकी सिद्धि होनेसे यह सिद्ध हुआ कि द्रव्य एक है कल्पना अथवा विवक्षासे गुण पर्य्याय अनेक है। इस प्रकार द्रव्य, गुण तथा पर्य्यायके परस्पर कल्पित स्वरूपसे भेदकी भावना करनी चाहिये। और इसी रीतिसे आधार, आधेय आदि भावसे भी कल्पना को जानो अर्थात् कल्पित स्वभावके ही भेदसे आधार, आधेय इत्यादि भावोंके भी स्थायीभावसे भेदोंको विचार कर मनमे निश्चय करो, क्योकि परस्पर आवृत्तिशील धर्म, अर्थात् एक पदार्थ से दूसरे में आनेवाले धर्म ही परस्परके भेद को ज्ञापित करते है, यह तात्पर्य है ॥ १४ ॥

अथ आधाराधेयभावयोर्दृष्टान्तेन उपदिशन्नाह ।

अब आधार आधेय भावके विषयमे दृष्टान्तद्वारा उपदेश देतेहुए यह सूत्र कहते है—

घटादिद्रव्यमाधार–आद्येयौ तु गुणादिकौ ।
एकाक्षलक्ष्या रूपाद्या द्व्यक्षगम्यं घटादिकम् ॥१५॥

भावार्थः—घट आदि द्रव्य तो आधार हैं और गुण आदि आधेय है। इनमें आधेय रूप आदि तो एक इंद्रियके विपय है, और घट आदि द्रव्य दो इन्द्रियोंके विपय हैं ॥१५॥

व्याख्या । घटादिद्रव्यमाधार द्रव्य घटादिकमाधरो रूपादीना । तथा हि—घटे रूपाद्या आधृतास्तिष्ठन्तीति । अथ गुणपर्यायरूपरगादयो नीलपीतादयश्चाधेया द्रव्ये स्थिता । एवमाधागधेयभावेन द्रव्यात् गुणपर्यायौ भेदेन स्थितौ । तथा रूपादयो गुणपर्याया एकेन्द्रियगोचरा एकेन्द्रियविषया इत्यर्थ । यथा रूप चक्षुरिन्द्रियगोचर चक्षुर्मात्रग्राह्यगुणत्वात् । रसो हि रसनाविषयो रसनामात्रग्राह्यगुणत्वादित्यादि । अथ घटादिद्रव्य तु द्वीन्द्रियविषय, चक्षु स्पर्शाभ्या घटो गृह्यते द्रव्यत्वात् । एतन्नैयायिकाभिमत । स्वमते तु गन्धादिपर्यायद्वारा घ्राणेन्द्रियादिकेनापि द्रव्यप्रत्यक्षमस्ति । न हि चेत् कुसुम घ्रापयामीत्यादिज्ञाने भ्रान्तित्व जायते । एवमनेकेन्द्रियग्राह्यद्रव्यात् गुणपर्याययोर्भेदो ज्ञातव्य । गुणपर्याययोरन्योन्य भेदस्तु सहभावी क्रमभावी च कल्पनीय । सहभावी गुण क्रमभावी पर्याय इति । अन्यच्च पर्यायो द्विविध । सहभावी क्रमभावी च । सहभावी गुण इत्यभिधीयते । पर्यायशब्देन तु पर्यायसामान्यस्य स्वव्यक्तिव्यापिनोऽभिधानान्न दोष इति । तत्र सहभाविन पर्याया गुणाः । यथात्मनो विज्ञानव्यक्तिशक्त्यादय । क्रमभाविन पर्यायास्त्वात्मनो यथा सुखदुखशोकहर्षादय । इति भेदकल्पनम् ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थः—घट आदि द्रव्यरूप पदार्थ आधार हैं, क्योकि घट आदिमे रूप आदि रहते है। इसलिये रूपादिक रहनेका स्थान घट आदि द्रव्य आधार[1] अर्थात् रूपादिका धारण करनेवाला हैं, और रूप, रस आदि गुण तथा नील पीतादि पर्याय ये सव आधेय[2] हैं, अर्थात् घट आदि द्रव्यमे रूपादि गुण रहते हैं, इसलिये आधेय हैं, अर्थात् द्रव्यमे ये गुणपर्याय स्थित है। इसप्रकार आधार आधेयभावसे द्रव्यसे गुण पर्याय भिन्नरूपसे स्थित हैं; और रूपादि गुणपर्याय एक इन्द्रियसे ग्राह्य हैं, अर्थात् ये एक एक इन्द्रियसे जाने जाते है। जैसे रूप नेत्र इन्द्रियका विषय है, क्योंकि केवल नेत्र इन्द्रियमात्रसे जो ग्राह्य गुण हो उसको रूप कहते हैं, तथा रस जिह्वा इन्द्रियका विपय हैं, क्योंकि जिह्वा इन्द्रियमात्रसे ग्रहण करने योग्य गुण है। और घट आदि द्रव्य तो दो इन्द्रियके विषय है, क्योकि घट नेत्र तथा स्पर्शन (त्वक्) इन दोनों इन्द्रियोसे जाना जाता है, क्योकि वह द्रव्य है। यह कथन नैयायिकमतके अनुसार है, और निज अर्थात् जैनमतमे तो

१ चटाई पर देवदत्त है, स्थालीमें पकाता है, तिलमे तैल है, घटमे रूप है, यहां चटाई, स्थाली, तिल तथा घट आधार हैं।

२ जो वस्तु उनमे वा उनपर है वह आधेय है। चटाईरूप आधारका आधेय देवदत्त, स्थालीका चावल, तिलका तैल और घटका रूप आधेय है।

गन्ध आदि द्रव्यके पर्यायद्वारा घ्राण आदि इन्द्रियोंसे भी द्रव्यका प्रत्यक्ष होता है। यदि ऐसा न मानो, तो "पुष्पं घ्रापयामि" मैं तुमको फूल सुंघाता हूं, इत्यादि ज्ञानमें भ्रम होगा। इसप्रकार अनेक इन्द्रियग्राह्य (जानने योग्य) द्रव्यसे एक इन्द्रियग्राह्य गुणपर्यायका भेद जानना चाहिये। और गुण तथा पर्यायका परस्पर भेद तो सहभावी तथा क्रमभावी कल्पनासे समझ लेना चाहिये। **सह** अर्थात् द्रव्यके साथ साथ **भावी** होनेवाला जो हो सो **सहभावी** गुण है, जैसे पुद्‌गलमें रूपादि और जीवमें ज्ञान आदि उपयोग। और **क्रम** अर्थात् वारी वारी से **भावी** होनेवाला जो हो सो **क्रमभावी**-पर्याय है। जैसे अजीव मृत्तिका द्रव्यमें पिंड कुसूल आदि, सुवर्णमें कटक कुंडल आदि, और जीव द्रव्यमें नर नारक तथा सिद्धादि पर्याय समझना। और भी पर्यायके दो भेद हैं, एक तो सहभावी (साथ होनेवाला) पर्याय और दूसरा क्रमभावी अर्थात् क्रमसे होनेवाला पर्याय। इनमेंसे साथ होनेवाले पर्यायको ही गुण कहते हैं। यहाँपर पर्यायशब्दसे पर्याय सामान्यका ग्रहण है, अर्थात् निज आधारभूत व्यक्तिमात्रमें व्यापक होकर रहनेवाला पर्याय गुणशब्दसे कहा जाता है, इसलिये ऐसा कहनेसे कोई दोप नहीं है। उनमें सहभावी पर्याय गुण है, जैसे आत्माके विज्ञान व्यक्तिकी शक्ति आदि, और क्रमभावी पर्याय है, जैसे आत्माके सुख दुःख हर्ष तथा शोक आदि, इस रीतिसे गुणपर्यायके परस्पर भेदकल्पना करनी चाहिये ॥ १५ ॥

सञ्ज्ञासङ्ख्यालक्षणेभ्यो विभाग,
द्रव्यादीनां यो विदित्वा मिथोऽत्र ।
राद्धान्ते श्रीतीर्थनाथप्रणीते,
श्रद्धां कुर्यान्निश्चलस्तस्य बोधः ॥१६॥

व्याख्यार्थः—संज्ञा (वस्तुके नाम) संख्या (पदार्थ गणना) तथा असाधारण धर्म वचन आदि लक्षणद्वारा जो द्रव्य आदिके विभागको परस्पर जानकर श्रीभगवान् तीर्थनाथरचित सिद्धान्तमें श्रद्धा करेगा, उस भव्य जीवके अचल बोध होगा ॥ १६ ॥

इति श्रीभोजविनिर्मिताया द्रव्यानुयोगतर्कणाया द्वितीयोऽध्यायः

व्याख्या। सञ्ज्ञा नाम तत्कृतो विभागो, यथा—द्रव्यनाम १ गुणनाम २ पर्यायनाम ३ चेति। सङ्ख्या गणना तत्कृतो विभागो यथा द्रव्याणि षट्, गुणा अनेके, पर्याया अनेके। लक्षणं त्वसाधारणधर्म-वचनं तत्कृतो विभागो यथा द्रवति तांस्तान्पर्यायानागच्छतीति द्रव्यम्। गुणनमेकस्मादन्यस्य भिन्नकरणं गुणः। परिगमनं सर्वतो व्याप्तिः पर्यायः। एवमेतेषां द्रव्यगुणपर्यायाणां परस्परं भेदोऽस्ति। एवं सञ्ज्ञासङ्ख्यालक्षणेभ्यो विभागं भेदं विदित्वा द्रव्यादीनां यो मिथः परस्परम् अत्र राद्धान्ते सिद्धान्ते श्रीतीर्थनाथप्रणीते श्रीभगवद्भाषिते श्रद्धामास्थां कुर्यात् तस्य भव्यस्य निश्चलो निःप्रकम्पः बोधः सम्यक्त्व लक्षणः इति ज्ञेयम् ॥ १६ ॥

इति श्रीद्रव्यानुयोगतर्कणायां भेदप्रदर्शनो द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

व्याख्यार्थः—संज्ञा अर्थात् वस्तुओंका नाम उस नामकृत विभाग जैसे द्रव्य नाम १ गुण नाम २ तथा पर्याय नाम इत्यादिसे । संख्या अर्थात् गणना उस गणनाजनित विभागसे, जैसे जीव, पुद्गल, धर्म आदि छह द्रव्य है, गुण अनेक है, तथा पर्य्याय भी अनेक हैं, इस विभागसे और आसाधारण धर्म वचन लक्षण है अर्थात् लक्ष्य पदार्थका ऐसा धर्म वर्णन करै, कि वह धर्म अन्य पदार्थोंमे न मिले, वह ही असाधारणधर्मको कहनेवाला लक्षण है । उसका किया हुआ विभाग जैसे "उन उन पदार्थोंको जो प्राप्त हो वह द्रव्य है" यह द्रव्यका लक्षण है । "एक समूह वा एक जातिके पदार्थोंमेसे जो एक किसीको पृथक् करै वह गुण है" यह गुणका लक्षण है, ऐसे ही "जो सर्वत्र व्याप्त हो, जो सर्वत्र गमन करै वह पर्याय है" यह पर्य्यायका लक्षण है । इसप्रकार संज्ञा, संख्या, तथा लक्षणके द्वारा द्रव्य, गुण तथा पर्य्यायका परस्पर भेद है । इस रीतिसे संज्ञा संख्या और लक्षणोंसे द्रव्य आदिके परस्पर भेदको जानकर श्रीभगवान् तीर्थनाथ द्वारा भाषित इस स्याद्वादरूपी सिद्धान्तमें जो श्रद्धा करै उस मनुष्यके निश्चल (अकंपायमान्) बोध (सम्यक्त्व) की प्राप्ति होती है, ऐसा जानना चाहिये ॥ १६ ॥

इति श्रीद्रव्यानुयोगतर्कणाव्याख्यायामाचार्योपाधिधारिपण्डितठाकुरप्रसाद-
शर्म्मप्रणीतभाषाटीकासमलङ्कृतायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

卐

अथ तृतीयाध्याये ये तीर्थिका द्रव्यादीना भेदमङ्गीकुर्वन्ति । अभेदपक्षमाश्रित्य तान् दूषयन्नाह ।

अब जो शास्त्रकार द्रव्यादिका सर्वथा भेद ही अगीकार करते है उनके मतको अभेद पक्षका आश्रय करके इस तृतीय अध्यायमे दूषित करते है ।

एकान्तेनोच्यते भेदो द्रव्यादीनां मिथो यदा ।
स्याद्गुणगुणिनोरेव भावोच्छेदोऽन्यद्रव्यवत् ॥ १ ॥

भावार्थः—यदि एकान्ततः अर्थात् सर्वथा द्रव्य, गुण तथा पर्यायोका परस्पर भेद ही कहते हो, तो अन्य द्रव्यके तुल्य गुणगुणी भावका उच्छेद (अभाव) हो जावेगा ।

व्याख्या । यदा द्रव्यादीना द्रव्यगुणपर्यायाणामेकान्तेन एकान्तपक्षेण मिथ परस्पर भेद उच्यते, तदा अन्यद्रव्यवत् परद्रव्येणैव स्वद्रव्यविषयेऽपि गुणगुणिनोरेव भावोच्छेदो गुणगुणिभावस्य व्युच्छित्तिर्भवेद् । यथा जीवद्रव्यस्य गुणा ज्ञानादयस्तेषा गुणी जीवद्रव्यम्, पुद्गलद्रव्यस्य गुणा रूपादयस्तेषा गुणी पुद्गलद्रव्यमिति । एव व्यवस्था शास्त्रप्रसिद्धा भेदाङ्गीकारेण विलुप्यते । जीवद्रव्यस्य यथा पुद्गलद्रव्यस्य गुणेभ्यो भेदोऽस्ति, तथा निजगुणेभ्यो ज्ञानादिभ्योऽपि भेदोऽस्ति । तद्वत् अयमस्य गुणी । एतस्य एते गुणा, इत्यय व्यवहारोऽपि विलुप्यते । तस्मात् कारणात् द्रव्यपर्यायाणामभेद एव सम्भवति । एतादृशो भेदनयविचारो गुरोरुपदेशात् भव्याङ्गिनो धारयन्ति ॥ १ ॥

व्याख्यार्थः—जब द्रव्यादिका अर्थात् द्रव्य, गुण तथा पर्यायोंका एकान्तपक्षसे परस्पर भेद कहते हो, तो परद्रव्यकी तरह स्वद्रव्यके विषयमें भी गुण और गुणीके भावका उच्छेद (सर्वथा अभाव) हो जायगा। जैसे जीवद्रव्यके ज्ञानादिक गुण हैं, और उनका गुणी जीवद्रव्य है, ऐसे ही पुद्गल द्रव्यके गुण रूप आदि है और पुद्गल द्रव्य उनका गुणी है। इसप्रकार जो व्यवस्था शास्त्रमें प्रसिद्ध है वह गुण और गुणीके सर्वथा भेद अंगीकार करनेसे लुप्त होती है। क्योंकि जैसे जीवद्रव्यका पुद्गलद्रव्यके गुणोंसे भेद है। वैसे ही निजगुणोंसे भी भेद है। उस ही प्रकार इसके यह गुणी है तथा इस द्रव्यके यह गुण है यह जो व्यवहार है वह भी लुप्त होता है। इसलिये द्रव्य, गुण तथा पर्यायोंके अभेद ही संभवता है। ऐसा भेदनयका विचार गुरुके उपदेशसे भव्य जीव धारण करै ॥१॥

अथ पुनरप्यभेदमाश्रित्य युक्तिं कथयन्नाह ।

अब पुनः अभेदका आश्रय करके युक्तिको दर्शाते हुए अग्रिम सूत्र कहते है ।

गुणपर्याययोर्द्रव्ये भेदसम्बन्ध ईरितः ।
अनवस्था प्रबन्धः स्याद्भेदकल्पनया भृशम् ॥२॥

भावार्थः—गुण और पर्यायका द्रव्यके विषयमें अभेद संबंध ही सिद्धान्तमें कहा गया है, क्योंकि भेदकल्पनासे अत्यंत अनवस्थाका प्रबन्ध हो जाता है ॥२॥

व्याख्या । गुणपर्याययोरन्योन्य द्रव्ये द्रव्यविषये अभेदसम्बन्ध एवास्ति । यदि च द्रव्यविषये गुणपर्यायियो समवायनाम्ना भिन्न सम्बन्ध प्रकल्पते, तदाऽनवस्थादोषनिबन्धन निष्पद्यते । गुणगुणिनोरिव पृथक्समवायो लक्ष्यते । पुनस्तस्य समवायसम्बन्धस्यापि अन्य सम्बन्धो युज्यते । पुनस्तस्यापि अन्यतर । एव प्रकल्पयतोऽवस्थिति कुत्रापि न भवति । एव च भेदकल्पनया भृशमत्यर्थमनवस्थाप्रबन्ध. अस्थितियुक्तिप्रसङ्गश्च जायते । तस्मात् कारणात् समवायस्य स्वरूपसम्बन्धमेवाभिन्नतया यदङ्गीचकर्थ । तर्हि गुणगुणिनो॰ स्वरूपसम्बन्धमङ्गीकुर्वता को दोष । किं च भवता विघटते । यच्च नवीनसम्बन्धकल्पनगौरव विधत्थ । उक्त च—

"प्रक्रियागौरव यत्र त पक्ष न सहामहे । प्रक्रियालाघव यत्र त पक्षं रोचयामहे" ॥१॥

ऋजुमार्गेण सिद्धयतोऽर्थस्य वक्रेण साधनायोगात् । समवायस्य स्वरूपसम्बन्धमभिन्नकरणे गुणगुणिनोश्च स्वरूपसम्बन्धाङ्गीकरणे च को विशेषो निरर्थकनवीनसम्बन्धाविष्करणेन च गौरवापत्तिरिति दिक् ॥२॥

व्याख्यार्थः—स्याद्वादसिद्धान्तमे द्रव्यके विषयमें अर्थात् द्रव्यके साथ गुण और पर्यायका परस्पर अभेद संबंध ही है। और यदि द्रव्यके विषयमे गुण और पर्यायका समवाय नाम एक भिन्न संबंध कल्पित करते हो, अर्थात् गुण और पर्याय यह दोनों ही द्रव्यमे समवाय संबंधसे रहते है ऐसा मानोगे तो वह अनवस्थारूप दोषका

कारण होता है। क्योकि तुम्हारे मतमे गुण तथा गुणी जसे भिन्न २ लक्षित होते हैं उनके तुल्य समवाय भी तो सबसे पृथक् भासता है। और जैसे गुण, गुणी द्रव्यमे समवाय संबंधसे रहते हैं ऐसे ही समवाय संबंध भी उनमे किस सबंधसे रहेगा इससे उस समवायका भी अन्य संबंध मानना योग्य है। और फिर उस समवाय संबंधका भी अन्य संबंध कल्पना करना चाहिये। इसप्रकार कल्पना करते हुए तुम्हारी स्थिति कहीं भी न होगी। इसप्रकार भेदकी कल्पनासे अत्यंत अनवस्थाका प्रबंध और अस्थिति युक्तिका प्रसंग होता है। इसकारण यदि समवायका अन्यसंबंध न मानकर अभेदसे स्वरूपसंबंध ही अङ्गीकार किया हो तो गुण तथा गुणीके स्वरूपसंबंध स्वीकार करनेवालोंको क्या दोष है? और तुम्हारा इसमे क्या बिगाड होता है जो नवीन समवाय सबध स्वीकाररूप कल्पनाका गौरव करते हो? अन्यत्र कहा भी है "जिस पक्षमे प्रक्रिया का गौरव है उस पक्षको हम नही सहते है, और जिस पक्षमे प्रक्रियाका लाघव है उस पक्षको प्रसन्नतासे स्वीकार करते हैं"। क्योकि जो अर्थ सरल मार्गसे सिद्ध होता है उस अर्थको वक्रमार्गसे साधना योग्य नहीं है। और समवायके जुदा स्वरूप संबंध करनेमे तथा गुणगुणीके स्वरूप संबंध स्वीकार करनेमे क्या विशेष (फर्क) है? और व्यर्थ नवीन संबधके प्रकट करनेमे गोरव होता है (अर्थात् गुण और गुणीका भेद मानना और उनका समवायसंबंध मानना पुनः अनवस्थादोपसे भयभीत होकर समवायका संबन्धातर न मानकर उसका स्वरूपसंबध ही स्वीकार करना इसकी अपेक्षा गुणगुणीके केवल स्वरूपसंबंधके माननेमे ही लाघव है, क्योंकि स्वरूपसंबंध तो तुमको भी मानना पडता ही है) इस प्रकार संक्षेपसे सर्वथा गुणगुणीके भेद[1] माननेवालेके मतमे दूषण दर्शाया है ॥२॥

पुनर्भेदपक्षिणो दूषयन्नाह ।

अब भेदवादीके पक्षको दोष देते हुए अग्रिम सूत्र कहते है।

स्वर्णं कुण्डलतां प्राप्तं घटो रक्तत्वमीयिवान् ।
इति व्यवहृतिर्न स्याद्यद्यभेदो भवेन्न हि ॥३॥

सूत्रार्थः—यदि द्रव्य, गुण तथा पर्यायका अभेद न होता तो "सुवर्णद्रव्य कुण्डलदशाको प्राप्त हुआ और घट रक्तत्व (गुणदशा) को प्राप्त हुआ" यह व्यवहार लोकमे नहीं हो सकता ॥३॥

व्याख्या। स्वर्णं कुण्डलता कुण्डलभाव प्राप्त। कनके कुण्डलाकारता गतेपि नामान्तरेण

---

१ जाति व्यक्तिका, गुण गुणीका, अवयव अवयवीका, क्रिया क्रियावान्‌का तथा नित्यद्रव्य विशेषका, भेद नैयायिक मानते हैं और इनका समवायसबध भी नैयायिक मानते हैं, उनके मतमे यह दोष है।

न भेदापत्ति । तथा च घटो रक्तत्वमीयिवान् । पूर्वावस्थया घट श्यामवर्ण पुनरग्निपाकाद्रक्तत्व प्राप्तस्तथापि श्यामे घटे रक्तता प्राप्तेऽपि घटान्तरता न जाता । वर्णाख्यगुणभेदाद् द्रव्यभेदो न जात इति व्यवहारो लोकप्रसिद्धिरूप आचारो न घटते । यद्यभेदस्वभावव्यवहारो द्रव्यादीना न भवेत् । अतो द्रव्यादयस्त्रयोऽभिन्ना एव प्रकल्पन्ते नामान्तरेण न शङ्कनीयमिति भाव ।३।

व्याख्यार्थः—सुवर्ण कुण्डल अर्थात् कर्णके आभूषणपनेको प्राप्त हुआ, यहां सुवर्ण कुंडलके आकारको प्राप्त होगया है तो भी कुंडल इस नाममात्रसे सुवर्ण और कुंडलका भेद नहीं होता, तथा घट रक्तत्वदशाको प्राप्त हुआ, यहां पूर्व अपक्वदशामे घट श्याम वर्णका था और अग्निके द्वारा पकनेसे रक्तपनेको प्राप्त हुआ, तो भी अर्थात् श्यामघटके रक्तता प्राप्त होनेपर भी वह घट अन्य घट वा अन्य पदार्थताको नहीं प्राप्त हुआ अर्थात् वर्णनामा गुणके भेदसे द्रव्यका भेद नही हुआ और यदि अभेदस्वभावसे द्रव्यगुणपर्यायोंका व्यवहार न हो तो पूर्वकथित सुवर्ण घट आदिमे यह व्यवहार अर्थात् लोकप्रसिद्ध आचार नहीं घट सकता है । इसलिये द्रव्य आदि तीनों पदार्थ अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्याय ये अभिन्नरूप ही कल्पित किये जाते है, इनके जुदे जुदे तीन नाम होनेसे यह शंका नहीं करनी चाहिये कि यह भिन्न हैं यह भाव है ॥३॥

पुनर्बाधक कथयति ।

फिर अभेदवादीके मतमे बाधकका कथन करते है ।

स्यात् स्कन्धदेशयोर्भेदात्स्कन्धेऽपि द्विगुणात्मता ।
प्रदेशगुरुताभावात्स्कन्धाभेदप्रबन्धता ॥४॥

भावार्थः—स्कंध तथा देशके भेदसे स्कंधमे द्विगुणता होनी चाहिये परन्तु देशसे स्कंधमें अधिक गुरुता नहीं है, इस हेतुसे देशसे स्कंधका अभेदरूप ही प्रबन्ध है ॥४॥

व्याख्या । स्कन्धदेशयोर्भेदात् स्कन्धविषयेऽपि द्विगुणात्मता द्विगुणभारारोपो भवेत् । स्कन्धोऽवयवी, देशोऽवयव अनयोर्भेदकल्पनया द्विगुणो भार. स्कन्धमध्ये भवन् द्विघ्न. स्कन्धो भवेत् । यत —शततन्तुपटे शततन्तुषु यावान् भारोऽस्ति तावानेव हि पटे भारो युज्यते, तन्तुपटयोरभेदात् । भेदविचारे पटोऽन्य. तन्तवोऽन्ये एवमनयोर्भेदस्तस्मिन्सति द्विगुणगुरुतापि युक्ता । अथ च कश्चिन्नैयायिको नवीन एव यदि कथयति । यत.—अवयवभारात् अवयविभारोऽत्यन्त लघीयानस्ति । तस्मात् तन्मते द्विप्रदेशादिस्कन्धमध्ये कुत्रापि उत्कृष्टगुरुत्व नो भवितुमर्हति द्विप्रदेशादिस्कन्ध एकप्रदेशाद्यपेक्षया अवयविधर्मत्वात् । अन्यच्च परमाणुमध्ये मान्योत्कृष्टगुरुत्वमननात् रूपादिकविशेपोऽपि परमाणुमध्ये मान्य स्यात् । द्विप्रदेशादिकमध्ये न मान्य स्यात् । अभेदेन यस्य बन्धो यदा मन्यते तदा प्रदेशस्य यो भार स एव स्कन्धस्य भारत्वेन परिणमत्येव । यथा तन्तुरूप पटरूपतया परिणमति । तदा गुरुताया वृद्धेश्च दोष कथ्यमानोपि न लगेदिति भाव ।४।

व्याख्यार्थ—स्कंध (अवयवी) तथा देश (अवयव) का यथार्थमे भेद होनेसे स्कंधके विषयमे द्विगुणरूपता होगी अर्थात् स्कधमे दूना[1] बोझ प्राप्त होगा, यहापर सूत्रमे स्कंधशब्दसे अवयवीरूप अर्थका ग्रहण है। और देशशब्दसे अवयवका इन दोनों अवयवी तथा अवयवोकी भेदकल्पनासे अवयवीमे दूना बोझ होनेसे वह अवयवी अवयवोंकी अपेक्षा दूना बोझल होजावेगा, क्योकि सौ तंतु (सूत) से बुने हुए वस्त्रमे उतना ही भार युक्त है, जितना कि उन सो तन्तुओमें है। क्योंकि तंतु और पटके अभेद है, और यदि तंतु और पटके भेद विचारे, तो पट अन्य है तंतु अन्य है। इसप्रकार इन दोनोका भेद होते हुए अवयवी पटमे दूना भारीपन भी होना उचित है। अब यहाँ पर यदि कोई नवीन नैयायिक ऐसा कहता है, कि अवयवके भारसे अवयवीका भार बहुत हलका है, तो इस हेतुसे उसके मतमे दो प्रदेशयुक्त अवयवीमे कहीं भी अवयवकी अपेक्षासे अधिक भारीपन न होना चाहिये, क्योंकि दो प्रदेश आदियुक्त स्कधमे एक प्रदेश आदिकी अपेक्षासे अवयवी धर्मपना है, और एक प्रदेशवाले परमाणुमे दृष्टगुरुत्वकी अपेक्षा अधिक गुरुत्व माननेसे परमाणुमे रूपादिकी अधिकता भी मानी जायगी। और द्विप्रदेशादि स्कधमे न मानी जायगी। और जब जिसका संबध अभेदसे मानते है तो प्रदेश (अवयव) का जो भार है वह स्कध (अवयवी) के भी भारपनेसे परिणत होता ही है। जैसे—तंतुका रूप पटरूपतासे परिणमनको प्राप्त होता है, अर्थात् जो तंतुका रूप है वह ही पटका रूप होता है, तब इसप्रकारसे गुरुता अथवा प्रदेश—वृद्धिका जो दोप कहा हुआ है सो भी नहीं लग सकता है। यह सूत्रका तात्पर्य है ॥४॥

अब जो द्रव्यादिकोके अभेद मानते है उनको उपालभ देते हुए कहते है—

चेद्भिन्नद्रव्यपर्यायमेकरूप गृहादिकम् ।
भाषसे न कथ द्रव्यं गुणपर्यायवत्तदा ॥५॥

भावार्थ—यदि भिन्न द्रव्योके पर्याय गृहादिकको एक रूप कहते हो तो द्रव्य गुणपर्यायोवाला है ऐसा क्यो नही कहते ? ॥५॥

व्याख्यार्थः—यदि भिन्न २ द्रव्योके पर्याय रूप अर्थात् पाषाण, काष्ट, जल आदि जो भिन्न २ बहुतसे द्रव्य हैं, उनके पर्यायभूत गृह (घर) आदिको "यह घर एक रूप है" इसप्रकारकी बुद्धिसे एक ही कहता है, तो द्रव्यको गुणपर्यायवाला क्यो नहीं कहता है ? अर्थात् एक द्रव्यमे गुण तथा पर्यायका अभेद होय, ऐसा विवेक क्यो नहीं कहता है ? क्योंकि जो आत्मा द्रव्य है वह ही आत्माका ज्ञान आदि गुण है, और

---

१ तात्पर्य यह है कि अवयव मिलके अवयवी बनता है तो वह अवयवोसे भिन्न है, इससे अपनी तथा अवयवोकी गुरुता (भारीपन) मिलाकर दूना होगया।

देव नर आदि पर्याय हैं यह अनादिसिद्ध व्यवहार है जो द्रव्यादिकोका अभेदभाव अंगीकार तुम नहीं करते तो वह ठीक नहीं, क्योंकि द्रव्योंमे अभेदता अवश्य ही है। यद्यपि द्रव्य, गुण और पर्याय ऐसे नाम पृथक् २ होनेके कारण द्रव्य भिन्न है गुण भिन्न है, और पर्याय भी भिन्न ही है, इस युक्तिसे भिन्नताका भान लक्षित (प्रतीत) होता है, तथापि द्रव्य घट है और गुणसे शुक्ल घट, नील घट, रक्त घट या श्याम घट है तथा पर्यायसे विशाल आकारमें परिणत शंखके तुल्य ग्रीवासहित और महान् उदरवाला यह घट है, इत्यादि गुण तथा पर्यायोसे घट भिन्न नहीं है ॥ ५ ॥

अथ[1] द्रव्यादीनामभेद येऽङ्गीकुर्वन्ति तान् उपालम्भ ददन्नाह ।

व्याख्या । यद्यपि भिन्नद्रव्यपर्याय पाषाणकाष्ठजलादिकानि द्रव्याणि बहूनि तेषा पर्याय गृहादिक भवनादिकमेकरूपमेतद्गृहमित्याकारिकया बुद्धया एकमेव भाषसे तर्हि द्रव्यं कथ गुणपर्यायवन्न भाषते । एकस्मिन् द्रव्ये गुणपर्याययोरभेदो भवेत् । एतादृश' विवेक कथ न 'कथयसि । यत आत्मद्रव्य यदस्ति स एवात्मगुण. स एवात्मपर्यायश्चेतीदृशव्यवहारोऽनादिसिद्धो वर्तते । यस्माद्द्रव्यादीनामभेदभाव नाङ्गीकुरुषे तदसत् । एतेषामभेदता एव वर्तते । यद्यपि द्रव्य भिन्न गुणो भिन्न· पर्यायोपि भिन्न एव द्रव्यगुणपर्यायनामत्वात् इति युक्त्या भिन्नताभान लक्ष्यते तथापि द्रव्य घट गुणेन शुक्लो घटो नीलो घटो रक्तो घट, श्यामो वा पर्यायेण पृथुबुध्नाद्याकारपरिणत. कम्बुग्रीव पेटोदर. द्रव्यादिगुणपर्यायाभ्यां घटो भिन्नो नास्ति ॥ ५ ॥

नियतव्यवहारं यद्द्रव्यं तदनयोः सतोः ।
परिणत्येकरूपत्वाद्यत्र वैकप्रकारकाः ॥६॥

भावार्थः—जो द्रव्य यह नियतव्यवहार होता है वह इन दोनोके विद्यमान होनेपर होता है, तथा परिणाममे तीनोंकी एकरूपता होनेसे द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों एक ही प्रकारके अर्थात् एक ही हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या । यज्जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमित्यादिनियतव्यवहार द्रव्यं व्यवस्थासहितव्यवहारो भवति । तद्गुणपर्याययोरभेदात् सतोर्विद्यमानयोरनयोर्भवेत् । यथा ज्ञानादिगुणपर्यायेभ्योऽभिन्नो जीवः । रूपादिगुणपर्यायेभ्योऽभिन्नोऽजीवश्चेति यदित्थ न स्यात्तदा द्रव्यात्सामान्यात् विशेषसंज्ञा न भवेत् । अत कारणात् द्रव्य १ गुण २ पर्याया ३ इति नामत्रयम् । परन्तु स्वजात्याद्येकत्वव्यवहार-एव-त्रिषु तिष्ठति परिणत्येकरूपत्वात् परिणमन यथात्मद्रव्य तस्य च ज्ञानादिगुणा परिणामिवस्तुषु तेषा पर्याया एतत्सर्वमपि एकमेति यतो रत्नं १ तस्य कान्ति २ ज्वरापहारलक्षणा तच्छक्ति ३ एतत्त्रयमपि परिणत्येकरूपत्वम् । तथैव द्रव्य १ गुण २ पर्याय ३ इत्येकरूपत्वमेव तस्मात्परिणत्येकरूपत्वात् द्रव्यादय एकप्रकारकास्त्रय. ॥६॥

व्याख्यार्थः—जो जीव द्रव्य, अजीव द्रव्य, इत्यादि नियत व्यवहार अर्थात् द्रव्य,

---

१ यह पाठ भावार्थके पीछे किसी भूलसे दिया गया है। पाठक ध्यानसे पढ़ें।

इस प्रकार व्यवस्थासहित व्यवहार होता है. वह गुण और पर्यायोंके अभेदसे हैं इस कारण इन गुण पर्यायोके विद्यमान होनेपर ही होता है। जैसे ज्ञानादि गुण पर्यायोसे अभिन्न जीव है और रूपादि गुण पर्यायोंसे अभिन्न अजीव द्रव्य है। यदि ऐसा न हो तो गुण पर्यायोंसे रहित सामन्य द्रव्यसे मनुष्यजीव, देवजीव, मुक्तजीव, तथा रक्त घट, पीत घट इत्यादि विशेषसंज्ञा न हों। इस कारणसे द्रव्य, गुण, पर्याय यह तीन नाम है, परन्तु स्वस्वभाव आदि एकपनेका व्यवहार ही तीनोमे रहता है, क्योंकि परिणतिमे एकरूप है। परिणमन जैसे आत्मा द्रव्य है, उसके ज्ञानादि गुण परिणाम है। यहाँ ज्ञानादि गुणसहित द्रव्यमे ही आत्मा यह व्यवहार होता है और ऐसे ही परिणामी वस्तुओंमे उनके जो पर्याय है उन पर्यायोसे युक्तमे द्रव्य व्यवहार होता है, यह सब एक ही है। क्योकि रत्न, उसकी कान्ति तथा ज्वरको नाश करनेवाली उसकी शक्ति, यह तीनों भी परिणतिमे एक रूप हैं। उस ही प्रकार द्रव्य गुण तथा पर्याय ये एकरूप ही है, इससे परिणतिमे एकरूप होनेसे द्रव्यादिक तीनो एक प्रकारवाले हैं ॥ ६ ॥

पुनरभेदं नाङ्गीकुर्वन्ति । तेषु एव दोषसम्भवमाह ।

फिर भी जो अभेदको नहीं मानते है उनमे ही दोषकी उत्पत्तिको कहते हैं।

न ह्येतेषां यदाभेदस्तदा कार्यं कुतो भवेत् ।
नोत्पद्यते ह्यसद्वस्तु शशशृंगवदुच्चकैः ।

भावार्थः—यदि इन द्रव्यादिकोंका अभेद नहीं है तो इनसे कार्य कैसे होता है? क्योंकि जैसे खरगोशके (खरगोशके) सींग उत्पन्न नहीं होते. हैं वैसे असत् पदार्थ उत्पन्न नहीं होना चाहिये ॥ ७ ॥

व्याख्या । यदि एतेषा द्रव्यादिनामभेदो न तदा कार्यं कुतो भवेत् । अपि तु द्रव्यगुणपर्यायाणामभेदो नास्ति तदा कारणकार्ययोरपि अभेदो न भवेत् । तदा च मृत्तिकादिकारणेभ्यो घटादिकार्यं कथ निष्पत्स्यते, कारणे कार्यशक्तौ सत्यामेव कार्योत्पत्तिनियामकत्वममदविद्यमान वस्तु न निष्पद्यते निश्चयेन शशशृङ्गवत् । यथा शशविषाणमित्यसद्वस्तु असत्परिणतिनत्त्वात् कार्ये निष्पत्त्यभाव एव दृश्यते अयमत्र भाव । यदि कारणमध्ये कार्यसत्ताङ्गीक्रियते तदा अभेद महजमेव आगत ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थः—यदि इन द्रव्य, गुण तथा पर्यायोंका अभेद नहीं है तो कार्य कैसे उत्पन्न होता है? अर्थात् अभेदके विना कारणसे कार्य नही हो सकता, और यदि द्रव्य गुण तथा पर्यायोंका अभेद नहीं है, तो कारण कार्यका भी अभेद नहीं होना चाहिये। और जब कारण-कार्यका अभेद न हुआ तो मृत्तिकादिरूप कारणोसे घट आदि कार्य कैसे उत्पन्न होंगे? क्योंकि कारणमे कार्य शक्तिकी सत्ता ही कार्यकी उत्पत्तिमे नियामिका है, क्योंकि जो पदार्थ जहाँ अविद्यमान है वहांसे वह पदार्थ कदापि उत्पन्न नही हो सकता है, यह

निश्चय है । शशशृंगके समान । जैसे शश (खरगोश) का सींग यह असत् (अविद्यमान) वस्तु है, क्योंकि असत् परिणतिपना है, अर्थात् शशरूप कारणमें सींगरूप कार्यकी शक्ति नही है । इससे शश–सींगरूप कार्यकी उत्पत्तिका अभाव ही देखा जाता है । यहाँपर आशय यह है कि यदि कारणमे कार्यकी विद्यमानता स्वीकार करते हो तब तो कार्यकारणका अभेद सहजमे ही प्राप्त हुआ अर्थात् कार्य अपने प्रकट होनेके पूर्व कारणरूप ही था और उत्पन्न होनेपर भी केवल उस द्रव्यका पर्यायमात्र होगया, यथार्थमें वह कारणसे अभिन्नरूप ही है । जैसे घट आदि कार्य मृत्तिकासे उत्पन्न होते हैं तो भी मृत्तिकासे भिन्न नहीं हैं ॥ ७ ॥

कारणे कार्योत्पत्तिक्षणात्पूर्वमेव यदि कार्यसत्तास्ति तदा कार्यदर्शन कथ न जायते । इत्थ शङ्का समुत्पन्ना, तदुपरि कथयति ।

अब यदि कारणमें कार्यके उत्पत्तिक्षणके पूर्व भी कार्य विद्यमान है, तो मृत्तिका आदि कारणमे घट आदि कार्य क्यो नहीं दीख पडते ? ऐसी शंका वादीके उत्पन्न हुई, उसपर यह आगेका सूत्र कहते हैं—

शङ्कापनोद करोति ।

अब अग्रिम श्लोकसे शङ्काको दूर करते हैं ।

द्रव्यरूपा तिरोभावाच्छक्तिः कार्यस्य या सती ।
गुणपर्याययोराविर्भावात्सा व्यक्तितां व्रजेत् ॥ ८ ॥

भावार्थः—कार्यके कारणमे तिरोभावसे जो द्रव्यरूप शक्ति विद्यमान रहती है वह गुण और पर्यायके आविर्भावसे प्रकटताको प्राप्त होती है[1] ॥ ८ ॥

व्याख्या । कार्यं यावन्नोत्पन्न तावत्कारणे कार्यस्य द्रव्यरूपा तिरोभावादन्तर्गतत्वाद्या च कार्यत्वेनालक्ष्या शक्ति सती विद्यमाना तिष्ठति । सा च शक्ति सकलसामग्रीसान्निध्योपगता गुणपर्याययोराविर्भावात्प्रकटनाद्व्यक्तितामाविर्भावितां व्रजेत् । तस्मादत्र कार्यं दृश्यते । तिरोभावाविर्भावावपि नियामकौ कार्यपर्यायौ विशेषत्वेन ज्ञेया[2] । तेनाविर्भावस्य सदसद्विकल्पदूषण न लगति । परन्त्वनुभवानुसारित्वेन पर्यायकल्पना । अथ च कार्यस्य घटस्य तिरोभावाददर्शनाद्द्रव्यरूपा मृत्पिण्डरूपा या शक्ति सती विद्यमाना तिष्ठति सा सामान्यशक्तिराविर्भावत्कारणकलापाद्गुणपर्याययो रक्तत्वपृथुबुध्नत्वकम्बुग्रीवत्वादिकयो । रक्तोऽय घटो योऽय मृत्पिण्डात्समुत्पन्न इति कार्यदिशेन रक्तो घट इति जातः । कारणे कार्योपचारादित्यर्थ ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थः—कार्य जबतक उत्पन्न नहीं हुआ तबतक कारणमे कार्यके छिपे रहनेसे

---

१ यद्यपि कारणमे कार्य है तथापि जिन पदार्थोंसे वह प्रकट होता है उनके विना उसकी प्रकटता नही होती, इस कारण मृत्तिकाके पिण्डमे घटकी द्रव्यरूपता की विद्यमानता होनेपर भी कुम्भकार, चाक आदि सामग्रीके विना प्रकटता नही होती, २ अत्र 'ज्ञेयौ' इति पाठ सम्यगाभाति ।

जो कार्यपने करके नहीं देखनेमे आती हुई द्रव्यरूप शक्ति विद्यमान रहती है वह ही शक्ति जब सम्पूर्ण सामग्रीकी समीपताको प्राप्त होती है तब गुण और पर्यायके प्रकट होनेसे स्वयं भी प्रकाशित होती है उससे यहाँ कार्य देखा जाता है। यहापर तिरोभाव तथा आविर्भावोंको भी कार्यके पर्यायकी समानतासे नियामक समझने चाहिये, क्योंकि इस प्रकार आविर्भावके सत् तथा असत्पक्षके विकल्पोंसे जो दूषण लगता है वह नहीं लगता, परन्तु आविर्भाव तथा तिरोभावमे अनुभवके अनुसार पर्यायकी कल्पना की गई है। भावार्थ—घट रूप कार्यके न देख पड़नेसे द्रव्यरूप अर्थात् मृत्तिकाके पिण्डरूप जो शक्ति विद्यमान रहती है वह ही सामान्यशक्ति कुंभकार चाक दण्ड चीवर (चाकपरसे घटके उतारनेका धागा) आदि कारणोंके समूहसे रक्तत्व आदि गुण और पृथुबुघ्नत्व, कम्बुग्रीवत्वादि पर्यायोंमें प्रकट होती है तब यह घट रक्त (लाल) है जो कि मृत्तिकाके पिण्डसे उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार कार्यके आदेशसे रक्त घट है ऐसा व्यवहार हुआ, क्योंकि [1]कारणमे कार्यका उपचार है ॥ ८ ॥

अथ श्लोकद्वयेन नैयायिकमतं प्रकटयित्वा समाधत्ते ।

अब दो श्लोकोके द्वारा नैयायिकका मत प्रकट करके उसका समाधान करते है।

नैयायिकोऽसतो ज्ञानमतीतविषयं भवेत् ।
यथा तथा सतः कार्यमपि निष्पद्यते ध्रुवम् ॥ ९ ॥
इत्यमाह मृषा तच्चासद्भूतविषय न हि ।
पर्यायार्थतयानित्यं नित्यं द्रव्यार्थिकेन यत् ॥ १० ॥ युग्मम्

भावार्थः—जैसे असत (अविद्यमान) घट आदिका ज्ञान अतीत अर्थात् भूतपदार्थके विषयवाला होता है उस ही प्रकार अविद्यमान घटआदि कार्य भी निश्चय करके उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥ ऐसा जो नैयायिक कहता है वह मिथ्या है क्योंकि भूतविषय घटादि असत् नहीं है, क्योंकि जो पर्यायार्थिक नयसे अनित्य है वह द्रव्यार्थिक नयसे नित्य है ॥ १० ॥ युग्मम् ।

व्याख्या । यथा असतो घटादेर्ज्ञानमतीतविषय भवेत्तथा घटादिकार्यमसदपि मृत्तिकादिदलसामग्र्या निष्पद्यते । असतो ज्ञप्तिरस्ति तर्ह्यसत उत्पत्ति कथ न भवति । पुन घटस्य कारण दण्डादि कथ्यतेऽस्मामिस्तत्र लाघवमस्ति । भवता मते घटाभिव्यक्तेर्दण्डादिक कारणमस्ति तत्र गौरव जायते । अन्यथाभिव्यक्ते कारण चक्षुरादीन्द्रियमस्ति परन्तु दण्डादिक नास्ति । तत कारणाद्भेदपक्ष एव । द्रव्यघटाभिव्यक्ते कारण दण्डाभाव । घटाभिव्यक्तौ कारण

१ यद्यपि मृत्पिण्ड भी मृत्तिकारूप द्रव्यका कार्य अथवा पर्यायरूप ही है तथापि घटका कारण है इसलिये उसको कारण माना है और यथार्थमे सभी कार्य वा पर्याय कारण रूप ही हैं, सामग्रीसमूहसे विशेष पर्यायरूप होनेसे कारणमें कार्यका उपचार किया गया है।

चक्षुरादि तत्र गौरव न घटते ॥९॥ नैयायिकोऽसतो द्रव्यात् उत्पत्तिरित्यमाह । तदसत् । किं तर्हि । अतीतविषयो घटादि सर्वथासन्न विद्यते । तच्च पर्यायार्थतो घटो नास्ति तत्र द्रव्यार्थतो नित्योऽस्ति । नष्टो घटोऽपि मृत्तिकारूपोऽस्ति । यदि सर्वथा न भवेत्तर्हि शशशृङ्गसाधर्म्यं लभेत् । तथा च-सर्वथासन्नर्थो ज्ञाने भासते य. स कथ सद्रूपता यातीति विरोधापत्ते । तस्माद्यत्किञ्चिद्भूतविषयमस्ति तदसन्नास्ति । किन्तु सन्नेव प्रवर्तते । तत्रेय योजना यद्वस्तु नित्य द्रव्यार्थिकेन वर्त्तते तत् पर्यायार्थतया कृत्यभावेनानित्य भासते । परमार्थतस्तु द्रव्यसमवायि भूतविषय वस्तु कारणोदयेन कार्यतामापन्न लक्ष्य जायते । अत मत एवोत्पत्तिर्नासतो भावस्येति नियम इति ॥१०॥

व्याख्यार्थः—जैसे असत् अर्थात् अविद्यमान घटआदि पदार्थोंका ज्ञान अतीत विषय अर्थात् भूत पदार्थके विषयवाला होता है वैसे ही असत् अर्थात् कारणमें अविद्यमान ही घट आदि कार्य मृत्तिका तथा कुम्भकार आदिक सामग्रीके समूहसे उत्पन्न होता है, क्योंकि जब असत् पदार्थका ज्ञान होता है तो अविद्यमान पदार्थकी उत्पत्ति कैसे नही होती है अर्थात् होती ही है। और जो हम दण्ड आदिकको घटका कारण कहते हैं इसमें लाघव है, और आप जैनियोंके मतमे दण्ड आदिक ही घटकी प्रकटताका कारण है उसमें गौरव होता है। और घटकी प्रकटताका कारण तो नेत्र आदिक इन्द्रिय है परन्तु दण्ड आदिक नहीं। इसलिये कारणसे कार्यका भेद जो हम मानते है सो ही सत्य है। तथा द्रव्यरूप घटकी अभिव्यक्तिका कारण दण्डका अभाव[1] है न कि दण्ड, और घटके प्रकट होनेमें नेत्र आदिकको जो कारण माना है सो गौरवको नही घटित करता है ॥९॥ नैयायिक असत घट आदि कार्यकी द्रव्यसे उत्पत्ति कहता है वह असत्य है। तो सत्य क्या है, इस जिज्ञासामे कहते हैं कि अतीत विषयवाला घट आदि सर्वथा असत् नहीं क्योंकि वह अतीत विषयवाला घट पर्यायार्थनयसे नहीं है परन्तु द्रव्यार्थिक नयसे उसमे नित्य है। भावार्थ घट नष्ट होगया है तोभी मृत्तिकारूपसे विद्यमान है। यदि वह घट सर्वथा न होवे तो खरगोशके सींगकी समताको प्राप्त होजाय। और जो सर्वथा अविद्यमान पदार्थ ज्ञानमें भासता है वह पदार्थ विद्यमानताको कैसे प्राप्त होता है? क्योंकि इस प्रकार माननेमे विरोध आता है, इसलिये जो कुछ भूत विषय है वह सर्वथा असत् नहीं है किन्तु सद्रूप होकर ही प्रवर्त्तता है। यहां पर यह योजना करनी चाहिये कि जो वस्तु द्रव्यार्थिक नयसे नित्य वर्त्तती है उस वस्तुमे आकारका अभाव होनेसे पर्यायार्थनयसे अनित्यपना भासता है, और परमार्थसे तो द्रव्यमे समवायी भूतविषय पदार्थ है सो कारणके उदय होनेसे कार्यपनेको प्राप्त होकर देखनेमे आता है, इस कारण सत् पदार्थकी ही उत्पत्ति

१ दड आदिके न होनेपर भी घट आदि पदार्थोंकी अभिव्यक्ति होती है, इसलिये दण्डके अभावको अभिव्यक्तिमें कारण कहा है ।

होती है और अविद्यमान पदार्थकी नहीं होती, ऐसा नियम है ॥१०॥ इस प्रकारका युग्म श्लोकोका अर्थ है ।

अथ सर्वथा अविद्यमानोऽर्थो ज्ञानविषये भासत इतीत्थं ये कथयन्ति तेषां बाधकं दर्शयति ।

अब जो ऐसा कहते हैं कि सर्वथा अविद्यमान पदार्थ ही ज्ञानमें भासता है, उनके मतमें बाधा दिखाते हैं ।

अर्थोऽसन् भासते ज्ञातुस्तदा ज्ञानमयं जगत् ।
स्वभावेन भवेत्सर्वं, योगाचारमतं भवेत् ॥११॥

भावार्थः—जब असत् पदार्थ ज्ञाताके ज्ञानमें भासता है तो सम्पूर्ण जगत् स्वभावसे ज्ञानरूप ही हो जाय और तब तृतीय बौद्ध योगाचारका मत सिद्ध होजावे ॥११॥

व्याख्या । यदि ज्ञानविषयेऽसन्नर्थोऽतीतप्रमुखो भासत इतीदृशमङ्गीकुरुषे तदा सर्वं जगज्ज्ञानाकारमेवास्ति । बाह्याकारा अनाद्यविद्यावासनया असन्त एवावभासन्ते । यथा[1] स्वप्नेऽसत्पदार्थभासनवत् । बाह्याकाररहितं शुद्धं ज्ञानन्तु बुद्धस्यैव भवति । एवं यदि कथयसि तर्हि योगाचारनामा तृतीयो बुद्ध उत्तिष्ठते । तस्मादेव वितर्कय । असतो ज्ञानं न भवेत्सत एव वस्तुनिस्तिरोभावशक्त्यन्तरितस्य कारणकलापाविर्भावव्यक्तदृश्याकारत्वं जायते । इति सर्ववस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते विपद्यते वा परिस्फुटमन्वयदर्शनात् । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम् । प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात् । न च वस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात् । ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः । पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते चास्खलितपर्यायानुभवसद्भावात् । न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारस्तस्य स्खलनरूपत्वात् न खलु सोऽस्खलनरूपा येन पूर्वाकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादाविष्कर्तुमशक्यत्वात् । नश्वरस्य नाशे तद्धेतूना वैयर्थ्यं न हि स्वहेतुः स एवाप्तवान् । स्वभावे भावे भावान्तरव्यापारः फलवांस्तदनुपरेतिप्रसक्तेः ? ॥११॥

व्याख्यार्थः—यदि भूतकालविषयक पदार्थ ज्ञानमें असत् भासता है इस प्रकार तू मानता है तो सब जगत् ज्ञानाकार ही होगा, क्योंकि अनादिकालसे चली आती हुई अविद्याकी वासनासे बाह्यके आकार तो जैसे स्वप्नमें असत् पदार्थका भासन होता है, वैसे ही जागृत दशामें भी अविद्यमान ही भासते हैं, परन्तु बाह्य आकारसे शून्य शुद्धज्ञान तो बुद्धके मतमें ही है, इसलिये ऐसा जो तुम कहते हो तो बौद्धमतके ४ भेदोंमें तीसरा जो योगाचार नामक भेद है उसका मत खडा होता है, इस कारण ऐसा विचारो कि असत् पदार्थका भान नहीं होता, किन्तु तिरोभाव शक्तिसे छिपे हुए सत् पदार्थकी कारणोंके समूहसे प्रकटता होनेके कारण देखनेमें आनेयोग्य आकारपना उत्पन्न होता है । इस कारण द्रव्यरूपसे

१ निखपि पुस्तकेष्वेवमेव पाठ ।

न तो सब पदार्थ उत्पन्न होते और न नाशको प्राप्त होते हैं, क्योंकि प्रत्येक पर्यायमें द्रव्यका अन्वय (संबंध) स्पष्टरीतिसे देखा जाता है और काटेहुए तथा फिर उत्पन्न हुए नख आदिमे जो असत् पदार्थका अन्वय देखते है उससे आपके मतमें व्यभिचार होगा ऐसा कहना चाहिये, क्योकि जो अन्वय प्रमाणसे बाधित हैं वह अस्पष्ट है, और वास्तवमें अन्वय प्रमाणके विरुद्ध नहीं है, क्योंकि सत्य प्रत्यभिज्ञानसे सिद्ध है इस कारण द्रव्यरूपसे सब वस्तुकी विद्यमानता ही है, न कि उत्पत्ति अथवा नाश, तथा पर्यायरूपसे तो सब पदार्थ उत्पन्न होता है और नाशको प्राप्त होता है, क्योकि जो पर्याय जिस द्रव्यमे सत्‌रूपसे विद्यमान है उस पर्यायका ही अस्खलित (निश्चल) रूपसे अनुभव होता है। और ऐसे शुक्ल शंखमे जो पीत आदि पर्यायोका कामल आदि नेत्रके रोगोंके वशसे अनुभव हो जाता है उससे व्यभिचार नहीं होता, क्योंकि वह अनुभव स्खलनरूप (चलायमान) है। भावार्थ नेत्रके रोगसे शुक्लशंखमे पीत (पीले) वर्णका जो अनुभव होता है वह नेत्ररोगके दूर होने-पर आप ही चलायमान (नष्ट) होजाता है। और शंखमे जो पीतादि पर्यायका अनुभव है वह तो अस्खलन (अविचल) रूप नही है अर्थात् विचलरूप है, क्योकि शंखमें निर्दोष दशामे जो शुक्लाकार भासता है उसका विनाश तथा नेत्रके दोष-दशामे जो पीताकार भासता है उसकी उत्पत्ति आदि नहीं कर सकता, किन्तु दोष निवृत्त होनेसे वह स्वयं नष्ट हो जाता है। और उसके नाशमे उसके हेतुओकी व्यर्थता नहीं है, क्योंकि जो कृत्रिम स्वभाव वस्तुमें प्राप्त है उसमे दूसरे पदार्थका व्यापार फलवान् नहीं होता, किन्तु जिस कारण (दोषादि) से वह उत्पन्न हुआ है उसकी निवृत्तिसे वह पर्याय नष्ट होता है अन्यथा अनुप-पत्ति है ॥११॥

अथ दृष्टान्तेन दृढयन्नाह ।

अब दृष्टान्तसे उक्त कथनको दृढ करते हुए कहते हैं ।

ज्ञातोऽधुना मया कुम्भ इत्यतीतार्थता हि या ।
वर्त्तमानस्य पर्यायात्सा भवेद्वर्त्तमानता ॥१२॥

भावार्थः—इस समय मैने भूत घटको जाना, इस प्रकार जो अतीतार्थता हुई है वह वर्त्तमानकी पर्यायसे वर्त्तमानता होती है ॥१२॥

व्याख्या। यदि असतो ज्ञान भवेत्तर्हि अधुना मया अतीतो घटो ज्ञात इत्याकारिका प्रतीतिः कथ जायते। तत्र हि-अतीतो घटो मया साम्प्रत ज्ञात एव यो बोधो जायते। तत्र द्रव्यात्सतोऽतीतघटस्य विषये वर्त्तमानज्ञेयाकाररूपपर्यायादधुनातीतघटो ज्ञात इति ज्ञानमानतास्ति। अथवा नैगमनयादतीतार्थविषये वर्त्तमानार्थारोपः क्रियते। तस्मात्सर्वथासतो वस्तुनो ज्ञान न भवति। अधुना मया कुम्भो ज्ञात इत्यतीतार्थता हि यासीत् सातीतार्थता वर्त्तमानस्य पर्याय द्वर्त्तमानता भवेत् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—यदि सर्वथा असत् पदार्थका ज्ञान हो तो इस समय मैंने अतीत घट-को जाना इस आकारकी प्रतीति कैसे होती है ? क्योंकि उस समयमे अतीत घटको मैंने इस समय जाना इस प्रकार जो बोध होता है उसमे द्रव्यसे विद्यमान अतीत घटके विषयमे वर्त्तमान ज्ञेयके आकाररूप पर्यायसे इस समयभूत घटको जाना ऐसा ज्ञानका भान है । अथवा नैगमनयकी अपेक्षासे भूतपदार्थके विषयमे वर्त्तमान पदार्थका आरोप किया जाता है । इस कारण यह सिद्ध हुआ कि असत् पदार्थका ज्ञान सर्वथा नहीं होता है, क्योंकि इस कालमें घटको मैंने जाना ऐसे जो घटकी भूत पदार्थरूपता थी वह अतीतार्थता वर्त्त-मान द्रव्यका पर्याय होनेसे वर्त्तमानता होती है ॥ १२ ॥

फिर भेदभावना कहते हैं ।

चेद्धर्मेणासता धर्मी कालेऽप्यसति रोचते ।
तदा सदा शशशृङ्गं किन्न ज्ञापयसि द्रुतम् ॥१३॥

भावार्थः—यदि अतीत कालमें भूत घटरूप धर्मी अविद्यमान आकारसे भासता है ऐसा तुमको रुचता है तो तुम सदा निःशङ्क (शङ्कारहित) होकर खरगोशके सींगको भी क्यों नहीं जानते ॥१३॥

व्याख्या । धर्मी अतीतो घटोऽसता धर्मेणाविद्यमानाकारेण असति काले अतीते काले घटा-भावकालेऽपि सदिति भासते । अथवा धर्मी अतीतो घट असता धर्मेण ज्ञेयाकारेण असति काले भासते । इत्थं यदि तव चेतसि रोचते तत्सर्वमतीतानागतवर्त्तमानकाले निर्भयमदृष्टशङ्कारहितं यथा भवति तथा शशशृङ्गमपि कथं न ज्ञापयसि । एतदेव ज्ञापयितुमिष्टमेवेति ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थः—धर्मी [अर्थात् भूतकालका घट असत् धर्म अर्थात् अविद्यमान आकार रूपसे असत् काल अर्थात् घटाभावकालमे (विद्यमानरूपसे) भासता है । अथवा धर्मी भूतघट असत् धर्म अर्थात् अविद्यमान ज्ञेय आकारसे अविद्यमान कालमें भासता है ऐसा पक्ष यदि तुम्हारे चित्तमे रुचता है तो तुम निर्भय अर्थात् नहीं देखनेमे आते हुए पदार्थको हम कैसे जानते हैं। इस प्रकारकी शंकारहित जैसे हो तैसे सदा अर्थात् भूत भविष्यत् वर्त्तमानकालमे अविद्यमान खरगोशके सींगको भी क्यों नहीं जनाते हो ? क्योंकि जब तुमने मृत्तिकासे असत् घटकी उत्पत्ति तथा भूतकालके असत् घटका भान मान लिया है तो असत् शशशृङ्गको भी सिद्ध करके जनादेना तुम्हारे इष्ट ही है ॥ १३ ॥

ततोऽसतो हि नो बोधो नैव जन्म च जायते ।
कार्यकारणयोरैक्यं द्रव्यादीनामपि श्रय ॥१४॥

भावार्थः—इससे पूर्वोक्त हेतुसे अविद्यमान पदार्थका ज्ञान नहीं होता है और न उत्पत्ति ही होती है, इस कारण तुम कार्य कारणकी तथा द्रव्य; गुण, पर्यायकी एकताको भी स्वीकार करो ॥ १४ ॥

व्याख्या । हि निश्चितममतोऽविद्यमानस्यार्थस्य नो बोध । च पुनर्जन्माप्युत्पत्तिरपि न भवति । सत एव ज्ञान सत एवोत्पत्तिरित्याशय । एवमपि निश्चयेन कार्यकारणयोरभेदोऽस्ति । तद्दृष्टान्तेन द्रव्यगुणपर्यायादीनामप्यभेद श्रयाङ्गीकुरु ।।१४।।

व्याख्यार्थः—इस पूर्वोक्त कथनसे निश्चय कर अविद्यमान पदार्थका ज्ञान नही होता और अविद्यमान पदार्थकी उत्पत्ति भी नही होती, अर्थात् विद्यमान पदार्थका ही ज्ञान और उसकी ही उत्पत्ति होती है, यह आशय है । इस प्रकार भी निश्चयसे कार्य और कारणका अभेद है । उसी दृष्टान्तसे तुम द्रव्य गुण तथा पर्याय आदिके भी अभेदको स्वीकार करो ।

नैयायिको भेदनयं प्रकाशते ।
साङ्ख्योऽप्यभेदं प्रकटीकरोति वै ।।
विस्तारयन् जैनवरो द्वयं स्वयं ।
प्राप्नोति सर्वत्र जयं सुनिर्भयम् ।।१५।।

भावार्थः—नैयायिक द्रव्य आदिके सर्वथा भेदको प्रकाशित करता है, और साख्य-वादी निश्चयसे अभेदको प्रकट करता है और जैनियोमें श्रेष्ठ पुरुष अथवा श्रेष्ठ जैनमत तो अपेक्षासे भेद तथा अभेदको स्वयं निर्भय होकर विस्तारता हुआ सब बादियों में जयको प्राप्त होता है ।।१५।।

व्याख्या । नैयायिको द्रव्यादीना भेदमङ्गीकुरुते । यत उत्पन्न द्रव्य क्षणमगुण तिष्ठतीति क्षणेन गुणाना पृथगुत्पादात् । द्रव्य हि तावन्निर्गुणमुत्पद्यते, पश्चात्तत्समनन्तरा गुणा उत्पद्यन्ते, समकालोत्पत्तौ तु गुणगुणिनो समानसामग्रीकत्वाद्भेदो न स्यात्कारणभेदस्य कार्यभेदनियतत्वादिति भेद नय नैयायिको वक्ति । साङ्ख्योऽपि द्रव्यादीनामभेदमङ्गीकरोति । यतो गुण-गुणिनो समानकालीन जन्म सव्येतरविषाणवत्पौर्वाप-र्याभावात् । न हि स एव तस्यैव पूर्वभावी पश्चाद्भावी च भवति । अतो यदैव द्रव्य जायते तदैव तद्गतरूपादयोऽपि जायन्त इति द्रव्यादीना साङ्ख्यमतेऽभेदता । जैनस्तु द्रव्यादीना भेदमपि द्रव्यगुणपर्याय-त्वादभेदमपि। द्रव्य तदेव गुणस्तदेव पर्याय, यथा घट द्रव्येण मृद्गुणेन रक्त, पर्यायेण कम्बुग्रीव, इत्यभेद इत्येतद्द्वयमप्यङ्गीकुर्वाण सर्वत्र जय प्राप्नोति । उक्त च—

अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ।
नयानशेषानविशेषमिच्छन्न पक्षपाती समयस्तथा ते ।।१।।

तथा

य एव दोषाः किल नित्यवादे विनाशवादेऽपि समास्त एव ।
परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु जयत्यधृष्यं जिनशासनं ते ।।२।।

तस्माद्भेदनयपक्षस्याभिमानमभेदनयोऽपाकरोति । अथ नयद्वयस्वामिन निर्दिशति । असत्कार्यं दृश्यत इति नैयायिकाभिमतम् । सदिति साङ्ख्याभिमतम् । सदसदिति जैनाभिमत पक्षपातरहितमिति ।।१५।।

इति श्रीभोजविनिर्मिताया द्रव्यानुयोगतर्कणाया तृतीयोऽध्याय ।।३।।

व्याख्यार्थः—नैयायिक द्रव्यादिक (द्रव्य, गुण, पर्याय) का भेद मानता है, क्योंकि "उत्पन्न हुआ द्रव्य क्षणभर गुणरहित रहता है" इस नैयायिकके कथनसे गुणोंकी उत्पत्ति भिन्न क्षणमे होती है। भावार्थ-नैयायिक ऐसा कहता है कि द्रव्य प्रथम निर्गुण उत्पन्न होता है, फिर उसमे समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले गुण उत्पन्न होते हैं, समान काल (एक ही समय) मे द्रव्य तथा गुणकी उत्पत्ति होनेपर तो समान सामग्रीके होनेसे गुण और गुणी (द्रव्य) का भेद न होगा, क्योंकि कारणका भेद कार्यके भेदका नियामक होता है। अर्थात् कारणका भेद होनेसे कार्यका भेद अवश्य होता है। यदि कारणका भेद न हो तो कार्यका भी भेद नहीं होता, इसलिये जब गुण और गुणीकी सामग्री ही एक है तो उनका भेद नहीं होगा। और साख्य द्रव्य आदिका अभेद मानता है, क्योंकि यह इसके पहले उत्पन्न हुआ यह इसके पीछे उत्पन्न हुआ, इस प्रकारके पूर्वापरभावका अभाव होनेसे पशुके दक्षिण तथा वाम-सींगकी भाति गुण और गुणीकी उत्पत्ति एक समयमे होती है, वह ही द्रव्य उसहीके पूर्वभावी तथा पश्चाद्भावी नहीं होता है। इसलिये जब द्रव्य उत्पन्न होता है तब ही उसमे प्राप्त रूपादिक गुण भी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार द्रव्य आदिकी साख्यमतमें अभेदता है, और जैन तो द्रव्य गुण तथा पर्यायपनेसे द्रव्य आदिके भेदको भी और अभेदको भी मानते हैं, और जो द्रव्य है वही गुण है, वही पर्याय है, जैसे कि घड़ा द्रव्यसे मृत्तिका है, गुणसे लाल रंगका है, पर्यायसे शङ्खकीसी ग्रीवाका धारक है। इस प्रकार अभेद मानते हैं। ऐसे भेद अभेद इन दोनोंको स्वीकार करते हुए जैन तो सब जगह विजयको प्राप्त होते हैं। सो ही कहा है कि—

हे जिनेन्द्र! जैसे अन्यमतावलम्बियोके प्रवाद परस्पर पक्ष तथा प्रतिपक्षपनेसे ईर्षाके धारक हैं उस प्रकार सब मतोंको समानतासे चाहता हुआ आपका जिनशासन पक्षपाती नहीं है ॥१॥

(भावार्थः—कोई सर्वथा भेद मानता है, कोई सर्वथा अभेद मानता है, इस कारण दोनोंके सिद्धान्त परस्पर ईर्षाके धारक हैं। और अपेक्षासे भेद तथा अभेद इन दोनोंको स्वीकार करनेवाला जैनसिद्धान्त दोनों वादियोको समान देखता है। किसीसे ईर्षा नहीं करता)

तथा और भी कहा है कि—

जो दोष सर्वथा नित्यवादमे हैं वे ही सर्वथा एकान्त रूपसे अनित्यवादमे भी हैं, इसलिये परस्पर एक दूसरेके ध्वंस करनेवाले कंटक (कटक तुल्य मतों) मे अनेकान्तवादी होनेसे आपका प्रबल जिनशासन विजयको प्राप्त होता है। २। इसलिये सर्वथा भेदनय पक्षके अभिमानको अभेदनय दूर करता है। अब भेद तथा अभेदमतके स्वामीका नाम दिखलाते है। कार्य असत् (अविद्यमान) दीखनेमे आता है और कार्य कारण तथा गुण-

गुणीका परस्पर भेद है, यह तो नैयायिकको इष्ट है। सत् कार्य देखनेमें आता है और कार्यकारण तथा गुणगुणीका सर्वथा अभेद है, यह सांख्यवादीको अभीष्ट है। और कथंचित् सत् एवं कथंचित् असत् कार्य देखनेमे आता है तथा कार्य कारण और गुण गुणीका कथंचित् अभेद है, यह पक्षपात रहित मत जैनको अभीष्ट है ॥१५॥

इति द्वितेयपनामकपण्डितठाकुरप्रसादशर्मव्याकरणाचार्यविरचितभाषानुवादसमलङ्कृतायां द्रव्यानुयोगतर्कणायां तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

व्याख्या—अथ परवादी वक्ति—द्रव्यादीनां भेदाभेदौ द्वौ कथं मान्यौ स्त इत्याशङ्किते प्रत्युत्तरयन्नाह।

अर्थः—अब अन्यमतावलम्बी वादी कहता है कि द्रव्यआदिकोंके भेद अभेद ये दोनों धर्म किस प्रकारसे मान्य हैं? ऐसे आशङ्काके प्राप्त होनेपर वादीको प्रत्युत्तर देते हुए कहते हैं।

भेदाभेदौ कथं मान्यौ परस्परविरोधिनौ।
कुत्राप्येकत्र न स्यातामन्धकारातपौ यथा ॥१॥
इत्थमाशङ्कितं शिष्यं गुरुराह जिनोक्तिभिः।
सर्वत्राप्यविरोधेन धर्मौ द्वावेकसंश्रयौ ॥२॥

भावार्थः—हे गुरो! जैसे कहीं भी अन्धकार और प्रकाश एक अधिकरणमें नहीं रहते हैं वैसे ही परस्पर विरोधके धारक भेद और अभेद ये दोनों एक वस्तुमें कैसे मान्य हो सकते है ॥१॥

इस प्रकार आशङ्काको प्राप्त हुए शिष्यके प्रति श्रीगुरु महाराज श्रीजिनभगवान्‌की उक्तियों द्वारा कहते हैं कि हे शिष्य! सब ही स्थान तथा वस्तुओंमें एक द्रव्यमें रहनेवाले दोनों धर्म विरोधरहित हैं ॥२॥

व्याख्या। अहो भेदाभेदौ कथं केन प्रकारेण मान्यौ कीदृशौ तौ परस्परविरोधिनौ। यत्र भेदस्तत्राभेदो न, यत्राभेदस्तत्र भेदो न, इत्थमनयोरन्योऽन्यं विरोधोऽस्ति। द्वावेकत्र न तिष्ठतः। यथान्धकारातपावप्येकत्र स्थायिनौ कदापि न भवतस्तथैवेमावपीत्यर्थः। तथा चोक्तमाचाराङ्गे "विरिगिन्य समावन्नेण अप्पाणेण न लभते समाहिंति" तदर्थं शङ्कितं शिष्यं गुरुः प्रवचनविच्छ्रीस्याद्वादवाणीभिः कथयति स्म। अहो शिष्य यद्वद्घटस्य घटाभावस्य च यथान्योऽन्यं विरोधः सम्भाव्यते परन्त्वनयोर्भेदाभेदयोः परस्परं विरोधो नास्ति। यतः कारणात्सर्वेषु स्थानेषु वस्तुषु च भेदाभेदलक्षणौ धर्मावविरोधेन विरोधाभावेन चैकाश्रयवृत्त्याश्रयाश्रयिभावेन च दृश्येते। अत उक्तमेकसंश्रयावेकस्मिन् द्रव्ये सम्यग् आधारो ययोस्तावेकसंश्रयाविति। सत्यं तुल्यौ द्वौ तथाप्यभेदाख्यः स्वाभाविकोऽस्त्यपरो भेदः उपाधिकोऽप्यस्त्येवमिति शङ्कितं कश्चित्कथयिष्यति तदा तत्र्यसम्भवमनुभवगोचरं च न। तत्कथं व्यवहारेण परापेक्षत्वं द्वयोरपि। गुणादीनां भेदः गुणादीनामभेदश्चेति वचनाद्विरोध एव भेदाभेदयोरत्र समाश्रयोऽज्ञातव्य इति ध्येयम् ॥

व्याख्यार्थः—परस्पर विरोधधारक भेद और अभेद ये दोनों धर्म द्रव्यादिकमें किस प्रकारसे मानने योग्य हों, क्योकि जहाँ भेद हो वहां अभेद नहीं रहता है, ऐसे ही जहा जिस वस्तुका अभेद हो वहा भेद नहीं रहता है, इस प्रकार आपसमें विरोध है। इसलिये भेद और अभेद ये दोनों एक ही द्रव्यादिकमें नहीं रहते । अर्थात् जैसे अन्धकार और प्रकाश एक जगह रहनेवाले कभी भी नहीं होते हैं वैसे ही ये भेद अभेद भी एक स्थलमे रहनेवाले नहीं है। और वैसे ही आचाराङ्गमे कहा है कि "वितिगित्थ समावन्नेण अप्पाणेणं न लभते समाहिति" इस प्रकार शङ्काको प्राप्त हुए शिष्यको गुरु अर्थात् प्रवचनके ज्ञाता पुरुष श्रीस्याद्वादके वचनो द्वारा कहते हुये कि अहो शिष्य ! यद्यपि घट और घटाभावका परस्पर विरोध सभावित होता है, परन्तु इन भेद तथा अभेद रूप दोनों धर्मोंका परस्पर विरोध नही है। क्योंकि सव स्थानोंमे तथा वस्तुओंमे भेद अभेदरूप दोनों धर्म विरोधरहिततासे तथा आश्रयाश्रयिभावसे देख पडते है। इस ही कारण मूल सूत्रमे "एकसंश्रयौ" यह पद दिया है अर्थात् एक द्रव्यमे है संश्रय (आधार) जिनका ऐसे भेद और अभेद सर्वत्र विना किसी विरोधके रहते है।

"यह यद्यपि सत्य है कि भेद तथा अभेद ये दोनों तुल्य हैं तथापि अभेद स्वाभाविक[1] और सत्य है और भेद [2]औपाधिक तथा असत्य है" इस प्रकार शङ्कित होकर कोई कहेगा तो वह उसका कथन भी असम्भव है और अनुभवके गोचर नहीं है। सो कैसे कि व्यवहारसे दोनोंही परकी अपेक्षा करनेवाले है। उससे गुणादिकका भेद तथा गुणादिकका अभेद है, इस वचनसे एक आश्रयमे रहनेवाले भेद तथा अभेदका अविरोध ही जानना चाहिये। ऐसा भाव है ॥ २ ॥

व्या०–पुनर्विरोधमपाकुर्वन्नाह ।

अर्थः—फिर भेद, अभेदके विरोधको दूर करते हुए कहते हैं।

एकत्र जनतारूढ्या यत्प्रत्यक्षेण लभ्यते ।
रूपादीनामिवैतेषां भेदादि तत्कथं भ्रमः ॥ ३ ॥

भावार्थः—जब एक घटादि द्रव्यमे लोकविदित व्यवहारसे जो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा रूपादिका भेद अभेद प्राप्त होता है तब इन द्रव्यआदिका भेद अभेद है, इसके माननेमे भ्रम कैसे होता है? अर्थात् विरोध क्यो करते हो? ॥ ३ ॥

व्याख्या । एकस्मिन् स्थाने घटादिद्रव्यविषये जनतारूढ्या सर्वलोकविदितव्यवहारेण लोकसाक्षित्वेन वा प्रत्यक्षप्रमाणेन रक्तत्वादिगुणपर्यायाणां यद्भेदाभेदत्वं लभ्यते तत्कथं भ्रम

---

१ स्वाभाविक अर्थात् स्वयसिद्ध, तात्पर्य यह है कि मृत्तिका और घटमे अभेद तो स्वयंसिद्ध है क्योकि घट दशामे तथा उसके आगे पीछे भी मृत्तिका ही है इसलिये अभेद स्वाभाविक सत्य है।

२ घटरूप उपाधिसे उत्पन्न भेद औपाधिक (बनावटी) है इसलिये असत्य है।

ज्ञात । तेषा रूपादीनामिवैतेषा द्रव्यादीनामपि. भेदादि वर्त्तते । तत्र विरोध. किमर्थं क्रियते ? यथा रूपरसादीनामेकाश्रयवृत्तित्वानुभवाद्विरोधो न कथ्यते, तथैव द्रव्यादीनामपि भेदाभेदयोरपि विरोधो न भवेत् । निश्चयेन ज्ञान चक्षुषा विमृष्ट सुस्थमेव जायते । उक्त च–न हि प्रत्यक्षदृष्टेऽर्थे विरोधो नाम जायते । तथा प्रत्यक्षदृष्टार्थे दृष्टान्तस्याप्यभावत: । उक्त च–क्वेदमन्यत्र दृष्टत्वमहो निपुणता तव । दृष्टान्त पठसे यत्त्व प्रत्यक्षेऽप्यनुमानवत् ॥१॥ इति ॥३॥

व्याख्यार्थः—एक स्थानमे अर्थात् घटादि द्रव्यके विषे जनसमूहकी रूढिसे अर्थात् सब लोकके विदित व्यवहारसे अथवा सब लोकोंकी साक्षीसे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जब घटआदि द्रव्यमें रक्तत्वआदि गुण पर्य्यायोंका भेद और अभेद उपलब्ध होता है, तब उनके विरोधके विषयमे भ्रम कैसे होता है ? जैसे रूपआदिके भेद आदि है ऐसे ही इन द्रव्यगुणपर्यायोंके भी भेद अभेद है, इसमे विरोध क्यो करते हो ? जैसे एक घट अथवा आम्रके फल आदि अधिकरणमे अनुभवसिद्ध रूप रसआदिका भेद अभेद है, वहापर तुम विरोध नही कहते हो, ऐसे ही द्रव्यपर्याय आदिके भेद अभेदका कोई विरोध नहीं हो सकता, क्योकि निश्चयसे नेत्रद्वारा विचाराहुआ अर्थात् देखा हुआ ज्ञान सत्य ही होता है ऐसा कहा भी है कि प्रत्यक्षसे देखेहुए पदार्थमे विरोध नही होता, और प्रत्यक्षसे दृष्टवस्तुमें दृष्टान्तका भी अभाव है तथा यह अन्यत्र कहा देखा है ऐसा पूछते हो सो अहो ! यह तुम्हारी निपुणता है कि प्रत्यक्षमें भी अनुमानकी भाति दृष्टान्तको भी पढते हो अर्थात् प्रत्यक्षरूपसे जो भेदाभेद दृष्ट है उस अनुभवको अनुमानके समान अन्धकार तथा प्रकाशके दृष्टान्तद्वारा छिपाते हो ॥३॥

व्याख्या—अथ भेदाभेदयो प्रत्यक्षस्याभिलाप पुद्गलद्रव्येण दर्शयन्नाह ।

अर्थः—अब भेद अभेदके प्रत्यक्षका अभिलाप पुद्गल द्रव्यसे दर्शाते हुए कहते है ।

पूर्वं श्यामो घटः पश्चाद्भेदाद्रक्तो भवन्स्वयम् ।
घटत्वेन विरोधित्वं नैव वक्ति कदाचन ॥४॥

भावार्थः—जो घट पूर्व अवस्थामें श्याम पर्यायवाला है वही पश्चात् भेदसे स्वय रक्तपर्याययुक्त होता हुआ घटत्वके साथ कभी विरोधपनेको नहीं कहता है ॥४॥

व्याख्या । यो हि घट पूर्वावस्थाया श्यामभावोऽस्ति स एव घट पश्चात्पाकादिपरिणत सन् स्वयमात्मना रक्तो रक्तवर्णो भवन् नन् भिन्नत्वेन व्यपदेश लभन्नपि घटत्वेन कालद्वयेऽपि पूर्वावस्थाश्यामरूपेण परावस्थारक्तरूपेण च घटभावेन भेदाभेदौ न कथयनीति । अतो घटत्वेन विरोधित्व पूर्वं श्यामो य एव घट पश्चाद्रक्तो जात स घटो न इति विरोधिभाव न वक्ति । अर्थात् श्यामोऽपि घटः रक्तोऽपि घट, घटत्वेनाविरोध एव । कदाचन पूर्वापरपर्यायगुणादानविभक्तोऽपि घटस्तु घट एव । एव श्यामावस्थाया रक्तावस्थायामवस्थाकृतभेदाद्घटभेदो न जातस्तदा द्रव्यादीना परस्पर भेदाभेदौ मावधारय । घटदृष्टान्तेन द्रव्यादीनामप्यन्योन्यमैक्य. विद्धि न कदापि भिन्नभावमात्र जानीहि ॥४॥

व्याख्यार्थः—जो घट पूर्वकालमें अर्थात् परिपाक दशाकी पूर्व अवस्थामें श्यामभाव है वही घट पश्चात् परिपाक दशामें परिणत होकर स्वयं अपने निज स्वरूपसे रक्त वर्णको प्राप्त होता हुआ और रक्तघट इस भिन्न नामको प्राप्त होता हुआ भी दोनों कालमें ही पूर्वकालकी श्यामरूप अवस्थासे तथा उत्तरकालकी रक्तरूप अवस्थासे घटत्वके साथ भेद तथा अभेदको नहीं कहता है अर्थात् परिपाक दशाके पूर्व श्याम घट और पाकोत्तर रक्त घट होनेपर भी घटत्वरूपसे इस कारण कोई विरोध नहीं है। घटत्वके साथ जो घट पूर्व श्याम था वही घट पीछे रक्त हुआ तब वह घट नहीं है ऐसा विरोध नहीं कहता अर्थात् श्याम भी घट था रक्त भी घट है, यद्यपि रक्तत्वका तथा श्यामत्वका पर्यायरूपसे भेद है परन्तु घटत्व रूपसे दोनों दशामें अभेद है। इस रीतिसे घटत्वके साथ भेद अभेदमें कोई विरोध नहीं है अर्थात् कभी पूर्व श्याम घट और उत्तरकालमें रक्त घट इस प्रकार पूर्वापर पर्याय गुणके ग्रहणसे यद्यपि विभक्त (कथंचित् गुण पर्याय कृत भेदविशिष्ट) भी है तथापि घट तो वह ही है, इस रीतिसे जब श्यामावस्थामें तथा रक्तावस्थामें श्याम तथा रक्त अवस्थाकृत भेद होनेपर भी घटका भेद न हुआ तब द्रव्य गुण पर्यायके भी परस्पर एकान्त भेद तथा एकान्त अभेदको मत निश्चय करो अर्थात् घटके दृष्टान्तसे द्रव्यादिककी परस्पर एकता जानो, इनके भी कदापि भिन्न भावका भान मत जानो अर्थात् जैसे घटत्व सब दशामें है ऐसे ही सब गुण पर्याय दशामें वही मृत्तिकारूप द्रव्य है और द्रव्यरूपता किसी गुण पर्यायसे जैसे भिन्न नहीं ऐसे ही गुण पर्याय भी द्रव्यसे भिन्न नहीं हैं, और द्रव्यदेशमें ही गुण पर्यायकी उपलब्धि होनेसे भी द्रव्यसे गुण पर्याय भिन्न नहीं है ॥ ४ ॥

व्याख्या—अथात्मद्रव्ये भेदाभेदयोरनुभवं दर्शयन्नाह।

अर्थः—अब आत्मद्रव्यमें भेद तथा अभेद दर्शाते हुए आचार्य यह सूत्र कहते हैं।

बालत्वे मनुजो योऽभूत्तारुण्ये सोऽन्य इष्यते।
देवदत्ततयाप्येको ह्यविरोधेन निश्चयम् ॥५॥

भावार्थः—बाल्य अवस्थामें जो मनुष्य था वह यौवन अवस्थासे अन्य ही होजाता है, परन्तु देवदत्त रूपसे वह बाल्य यौवन आदि सब अवस्थाओंमें एक ही है ॥५॥

व्याख्या—बालभावे पुरुषो योऽभूद्बालावस्थामापन्न इत्युच्यते। तथा स एव पुमान् तरुणभावे यौवनेऽन्य इष्यते, यौवनावस्थामापन्नो बालाद्भिन्नस्तरुण इत्यर्थः। तथा च देवदत्ततया देवदत्तभावेन मनुष्यत्वपर्यायेण भिन्नत्वं नास्ति। यो हि देवदत्तो बालः स एव देवदत्तस्तरुणो मनुष्यव्यवहाराद्भिन्नो न। तस्मादत्रैकस्मिन् देवदत्तविषये बाल्यतारुण्यभावेन भेदस्तथा देवदत्तभावेनाभेद इति एतदविरोधेन निर्धार्यताम्। उक्तं च—पुरिसम्मि पुरिससद्दो जम्माई मरणकालपज्जंतो। तस्सओ बालाईया पज्जवभेया बहुवियप्पा। १। इति ॥५॥

व्याख्यार्थः—बालभावमें जो मनुष्य था उस समय वह बाल्य अवस्थाको प्राप्त हुआ

ऐसा कहा जाता है और वह ही मनुष्य जब तरुण हुआ तब अन्य माना जाता है अर्थात् यौवन अवस्थाको प्राप्त हुआ मनुष्य बालपनेसे भिन्न तरुण कहा जाता है सो यद्यपि बाल्य अवस्था तथा तरुण अवस्थाकृत उस मनुष्यमें भेद है तथापि देवदत्तपने-रूप मनुष्यपर्यायसे उसमें भिन्नता नहीं है, क्योंकि जो देवदत्त बालक था वह ही देवदत्त अब तरुण होगया परन्तु मनुष्यव्यवहारसे भिन्न नहीं, इस प्रकार यद्यपि बाल तरुण पर्यायसे वह भेदसहित है तथापि देवदत्तभावरूप व्यवहारसे भिन्न कदापि नहीं है अर्थात् देवदत्तभावसे अभेद सहित है, इस कारणसे एक ही देवदत्तमे बाल्यतारुण्यभावसे भेद तथा देवदत्तरूप मनुष्यपर्यायसे अभेद विना विरोधके है ऐसा तुम निश्चयसे जानो। ऐसा कहाभी है कि "मनुष्यमे वा पुरुष शब्दमे जन्मसे आदि लेकर मरणपर्यन्त उसके बाल्या-वस्थाको आदि लेकर अनेक प्रकारके विकल्प (भेद) होते हैं, अर्थात् बाल्य, शैशव, किशोर, यौवन तथा जरा आदि अनेक भेद होते है तथापि देवदत्तादि नामरूप मनुष्यपर्यायसे अभेद ही है ॥१॥५॥

व्याख्या -अथ यत्र भेदो भवेत्तत्राभेदो न भवत्येव, भेदो व्याप्यवृत्तिरस्ति तत एतादृशी प्राचीननैयायिकशङ्का निराकुर्वन्नाह।

अर्थः—अब "जहां भेद रहता है वहां अभेद नहीं रहता, क्योंकि भेद व्याप्यवृत्ति है अर्थात् धर्मभेद प्रयुक्त धर्मीका भी भेद सिद्ध है" ऐसी प्राचीन नैयायिककी आशंका को निराकरण करते हुए उसके मतका उद्घाटन करते हैं।

धर्मभेदो यदा ज्ञाने धर्मिभेदो न दृश्यते।
जडचेतनयोरेको धर्मी तद्भिन्नधर्मयोः ॥६॥

भावार्थः—यदि ज्ञानमें धर्म अर्थात् श्यामत्व रक्तत्व आदिका भेद भासता है और धर्मी घटका भेद नहीं दीख पडता है तो परस्पर भिन्न धर्मके धारक जड़ चेतन द्रव्यमें धर्मी द्रव्यका अभेद लेकर जड़ चेतन एक होजायगे ॥६॥

व्याख्या। इह यदि ज्ञाने ज्ञानविषये श्यामो न रक्त इति श्यामत्वरक्तत्वधर्मयोर्भेदः भासते। परन्तु धर्मिणो घटस्य श्यामत्वे रक्तत्वे वर्तमानस्य भेदो भिन्नत्वं न भासत इत्थ प्रतिपादयसि तर्हि जडचेतनयोर्भिन्नधर्मयोर्धर्मी एकद्रव्य नु भविष्यति। अथ च जडचेतनयोर्भेदो भासते तत्र जडत्वचेतनत्व-धर्मयोरेव भेदोप्यस्ति। परन्तु जडचेतनद्रव्ययोर्भेदो नास्ति। एवमवस्थया धर्मिण. प्रतियोगित्वेनोल्लेखोऽपि स्थानद्वयेऽपि सदृशोऽस्ति। अथ च प्रत्यक्षसिद्धार्थे बाधक नु नावतरत्येव। उक्त च 'नानुपलब्धार्थे न्यायः प्रवर्तते अपि तु सन्दिग्धे" इत्युक्तत्वात्। एव धर्मभेदो अनुभवे तव भासते धर्मिभेद न कथयसि तदा भिन्नधर्मयोर्जडचेतनयोरेको धर्मी अपि लभ्यत इत्यर्थ ॥६॥

व्याख्यार्थः—यहांपर यदि ज्ञानके विषयमें अर्थात् अनुभवमें श्याम घट रक्त नहीं है

और रक्त घट श्याम नहीं है, इस प्रकार श्यामत्व तथा रक्तत्व धर्मका भेद ज्ञानमे भासता है, परन्तु श्यामत्व तथा रक्तत्व दोनो दशामे वर्तमान धर्मा घटकी भिन्नता नहीं भासती, ऐसा यदि तुम प्रतिपादन करते हो अर्थात् धर्मके भेदसे धर्मीका भेद नहीं मानते हो तो जड और चेतन जो भिन्न धर्म हैं उनका धर्मी एक द्रव्य निश्चयसे हो जायगा। कदाचित् कहो कि जड चेतनका जो भेद भासता है वहा जडत्व और चेतनत्व इन दोनों धर्मों का ही भेद है परन्तु जड, चेतन द्रव्योंका भेद नहीं है, इस प्रकार अवस्थासे धर्मीका [1]प्रतियोगीरूपमे (अर्थात् जड चेतन नहीं है और चेतन जड नहीं है) उल्लेख (कथन) करनेपर भी जड चेतन तथा श्याम और रक्त घट भी सदृश हैं और प्रत्यक्षसिद्ध अर्थमे कोई बाधकका-प्रसंग भी नहीं होता, क्योंकि अनुपलब्ध अर्थात् अनुभव प्रमाणसे अप्राप्त वस्तुमे न्याय नहीं प्रवृत्त होता, किन्तु संदिग्ध वस्तुमे न्यायकी प्रवृत्ति होती है ऐसा कहा है, इस रीतिसे धर्मका भेद आपके अनुभवमे भासता है। धर्मीका भेद तुम नहीं कहते हो तो भिन्न धर्मके धारक जड और चेतनका एक धर्म्मी प्राप्त होता है यह ही कारिकाका आशय है ॥६॥

भेदाभेदौ च तत्रापि दिशन् जैनो जयत्यलम् ।
रूपान्तरात्पृथग्रूपेऽप्यभेदो भुवि संभवेत् ॥७॥

भावार्थ—वहा भी भेद तथा अभेदका उपदेश करता हुआ जैनमत अतिशय करके सर्वोत्कृष्ट वर्तता है, क्योंकि रूपान्तर अर्थात् द्रव्यरूपसे पृथक् जो जीवादि भासते हैं वहा भी संसारमे अभेदका संभव है ॥७॥

व्याख्या। च पुनस्तत्र जडचेतनयोर्मध्ये भेदाभेदौ कथयन् जैन एव अलमत्यर्थं जयति सर्वोत्कृष्टत्वेन प्रवर्त्तते। कथं यद्यतो भिन्नरूपा ये जीवाजीवादयस्तेषु रूपान्तरद्रव्यत्वपदार्थत्वादिभ्यश्चाभेदोऽपि जगत्यायाति। एतावता भेदाभेदयो सर्वत्र व्यापकत्व कथितम्। रूपान्तराद्द्रव्यत्वपदार्थत्वलक्षणाद्भिन्नरूपे जीवाजीवादिकेऽपि व्यापकत्वादभेदोऽपि भुवि जगत्या संभवेदित्यर्थ ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—फिर जहा जड चेतनमे नैयायिक भेदमात्र कहता है वहा भी जड तथा चेतनके मध्यमे भेद अभेद दोनोको कहता हुआ जैनमत ही अतिशयकर सर्वोत्कृष्ट-पनेसे वर्तता है सो कैसे कि भिन्न रूप जो जीव अजीव आदिक है उनमे रूपान्तर द्रव्यत्व पदार्थत्व आदिसे अभेद भी जगत् मे आता है, इस कथनसे भेद अभेदके, सब जगह

---

१ जब श्याम तथा रक्त इन अवस्थाओका कथन होता है तब वहा "श्यामघटो रक्तो नास्ति" श्यामघट रक्त नही है और रक्त होनेपर "रक्तो घट श्यामो नास्ति" रक्त घडा श्याम नही है ऐसा प्रतियोगीरूपसे धर्मी घटका भी भान होता है यह नैयायिकका आशय है।

२ नैयायिकका अभिप्राय यह है कि जब धर्मका भेद है तब धर्मीका भेद अवश्य है क्योकि धर्मीके भेदार्थ ही धर्मका भेद है।

व्यापकत्व कहा अर्थात् तुम्हारे मतसे भिन्नरूप जीव पदार्थ हैं उनमें भी रूपान्तर अर्थात् द्रव्यत्व, पदार्थत्व लक्षणसे व्यापकता होनेके कारण जगत्में अभेद भी संभव होता है ऐसा अर्थ है। भावार्थ—तुमने सर्वत्र धर्मभेदसे भेदको ही व्यापक कहा है परन्तु जीव और अजीव दोनो द्रव्य होनेसे द्रव्यत्वरूपसे हमारे मतमें जड चेतनमें भी अभेद व्यापक होनेसे विद्यमान है। यद्यपि जडत्व तथा चेतनत्व पर्यायरूपसे भिन्न हैं, परन्तु उन ही दोनोंमें व्यापक द्रव्यत्वसे अभेद[1] भी जगत्मे संभव है ॥ ७ ॥

यस्य भेदोऽप्यभेदोऽपि रूपान्तरमुपेयुषः ।
एवं रूपान्तरोत्पन्नभेदाच्छतनयोदयः ॥८॥

भावार्थः—जिस वस्तुका भेद भासता है उसी वस्तुका रूपान्तरको प्राप्त होते हुए अर्थात् भेदयुक्त वस्तु जब दूसरे स्वरूपमें परिवर्त्तित हो जाती है तब, उसीका अभेद भी हो जाता है। एवं रूपान्तरसे अन्य रूपान्तरमें उत्पन्न भेद तथा पुनः उससे भी रूपान्तरमे अभेद इस रीतिसे अन्य अन्य उत्पन्न गुणपर्यायद्वारा जो भेदसे अभेद है उसहीसे सैकड़ो नयोंका उदय है ॥ ८ ॥

व्याख्या । यस्य वस्तुनो भेदस्तस्यैव रूपान्तरमुपेयुषः रूपान्तरसहितस्याभेदोऽपि भवेद्यथा स्थासकोशकुशूलादयो घटस्य भेदाः सन्ति पुनस्त एव स्थासादयो मृद्द्रव्यविशिष्टानर्पितस्वपर्याया अभेदा रूपान्तरसंयुतत्वादभेदाः, तेषामेव रूपान्तराद्भेदो भवेत् । यथा स्थासकोशकुशूलादिपर्यायविशिष्टमृद्द्रव्यत्वेन तस्यैव भेदः । एवमस्य भेदस्याभेदोऽस्ति, य स एव शतसंख्यमूलनयानां हेतुरस्ति । यत्तु सप्तनयानां ये सप्तशतसंख्यामिता भेदा जायन्ते ते चानयैव रीत्या द्रव्यपर्यायस्यार्पणयानर्पणया च शतारनयचक्राध्ययनमध्यगताः पुरासन् । ते चाधुना द्वादशारनयचक्रमध्ये विधिविधिर्विधिरित्यादिरीत्या एकैकस्मिन्नयान्तरे द्वादश द्वादश भेदाः समुद्भवन्ति । अत्र सम्यगुक्तपाठपठितपरिकलनाप्रसिद्धिमवधार्य सद्गुरोर्मनो विधेयमित्यर्थः । यस्य भेदोऽस्ति तस्यैव रूपान्तरेणाभेदोऽप्यस्ति तस्यैव भेदः पुनस्तस्याभेद एव शतनयावतारः ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थः—जिस वस्तुका तुमको वर्त्तमान पर्यायको लेकर भेद भासता है वही वस्तु जब रूपान्तर सहित होजाती है तब उसका अभेद भी होजाता है। जैसे निज निज पर्यायसे योजित स्थास, कोश तथा कुशूल आदि सब घटके भेद है, पुनः वे ही स्थास कोश कुशूल आदि जब अपने २ पर्यायसे न योजित किये जाय अर्थात् पर्यायकी विवक्षा न की जाय तो मृत्तिकारूप द्रव्यसहित होनेसे अथवा केवल मृत्तिकारूपकी विवक्षा

१ पर्यायरूपमे पिंड कुशूल घटादिका भेद रहते भी द्रव्यत्वरूप सर्वत्र अनुगत होनेसे पिंड कुशूलादिमें भेद नही है, नैयायिक भी पृथिवी जलादिकें परस्पर भेद रहतें भी नौ (९) द्रव्योमे द्रव्यत्व एक ही मानते हैं और प्रमेयत्वादि धर्मसे तो पदार्थका अभेद मानते हैं।

करनेसे अभिन्नरूप हैं अर्थात् उनका भेद नहीं है, क्योंकि अब रूपान्तरसयुक्त[1] होगये अब पुनः उनहीका रूपान्तर होनेसे पुनः भेद भी हो जाता है, जैसे स्थास कोश कुशूल आदि पर्यायसहित मृत्तिकाद्रव्यत्वसे उसीका भेद है। इस प्रकार इस भेदका जो अभेद है वह ही अभेद शतसंख्याक (सौ १००) मूल नयोंका कारण है। और जो नैगम संग्रह आदि सात नयोके सातसौ (७००) भेद होते हैं वह सब भेद भी इसी रीतिसे द्रव्य पर्यायके अपण तथा अनर्पणसे अर्थात् कदाचित् द्रव्यार्थिक योजनासे और कदाचित् उसकी अविवक्षा करके पर्यायकी योजनासे शतारनयचक्राध्ययनके मध्यगत पूर्वकालमे थे वे ही अब द्वादशारनयचक्रके मध्यमे "विधिर्विधिर्विधिः" इत्यादि रीतिसे एक एक नयके बीचमे बारह बारह भेद होते हैं, इसलिये सम्यक् प्रकारसे कथित पाठमे पढी हुई संख्याकी प्रसिद्धिको अवधारण कर भंगोंकी योजना करनी चाहिये। तात्पर्य यह कि जिसका पर्याय आदिकी अपेक्षासे भेद है उसका पुनः रूपान्तरमे प्राप्त होनेसे अभेद और पुनः उस भेदका अभेद एवं शत (१००) नयका अवतार होता है ॥ ८ ॥

व्याख्या। अथ ते नयभेदाश्चिकीर्षिता अतस्तानेव दर्शयन्नाह।

व्याख्यार्थ—यहा उन नयोके भेद करनेकी इच्छा की इसलिये अब उनही भेदोको दर्शाते हुए अग्रिम सूत्र कहते हैं।

तथा क्षेत्रादिभिः सप्तभङ्गीकोटिः प्रजायते।
संक्षेपादिह बोधाय सप्तभङ्गी प्रतायते ॥९॥

भावार्थः—उसी प्रकार सप्तभंग भी क्षेत्र कालादिकी अपेक्षासे अवान्तर भेद प्रभेद आदिके निरूपणसे कोटि (करोड) भङ्ग होजाते हैं, परन्तु यहा संक्षेपसे बोध होनेकेलिये केवल सप्तभङ्गीका विस्तार करते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या। यथा द्रव्यादिविशेषेण भगा जायन्ते तथैव क्षेत्रादिविशेषेणापि भगा अनेके सभवन्ति। यत स्वतो विवक्षितो घटो द्रव्यमस्यापेक्षया, क्षेत्रादिघट परद्रव्यमिति। एव प्रत्येक प्रत्येक सप्तभङ्ग्योऽपि कोटिशो निष्पद्यन्ते। तथापि लोकप्रसिद्धया य कुम्बुग्रीवादिपर्यायोपेतो घटो द्रव्य वर्त्तते तस्यैव स्वतस्त्वमङ्गीकृत्य स्वरूपेणास्तित्व पररूपेण नास्तित्वमित्यवधार्य सप्तभङ्गी व्याकुरुते। तथा हि स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया घटोऽस्त्येव ।१। परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया घटो नास्त्येव ।२। एकदा युगपदुभयविवक्षया, घटोऽवाच्य एव एकशब्देन पर्यायद्वय-मुख्यरूपेण वक्तुमशक्यत्वात् ।३। एकोऽश स्वरूपेण विवक्ष्यतेऽपरोऽश पररूपेण विवक्ष्यते तदा अस्ति नास्ति घट ।४। एकोऽश. स्वरूपेणापरोऽशो युगपदुभयरूपेण विवक्ष्यते तदा घटोऽस्ति परमवाच्य इति ।५। एकोऽश पररूपेणापरोऽशो युगपदुभयरूपेण विवक्ष्यते तदा घटो नास्त्यवाच्य इति ।६। एकोऽश स्वरूपेणैकोऽश पररूपेणैकश्चाशो युगपदुभयरूपेण विवक्ष्यते, तदा घटोऽस्ति नास्त्यवाच्य इति ।७।

१ यहा "रूपान्तरसयुक्त" इस पदसे दूसरे आकारमे परिणत होनेसे तात्पर्य है।

घट स्यादस्त्येव । १ । स्यान्नास्त्येव । २ । स्यादवाच्य एव । ३ । स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव । ४ । स्यादस्त्येव स्यादवाच्य एव । ५ । स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव ।६। स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एवेति । ७ । इति प्रयोग इति ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थः—जैसे द्रव्य पर्याय आदि विशेषसे भङ्ग होते है वैसे ही क्षेत्र काल आदि विशेषसे भी अनेक भङ्गोंका संभव है, क्योंकि स्वतः विवक्षित घट द्रव्य है इसी द्रव्य घटकी अपेक्षासे क्षेत्रआदिका घट परद्रव्य है, ऐसे ही प्रत्येक प्रत्येक अर्थात् हर एकके प्रति सप्तभंगिये भी करोडों सिद्ध होती हैं तथापि लोकको प्रसिद्धिसे जो कम्बुग्रीवादि पर्यायसहित घटद्रव्य है उसी घटका स्वतत्त्व अर्थात् निजस्वरूप कालादि अङ्गीकार करके [1]स्वरूपसे घटका अस्तित्व और [2]पररूपसे घटका नास्तित्व है ऐसा निश्चय करके सप्तभंगोंका व्याख्यान करते है। जैसे कि—अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे "घटः अस्त्येव" घट है ही । १ । परके द्रव्य क्षेत्र काल तथा भावकी अपेक्षासे "घटः नास्ति एव" घट है ही नही । २ । और एक कालमें ही अस्ति तथा नास्ति की विवक्षासे घट [3]अवाच्य ही है, क्योकि एक शब्दसे अस्ति नास्ति रूप दोनो पर्याय एक कालमें प्रधानतासे नहीं कहे जा सकते । ३ । तथा घटका एक अंश तो उसके निज स्वरूपआदिसे विवक्षित करते है और दूसरा अंश पररूपसे विवक्षित करते है तब "अस्ति [4]नास्ति घटः" अर्थात् घट है भी और नही भी है, ऐसा चतुर्थ भंग होता है । ४ । तथा घटका एक अंश तो उसके स्वरूपसे विवक्षित करते है और अन्य अंश एक ही कालमें उभयरूपसे [5]विवक्षित करते है तो "घटः अस्ति परन्तु अवाच्यः" अर्थात् घट है परन्तु वह [6]अवाच्य है । इस पंचम भंगकी प्रवृत्ति होती है । ५ । तथा एक अंश तो पररूपसे और एक अंश उभयरूपसे एक कालमे विवक्षित करते है तो "घटो [7]नास्ति अवाच्यः" घट नहीं है और अवाच्य है इस छठे भंगको प्रवृत्ति होती है । ६ । और जब एक अंश तो घटका स्वरूपसे विवक्षित करते है और एक अंश पररूपसे विवक्षित करते है तथा एक अंश एककालमे अस्ति नास्ति इस उभयरूपसे विवक्षित करते है तब "[8]घटः अस्ति नास्ति अवाच्यः" घट है नहीं है अवाच्य है यह सप्तम भंग होता है (७) अब सप्तभंगीका प्रयोग इस प्रकार है कि कथंचित् घट है ही । १ । कथंचित् (किसी अपेक्षासे) घट नहीं ही है । २ । किसी अपेक्षासे घट अवाच्य ही है । ३ । किसी अपेक्षासे घट है ही

---

१ अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे । २ परके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे । ३ कथन वा निरूपण करनेके अयोग्य । एक वस्तुकी एक कालहीमें स्वरूपसे सत्ता और पररूपसे असत्ता प्रधानतासे कहनेको असमर्थ है इसलिये वह अवाच्य है । ४ स्वरूपसे अस्तित्व अंश और पररूपसे नास्तित्व अंश कहनेसे यह चौथा भंग होताहै । ५ कहनेके इष्ट । ६ निजरूपसे सत्ता मानकर भी अस्ति नास्ति इस उभयरूपसे अवाच्य है । ७ अन्य द्रव्य क्षेत्रादिसे घटका असत्त्व और उभयरूपसे अवाच्य है इसलिये "स्यान्नास्ति अवाच्य" यह छठा भंग है । ८ निजद्रव्य क्षेत्रादिसे घटका सत्त्व परद्रव्य क्षेत्रादिसे असत्त्व तथा अस्ति नास्ति उभयरूपसे अवाच्य इस अभिप्रायसे यह सातवा भंग है।

किसी अपेक्षासे नहीं ही है । ४ । कथंचित् घट है ही कथंचित् घट अवक्तव्य ही है । ५ । कथंचित् घट नहीं ही है कथंचित् अवक्तव्य ही है । ६ । तथा किसी अपेक्षासे घट है ही किसी अपेक्षासे है ही नहीं और किसी अपेक्षासे अवक्तव्य ही है । ७ । ॥ ९ ॥

अथास्या सप्तभङ्ग्या भेदाभेदौ योजयति ।

अब इस सप्तभङ्गीके[1] भेद तथा अभेदकी योजना करते हैं ।

पर्यायार्थनयाद्भिन्नं वस्तु द्रव्यार्थतोऽपृथक् ।
क्रमार्पितनयद्वन्द्वाद्भिन्नं चाभिन्नमेव तत् ॥ १० ॥

भावार्थः—पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सम्पूर्ण वस्तु भिन्न भिन्न हैं और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे अभिन्न हैं तथा क्रमसे पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक इन दोनों नयोंकी योजनासे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न ही हैं ॥ १० ॥

व्याख्या । पर्यायार्थिकनयात्सर्वं वस्तु द्रव्यगुणपर्यायलक्षणं कथंचिद्भिन्नमस्ति । १ । द्रव्यार्थिकनयात्कथंचिदभिन्नमेव । गुणपर्यायौ हि द्रव्यस्यैवाविर्भावतिरोभावरूपावित्युक्तत्वात् । २ । अनुक्रमेण यदि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोरर्पणं क्रियते तदा कथंचिद्भिन्नं कथंचिदभिन्नं च कथ्यते । ३ ॥ १० ॥

व्याख्यार्थः—पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे द्रव्य गुण तथा पर्यायरूपसे सम्पूर्ण पदार्थ भिन्न हैं । १ । और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे कथंचित् सब पदार्थ अभिन्न ही हैं, क्योंकि गुण और पर्याय तो द्रव्य ही के आविर्भाव तथा तिरोभावरूप हैं ऐसा प्रथम कह चुके हैं । २ । और अनुक्रमसे यदि पर्यायार्थिक तथा द्रव्यार्थिक दोनों नयोंकी योजना करते हैं तो कथंचित् भिन्न अर्थात् पर्यायसे भिन्न और द्रव्यार्थिकरूपसे अभिन्न कहे जाते हैं ॥ ३ ॥ १० ॥

यद्येकदोभयादानं तदावाच्यं भवेच्च तत् ।
एकदैवैकशब्देन नार्थद्वयप्रकाशनात् ॥ ११ ॥

भावार्थः—और यदि एक समयमें ही पर्यायार्थिक तथा द्रव्यार्थिक दोनों नयोंका ग्रहण करें तो अवाच्य होता है, क्योंकि एक शब्दसे एक ही क्षणमें दो विरुद्ध अर्थोंका प्रकाश नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

व्याख्या । यद्येकदैव नयद्वयार्थविवक्षा जायते, तदा त्ववाच्यमेव लभ्यते । यत एकेन शब्देनैकस्मिन् क्षणेऽर्थद्वयकथनासम्भवात् । सांकेतिकशब्देनैकमेव संकेतरूपं निरूपणीयं स्यात् । ननु पुष्पदन्तादिवत् अर्थद्वयशब्दं कथयितुं नशक्यते ... पुष्पदन्तादिशब्दा अन्येऽपि चन्द्रसूर्यावभिव्यक्ति वदन्ति परन्तु भिन्नतया कथयितुमशक्या इह तूभयनयार्थौ मुख्यतयैव भिन्नोक्त्या उच्चारयितुं योग्यौ तद्योग्यत्वं तु यत्नेनापि न

1 सप्तानां वाक्यविशेषाणां समाहार इति सप्तभङ्गी । अर्थात् सात प्रकारके भङ्ग अर्थात् वाक्योंका जो एकत्र समावेश है उसका नाम सप्तभङ्गी है ।

भवति । तस्मादेकदा नयद्वयार्थविवक्षयावाच्य इति । ४ । ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थः—यदि एक कालमें ही दोनों नयोंसे दोनों अर्थोंकी विवक्षा उत्पन्न हो अर्थात् एक समयमें पर्यायार्थिक तथा द्रव्यार्थिक इन दोनो नयोसे पर्याय तथा द्रव्य रूप दोनों अर्थोंके कथनकी इच्छा हो तब तो पदार्थ अवक्तव्य दशाको ही प्राप्त होता है; क्योंकि एक शब्दसे एक ही क्षणमें द्रव्य पर्याय अथवा स्वरूप पररूपादि अर्थका कथन असंभव है. सांकेतिक शब्दसे जो संकेतरूप एक अर्थ है वह ही उस शब्दसे निरूपणीय (कथनयोग्य) होता है, परन्तु दो अर्थरूप शब्दका तो कथन करनेको वह शब्द असमर्थ ही है। और पुष्पदन्त आदि शब्द भी एक ही उक्तिसे अर्थात् समूहालम्बन ज्ञानसे सूर्य चन्द्रकी व्यक्तिको कहते है, परन्तु भिन्न भिन्न अर्थात् पृथक् पृथक् सूर्य तथा चन्द्रादिरूप अर्थ कहनेको असमर्थ है अर्थात् पृथक् पृथक् दो अर्थ एक शब्दसे एक ही क्षणमे कहनेको अशक्य हैं। और यहां तो उभय अर्थात् पर्यायार्थिक तथा द्रव्यार्थिक दोनों नयोके प्रतिपाद्य पर्याय तथा द्रव्यरूप अर्थ मुख्यता (प्रधानता) से भिन्न भिन्न उक्तिसे उच्चारण करनेके योग्य हैं और एक ही कालमें उन दोनों अर्थोके उच्चारण करनेकी योग्यता तो यत्नसे भी नही होती, इस कारणसे एक कालमें एक शब्दसे दो नयके अर्थकी विवक्षासे अवाच्य ही है । ४ । ॥११॥

अथ पञ्चमभङ्गोल्लेख करोति ।

अथ पञ्चम भंगका प्रतिपादन करते हैं ।

पर्यायार्थिकसंकल्पात्पश्चाद्द्वयविवक्षितात् ।
भिन्नमवाच्यं वस्त्वेतत्स्यात्कारपदलाञ्छितम् ॥१२॥

भावार्थः—प्रथम पर्य्यायार्थिक नयके संकल्प (विवक्षा) करके पश्चात् दोनोंकी विवक्षा होनेसे यह पदार्थ स्यात्कार इस पदसे चिन्हित अर्थात् [1]स्यात् भिन्न है और स्यात् अभिन्न है अवाच्य है । तात्पर्य यह कि प्रथम पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा की और पश्चात् द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक इन दोनों नयोकी विवक्षा की तब वह वस्तु पर्यायकी अपेक्षासे कथंचित् भिन्न है और उभय नयकी अपेक्षासे कथंचित् अवाच्य है । ५ ॥ १२ ॥

व्याख्या । प्रथम पर्यायार्थकल्पता तत एकदोभयनयार्पणं क्रियते, तदा भिन्नमवक्तव्यमिति स्यात्कथंचिद्भिन्नमवक्तव्यमिति पञ्चमभङ्गोल्लेख. ॥ १२ ॥

---

१ यह "स्यात्" शब्द समानार्थक कथंचित् वाचक अव्यय है, जिसके पूर्व लगाया जाता है उस वस्तुको किसी अपेक्षासे कहता है।

तथा पर्यायार्थिक एतत् उभय नयकी विवक्षा की तब "स्यात् भिन्नं स्यात् अवक्तव्यं च" अर्थात् वस्तु कथंचित् भिन्न कथंचित् अवक्तव्य है, यह पञ्चम भंगका वर्णन हुआ ॥५॥ १२॥

अथ षष्ठमङ्गोल्लेख ।

अब छठवे भंगका प्रतिपादन करते है ।

द्रव्यार्थेनोभयादानादभिन्नं तदवाच्यकम् ।
युगपन्नयद्वयादानाद्भिन्नमभिन्नमवाच्यम् ॥ १३ ॥

भावार्थः—प्रथम द्रव्यार्थिक नयकी कल्पना करके उसके साथ पश्चात् उभय नयकी योजना की "तब स्यात् अभिन्नः स्यात् अवक्तव्यः" अर्थात् कथचित् अभिन्न और कथंचित् अवक्तव्य इस छठे भंगकी प्रवृत्ति हुई और पुनः क्रमसे उभय नयकी विवक्षा की पश्चात् एक कालमे ही उभय नयकी विवक्षा की तब कथंचित् भिन्न, अभिन्न, अवक्तव्य इस सप्तम भंगकी सिद्धि हुई ॥ १३ ॥

व्याख्या । तत्रादौ द्रव्यार्थिकनयकल्पना । तत एकदोभयनयार्पण क्रियते । तदा कथचिद्भिन्न-मवक्तव्यमिति कथ्यते । इति षष्ठ । पुनरनुक्रमेण प्रथम द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकेति नयद्वयकल्पना विधीयते । ततश्चैकदोभयनयार्पण क्रियते तदा कथचिद्भिन्नमभिन्नमवक्तव्यमिति भग सप्तम समुत्पद्यत इति ॥ ७ ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थः—षष्ठ ६ भगमे आदिमे केवल द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा की और उसके पश्चात् एक कालमे ही पर्यायार्थिक तथा द्रव्यार्थिक इन दोनों नयोंकी विवक्षा की तब कथंचित् अभिन्न तथा अवक्तव्य यह षष्ठ नय सिद्ध हुआ ओर प्रथम अनुक्रमसे पर्यायार्थिक नयकी और उसके पश्चात् द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा की और पुनः एक समयमे ही द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक इस उभय नयकी योजना की तब "स्यात् भिन्नम् अभिन्नम् अवक्तव्यं च" अर्थात् कथचित् भिन्न, कथचित् अभिन्न और कथंचित् अवक्तव्य इस सप्तम भंगकी उत्पत्ति हुई ।७।॥ १३॥

इमां सप्तभङ्गीं दृढाभ्यासयुक्तः
सदा योऽभ्यसेत्तत्त्वदृष्ट्या विचार्य ।
क्रमाम्भोजसेवामवाप्यार्हतीं स
भवेन्मुक्तियोग्योऽचिराद्भव्यजन्मा ॥ १४ ॥

भावार्थः—इस सप्तभंगी नयका जो मनुष्य दृढ अभ्यासमे तत्पर होकर तत्त्वदृष्टिसे विचार करके सदा अभ्यास करेगा वह भव्य जन्मधारी प्राणी श्रीजिनभगवान्के चरणकमलकी सेवा भक्तिको पाकर शीघ्र मुक्तिके योग्य होगा ॥ १४ ॥

व्याख्या । एवमेका भेदपर्यायेऽभेदपर्याये च सप्तभङ्गीयोजना कृता पुनरित्थमेव सर्वत्र योजयितव्या । अथ शिष्य प्रश्नयति । यत स्वामिन् यत्र नयद्वयविषयस्यैव विचारणा भवेत्तत्रैकस्य मुख्यभावेनापरस्य गौणभावेन सप्तभङ्गी समुत्पद्यताम् परन्तु यत्र प्रदेशप्रत्यका

दिविचारेण सप्त ७ षट् ६ पञ्च ५ प्रमुखनयाना भिन्न २ विचारा भवन्ति तत्र त्वधिकभङ्गा एव जायन्ते तदा सप्तभङ्ग्या नियम कुत्र स्थिरो भवति । सप्तभङ्गीनियमस्त्वत एव नियामको न दृश्यते । इति पृष्टो गुरुराह । भो शिष्य ! भवदुक्त सत्य परमार्थतस्तु । एव यत्त्वया गौणमुख्यव्यवहारो दर्शितस्तत्र त्वेकस्यैव नयार्थस्य मुख्यतया विधिरन्येषा तु सर्वेषामेव निषेध । एव विधिनिषेधौ गृहीत्वाऽनेके भङ्गा क्रियन्ते । अस्माभिस्तु इत्थ ज्ञायते । उक्त च सकलनयार्थप्रतिपादकतापर्याप्त्याधिकरण वाक्य प्रमाणवाक्य-मिति । एतल्लक्षणत्वात्तादृशे स्थाने स्यात्कारपदलाञ्छितसकलनयार्थसमूहालम्बनमेकस्मिन् भङ्गेऽपि निषिद्ध नास्ति तस्माद्व्यञ्जनपर्यायस्य स्थाने २ भङ्गतार्थसिद्धिः समतिग्रन्थविषये दर्शितास्ति । तथा च तद्ग्रन्थगाथा ।

एवं सत्तवियप्पो वयणपहोहोइ अत्थ पज्जाए ।
वंजणपज्जाए पुण सविअप्पो निव्विअप्पोय । १ ।

अस्यार्थ । एव पूर्वोक्तप्रकारेण सप्तविकल्प सप्तप्रकारवचनमेव सप्तभगीरूपवचनपन्था स चार्थपर्यायो योऽस्ति नास्तित्वादिविषय एव भवति । पुनर्व्यञ्जनपर्यायो घटकुम्भादिशब्दवाच्यता तत्र विषये सविकल्पविधिरूपनिर्विकल्पकविधिरूपे द्वे एव भङ्गे स्त । परन्तु वक्तव्यादिभङ्गो न भवति । यस्मात्कारणादवक्तव्यशब्दविषय ब्रुवता विरोधोत्पत्ति । अथवा सविकल्पकशब्दसमभिरूढनयमते भवति । अपि च निर्विकल्पकशब्दैवंभूतनयमते त्वित्थ भङ्गद्वय ज्ञातव्यम् । अर्थनया प्रथमे चत्वारस्तु व्यञ्जनपर्याय-मेव नानुजानन्ति तस्मात्कारणात्तेषा नायानामिह प्रवृत्तिर्नास्ति । अत्राधिकयन्त्वनेकान्तव्यवस्थातो ज्ञातव्यम् । तदेवमेकत्र विषये प्रतिस्वमनेकनयविप्रतिपत्तिस्थले स्यात्कारपदलाञ्छिततावन्नयार्थप्रकारकसप्तधालम्बनबोधजनक एक एव भङ्ग एष्टव्यो । व्यञ्जनपर्यायस्थले भङ्गद्वयम् । यदि च सर्वत्र सप्तभङ्गीनियम एवाश्वासस्तदा चालनीयन्यायेन तावन्नयार्थनिषेधबोधको द्वितीयोऽपि भङ्गस्तन्मूलकाश्चान्ये तावत्कोटिका पञ्चभङ्गाश्च कल्पनीया । इत्थमेव निराकाङ्क्षसकलभङ्गप्रतिपत्तिनिर्वाहादिति युक्त पश्याम । अय विचार स्याद्वादपण्डितेन सूक्ष्मबुद्धिमता चेतसि धार्य । अथ फलितार्थं कथयति । इमा व्यावर्ण्यमाना सप्तभङ्गीं तत्त्वदृष्ट्या विमृश्यातिप्रौढियुक्तो यो भव्योऽभ्यासीकुर्यात्स आर्हती जैनी चरणपङ्कजभक्तिं प्राप्याचिरात्स्तोक-कालेन कतिपयभवग्रहणेन मोक्ष गच्छेत् ॥ १४ ॥

इति श्रीभोजविनिर्मिताया द्रव्यानुयोगतर्कणाया चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थः—इस रीतिसे एक वस्तुमें भेद पर्य्याय तथा अभेद पर्य्यायमें एक सप्त-भङ्गीकी योजना की, और इस ही प्रकार सर्वत्र योजना करनी चाहिये । अब शिष्य गुरुसे प्रश्न करता है कि हे स्वामिन् ! जहांपर केवल दो ही नयोंके विषयका विचार हो वहांपर एकको प्रधानतासे और दूसरेको गौणतासे सप्तभङ्गी उत्पन्न हो, परन्तु जहांपर प्रदेश, प्रस्थ, (अवयव, अवयवी) आदिके विचारसे सप्तम षष्ठ तथा पंचम आदि नयोंके भिन्न भिन्न विचार होते हैं वहा पर तो अधिक ही भङ्ग होंगे, उस समय सप्तभंगीका अर्थात् सात ही भंग हैं यह नियम कहां स्थिर होगा ? और इसी हेतुसे

सप्तभंगीका नियम नियामक नहीं दीख पडता. इस प्रकार पूछे हुए श्रीगुरुमहाराज कहते हैं कि हे शिष्य! परमार्थसे तेरा कहना सत्य है, क्योंकि जो तुमने गौण मुख्य व्यवहारका प्रदर्शन किया है वहा तो एक ही नयके अर्थकी मुख्यतासे विधि है और अन्य सब ही नयोंका निषेध है और इस प्रकारसे विधि और निषेधको मूलभागमे ग्रहण करके पुनः अनेक भंग किये जाते हैं ऐसी हमारी सम्मति है। और ऐसा कहा भी है कि "संपूर्णनयोके अर्थकी प्रतिपादकताके अर्थात् जिसकेद्वारा सपूर्ण नयोंके अर्थका कथन किया जाय उसके पर्य्यायाधिकरण वाक्यको प्रमाणवाक्य कहते है" इस प्रकारके लक्षणसे जहां संपूर्ण पदार्थोंका विवेचन होता है वहा स्याद्वादसे चिन्हित अर्थात् स्यात् शब्दसे युक्त सम्पूर्ण नयोंके अर्थोंके समूहका धारण करना एक भंगमे भी निषिद्ध नहीं हैं इस कारणसे व्यंजनपर्यायके स्थानमे तो केवल दो भगोंसे अर्थकी सिद्धि होती है ऐसा सम्मतिग्रंथमे दर्शाया है और उस ग्रन्थकी गाथा यह है इस प्रकार सप्तविकल्पसहित वचन (नय) का मार्ग अर्थपर्यायमे होता है और व्यञ्जनपर्यायमे तो सविकल्प विधिरूप तथा निर्विकल्प विधिरूप दो ही भंग होते हैं। इसका विशेष विवरण यों है कि इस प्रकार पूर्वोक्त रीतिसे सप्त विकल्प अर्थात् सप्त (सात) प्रकारके भेदसहित जो वचन है सो ही सप्तभङ्गीरूप वचनका मार्ग है, वह अर्थपर्यायमे अर्थात् अस्तित्व नास्तित्व आदिके विषयमें ही होता है और व्यञ्जनपर्याय जो घट कुम्भ आदि शब्दोंकी वाच्यता है वहांपर सविकल्प[1] विधिरूप तथा निर्विकल्प[2] विधिरूप दो ही भंग होते हैं, परन्तु अवक्तव्यत्व आदि भंग यहां नहीं होता, क्योंकि अवक्तव्य शब्दविषयको कहनेवालोंके विरोधकी उत्पत्ति होती है अथवा सविकल्प शब्द समभिरूढ[3] नयके मतमे अवक्तव्यत्व आदि भंग होता है और निर्विकल्प शब्द एवंभूत[4] नयमे, तो इस प्रकार दो ही भंग जानने चाहिये और पहले चार जो अर्थनय हैं वे तो व्यञ्जनपर्यायको ही नहीं जानते हैं, इसलिये उन नयोंकी यहा प्रवृत्ति नहीं है यहांपर विशेष वर्णन अनेकान्तव्यवस्थासे जानना चाहिये। इस कारण पूर्वोक्त प्रकारसे एक विषयमे प्रतिवस्तुमें जहां अनेक नयोंकी विप्रतिपत्ति हो वहांपर स्यात्कार (स्यात्) पदसे लाञ्छित उतने नयार्थका प्रकारवाला सात प्रकारका आलम्बनरूप जो बोध उस बोधको उत्पन्न करनेवाला अर्थात् सात प्रकारके नयार्थोंके प्रकारसे विशेषता वा अनुयोगिता सम्बन्धमे अपनेमें रखनेवाला जो ज्ञान उस ज्ञानका

---

१ भेदसहित अर्थात् पर्यायरूप भेदयुक्त। २ भेदशून्य द्रव्य नयसे सब भेदशून्य है।

३ अनेक प्रकारके अर्थोंमें गमन करनेकी और मुख्यसे समभिरूढ नय कहलाता है। जैसे परमैश्वर्ययुक्त होनेसे इन्द्र समर्थ होनेसे शक्र और शत्रुके नगरको विदीर्ण करनेसे पुरन्दर कहलाते हैं, ऐसे ही उन उन पर्यायित्वपनको प्राप्त होनेसे द्रव्य विविधरूप सयुक्त होनेसे पर्याय इत्यादि।

४ जिस रूपसे है उसीसे बोध करावै वह एवभूत नय है। जैसे ऐश्वर्ययुक्त हो वही इन्द्र, समर्थ होनेसे शक्र ऐसे ही पर्यायोमे जावे वह द्रव्य अनेक आकारयुक्त होनेसे पर्याय समझना चाहिये।

उत्पादक एक ही भंग इष्ट करना चाहिये ओर व्यञ्जनपर्यायस्थलमें पूर्वोक्त दो ही भंग समझने चाहिये और यदि सर्वत्र (अर्थ तथा व्यञ्जनपर्याय) स्थलमें सप्तभंगी नियमपर ही विश्वास है तो उस स्थलमें [1]चालनी न्यायसे उतने ही नयार्थोंके निषेधका बोधक भी दूसरा भंग और उसीको मूलाधारमें आश्रय करके उसी कोटिके अन्य पाँच भंगोंकी भी कल्पना करनी चाहिये क्योंकि इसी प्रकारसे निराकांक्ष संपूर्ण भंगोकी प्रतिपत्ति (बोध) निर्वाह होता है इसलिये हम इस ही सिद्धान्तको युक्तियुक्त देखते है और यह विचार सूक्ष्म बुद्धिके धारक स्याद्वादमतज्ञाता पुरुषको अपने चित्तमें धारण करलेना चाहिये अब इस चतुर्दशवें (१४) सूत्रका फलितार्थ कहते है कि—इस वर्ण्यमान सप्तभंगीको तत्त्वदृष्टिसे विचारपूर्वक विवेचन करके अतिप्रौढतायुक्त जो भव्य अभ्यास करेगा वह जिन भगवान्के चरणकमलोकी सेवाको प्राप्त करके अचिर काल अर्थात् थोड़ेसे भवोंको ग्रहण करके मोक्षको प्राप्त होगा ॥ १४ ॥

इति श्रीवैयाकरणाचार्योपाधिधारकपं० ठाकुरप्रसादद्विवेदिविरचितभाषाटीकासमलङ्कृताया द्रव्यानुयोगतर्कणाया चतुर्थोऽध्याय ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमाध्याये नयप्रमाणयोर्विवेचन करोति

अब इस पचम अध्यायमे नय तथा प्रमाणका विचार करते है।

एकोऽर्थस्तु त्रिरूपः स्यात्सत्प्रमाणावलोकितः ।
मुख्यवृत्त्योपचारेण जानीते नयवादवित् ॥ १ ॥

भावार्थः—एक ही पदार्थ सत्प्रमाणसे दृष्ट होनेपर तीन प्रकारका होजाता है और नयवादका जाननेवाला इस त्रिरूपताको मुख्य तथा उपचार वृत्तिसे जानता है ॥ १ ॥

व्याख्या । एकोऽर्थ घटपटादिर्जीवाजीवादिर्वा त्रिरूप, रूपत्रयोपेतो ज्ञेयो यथा द्रव्यगुणपर्यायरूप तथा हि घटादयो हि मृत्तिकादिरूपेण द्रव्याणि, घटगतरूपरसाद्यात्मकत्वेनानेके गुणा, घटादिरूपेण सजातीयद्रव्यत्वेन पर्याया । एव जीवादीनामपि ज्ञेयम् । एकोऽर्थस्त्रिरूप. स च कीदृश सत्प्रमाणावलोकित सत्प्रमाण स्याद्वादस्तेनावलोकितो दृष्ट. । यत प्रमाणेन सप्तभङ्ग्यात्मकत्वेन त्रिरूपत्व मुख्यद्वारा ज्ञेयम् । नयवादी ह्येकाशवादी स च मुख्यवृत्त्या तथोपचारेणैकस्मिन्नर्थे त्रिरूपत्व जानाति । यद्यपि नयवादिना एकाशवचनेन शक्तिरूप एकोऽर्थ कथ्यते । तथापि लक्षणारूपोपचारेणानेकेऽप्यर्था ज्ञायन्ते । एकदा वृत्तिद्वय न भवेत् पर निश्चयो नास्ति । गङ्गायां मत्स्यघोषावित्यादिस्थलेष्विव वृत्तिद्वयस्यापि मान्यत्वात् । तद्वदि-

---

[1] चालनीमे जलआदि डालोगे तो वह किसी न किसी ओर से निकल जायगा रुकेगा नही ऐसे ही द्रव्यार्थिक नयमे अभेद सिद्ध करोगे तो पर्यायार्थिक निमित्तक भेदका निषेध होगा, भेद मानोगे तो अभेदका निषेध होगा दोनोको एक कालमे लोगे तो वाच्यताका निषेध होगा इसी प्रकार किसीका निषेध और किसीका विधान होता रहेगा और सप्त भङ्ग बन जायेंगे ।

हापि मुख्यत्वेनामुख्यत्वेन चानन्तधर्मात्मकवस्तुज्ञापनायैकस्य नयशब्दस्य वृत्तिद्वयमङ्गीकुर्वता विरोधो नास्ति। अथवा नयात्मकशास्त्रस्य क्रमेण वाक्यद्वयेनाप्यर्थो ज्ञायते। अथवा एकपादद्वयोवशब्देनैकबोधार्थं एवमनेके भगा ज्ञेया ॥ १ ॥

व्याख्यार्थः—एक पदार्थ घट पटआदि अथवा जीव अजीवआदि तीन प्रकारका अर्थात् तीन रूपसंयुक्त होता है; प्रत्येक वस्तुको त्रिरूपसहित जानना चाहिये, और त्रिरूपता द्रव्य, गुण और पर्यायसे है जैसे घटआदि वस्तु मृत्तिकारूपसे द्रव्य हैं १ घटादिके रूप रसादिसे विवक्षा करो अर्थात् यह श्याम है, यह रक्त है, यह पीत है इस रीतिसे वे गुणरूप हैं २, और घटआदिरूप सजातीय द्रव्यत्वरूपसे विवक्षा करनेपर वे पर्य्याय हैं ३। इस प्रकार घटादिके तीन रूप होगये और ऐसे ही जीवादिकोंको भी जानना चाहिये अर्थात् जीव आत्मरूपसे द्रव्य है १, ज्ञान दर्शनादिकी विवक्षासे गुण है २ और देव मनुष्यादि पर्यायकी विवक्षासे पर्यायरूप है ३, अब वह एक पदार्थका त्रिरूप कैसा है कि—सत्प्रमाणसे अवलोकित (दृष्ट) है अर्थात् समीचीन (उत्तम) स्याद्वादरूप प्रमाणसे विचारित होनेसे पदार्थकी त्रिरूपता स्पष्टतासे भासती है, क्योंकि सप्तभंगीरूप जो प्रमाण[1] है, उससे वस्तुकी त्रिरूपता मुख्यवृत्तिसे जानी जाती है, और नयवादी अर्थात् एकअंशवादी[2] जो है वह मुख्यवृत्ति तथा उपचारसे भी एक पदार्थमें त्रिरूपताको जानता है। यद्यपि नयवादी एक अंशको कहनेवाले वचनसे शक्तिरूप[3] एक ही अर्थको कहता है, तथापि उपचारसे अर्थात् लक्षणाशक्तिसे[4] अनेक अर्थोंको भी वह जानलेता है। यद्यपि एक कालमें ही दो वृत्ति अर्थात् अभिधा और लक्षणाशक्ति नहीं होसकती, परन्तु यह सिद्धान्त निश्चित नहीं है क्योंकि "गङ्गाया[5]मत्स्यघोषौ" गंगामे मत्स्य तथा अहीरोंका ग्राम है, इत्यादि स्थलके तुल्य अन्यत्र भी एक कालमे ही दो शक्ति (अभिधा तथा लक्षणा) मान्य हैं। उसी प्रकारसे यहां भी मुख्यता तथा गौणतासे अनन्त धर्मस्वरूप वस्तुको जनानेके

१ सपूर्णरूपसे पदार्थके स्वरूपको जो सिद्ध करे वह सम्यग्ज्ञानरूप सप्तभगी नय यहा प्रमाण पदसे विवक्षित है क्योंकि "सकलादेश प्रमाणाधीन" सपूर्ण आदेश प्रमाणके आधीन है।

२ वस्तुके स्वरूपके किसी अशके प्रतिपादनको नय कहते हैं क्योंकि "विकलादेशो नयाधीन" खड, आदेश नयके, आधीन होता है।

३ जो अर्थको मुख्यवृत्तिसे प्रकाश करे वह अभिधा, लक्षणा तथा व्यजना ये तीन प्रकारकी शब्दमे शक्ति है और वाच्य, लक्ष्य, तथा व्यङ्ग्य, ये अर्थ भी तीन ही प्रकारके हैं, इसके अनुरोधसे शब्द भी वाचक लक्षक और व्यजक इन भेदोसे तीन प्रकारके हैं।

४ तात्पर्यकी अनुपपत्तिसे लक्षणाशक्तिसे वाक्यार्थ होता है "गङ्गाया घोष" गङ्गा नाम अभिधा शक्तिमे प्रवाहका है उसमे ग्राम नहीं रहसकता है, इसलिये गगापदकी गगातटमे लक्षणा की, तब गगा शब्द लक्षणाशक्तिमे गगातटका बोधक हुआ तब अन्वय बनगया क्योंकि गगातटमे अहीरोका ग्राम रह सकता है। ऐसे ही लक्षणासे एक नय अन्यार्थका भी बोध करावेगा तो पदार्थकी त्रिरूपताका बोधक हो जायगा।

५ यहा मत्स्यकेलिये तो गगामे वाचकताशक्ति और घोषकेलिये लक्षणा है।

लिये एक ही नयशब्दकी दो वृत्ति स्वीकार करनेवालोंको कोई विरोध नहीं है। अथवा नयप्रतिपादक शास्त्रके क्रमसे दो वाक्योसे भी अर्थ जान सकते हैं। अथवा एकार्थबोधक एक शब्दसे एक अर्थका बोध होता है और अन्य अर्थका अन्य शब्दसे, इस रीतिसे अनेक भंग भी समझलेने चाहिये ॥ १ ॥

अथोक्तमेवार्थं शब्दत्वेन ज्ञापयन्नाह ।

अब पूर्वोक्त विषयको ही सूत्रद्वारा प्रकाशित करते है।

द्रव्यार्थिकनयो मुख्यवृत्त्याभेदं वदंस्त्रिषु ।
अन्योन्यमुपचारेण तेषु भेदं दिशत्यलम् ॥ २ ॥

भावार्थः—द्रव्यार्थिकनय मुख्यवृत्ति अर्थात् वाचकता शक्तिसे द्रव्य, गुण, पर्याय तीनोंमे मृत्तिकारूपसे अभेद प्रकाश करता हुआ लक्षणाशक्तिसे उन तीनोंमे परस्पर भेद भी पूर्णरूपसे दर्शाता है ॥ २ ॥

व्या०—द्रव्यार्थिकनयो मुख्यवृत्त्या मुख्या प्रधाना शब्दार्थकथनपरा वृत्तिर्व्यापारो यस्य स तस्य भावस्तत्ता तया शब्दार्थादेशकत्वेन त्रिषु द्रव्यगुणपर्यायेष्वभेदं भेदाभाव वदन् कथयन् सन् यतो गुणपर्यायाभ्यां भिन्नस्य मृद्द्रव्यस्य विषये घटादिपदस्य शक्तिरस्तीत्येतेषामन्योन्यमभेदं प्रकटयन्पुनः स एव द्रव्यार्थिकनयस्तेषु द्रव्यगुणपर्यायेषु चान्योन्यं परस्परमुपचारेण लक्षणया भेदं भेदत्वमलमत्यर्थं दिशति । यतो द्रव्यं भिन्नं कम्बुग्रीवादिपर्यायेषु च तस्य घटादिपदस्य लक्षणावगम्यते । किं च मुख्यार्थबाधे तथैव मुख्यार्थसंबन्धे च सति तथाविधव्यवहारप्रयोजनेऽनुसृत्य तत्र लक्षणा प्रवर्त्ततेऽदुर्घटत्वात् । उक्तं च-मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽर्थप्रयोजनात् । अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपितक्रिया । १ । इति ॥ २ ॥

व्याख्यार्थः—द्रव्यार्थिक नय मुख्यवृत्तिसे अर्थात् शब्दार्थके कथनमें तत्पर व्यापार वाली अभिधाशक्तिसे शब्दके अर्थोंका प्रकाश करनेसे द्रव्य, गुण तथा पर्याय इन तीनोमे अभेद (भेदभाव)को कहता हुआ अर्थात् गुण और पर्यायसे भिन्न मृत्तिका रूप द्रव्यके कथनमें घटादि पदकी शक्ति है इस रीतिसे इन तीनोमें परस्पर अभेद प्रकाश करता हुआ पुनः वही द्रव्यार्थिक नय उन ही द्रव्य, गुण तथा पर्यायोमे उपचार (लक्षणाशक्ति)से भेदको भी पूर्ण रीतिसे प्रकट करता है, क्योकि द्रव्य भिन्न है और कम्बुग्रीवत्वआदि पर्यायोमे उस घटआदि पदकी लक्षणाशक्ति निश्चित होती है। और मुख्य अर्थके वधमे तथा मुख्य अर्थके संवन्ध रहते उसी प्रकारके व्यवहार तथा प्रयोजनका अनुसरण करके लक्षणाशक्ति प्रवृत्त होती है अन्यथा लक्षणाशक्तिकी प्रवृत्ति दुर्घट है। और ऐसा कहा भी है—मुख्यार्थके वाध होनेपर उस मुख्य अर्थसे संवन्ध रखनेवाले तथामे ही रूढिसे अर्थ [1]प्रयोजनसे

---

१ प्रयोजनवश लक्षणाके अनेक भेद हैं परन्तु मुख्यत. एक प्रयोजनवती और दूसरी निरुढा लक्षणा है। प्रथममे गगाशब्दका गगातट रूप अर्थ करनेसे यह प्रयोजन है कि—अहीरोका ग्राम अतिपवित्र तथा शैत्यादि धर्मयुक्त है। दूसरी निरूढा लक्षणा कुशलआदि शब्दोमे समझनी चाहिये अर्थात् कुशलका अर्थ कुशलानेवाला है परन्तु रूढिसे वह चतुरके अर्थमे वर्त्तता है यही निरूढा लक्षणा है।

जहां अन्य अर्थ लक्षित हो उस आरोपित क्रियाको लेके प्रवृत्त होनेवाली शक्तिको लक्षणाशक्ति कहते है जैसे कहा भी है कि—"**मुख्यार्थबाधे तद्योगे रुढितोऽर्थप्रयोजनात् ॥ अन्योर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपितक्रिया ॥१॥** भावार्थः—मुख्य अर्थका बाध होनेपर तथा उसका योग होनेपर अर्थ प्रयोजनसे जिससे रूढीसे भिन्न अर्थ लक्षित हो वह लक्षणा होती है ॥ १ ॥ जैसे "गङ्गायां घोषः" यहाँ गंगाका मुख्य-अर्थ प्रवाह है परन्तु उस मुख्य अर्थमे घोष (अहीरोके ग्राम) की अधिकरणता (आधारता)का बाध है इसलिये गंगासे संवन्ध रखनेवाले अन्य अर्थ गंगातटमे गंगाशब्दकी लक्षणा हुई तब "गङ्गायाम्" इस पदका अर्थ "गगातटे" (गगाजीके तटपर) "घोपः" ग्राम है यह अन्वय वनगया ऐसे ही यहा भी समझलेना ॥ २ ॥

अथोक्तमेव दृढयन्नाह ।

अब पूर्वोक्त अर्थको ही दृढ करते हुए कहते है ।

पर्यायार्थिक एवापि मुख्यवृत्त्यात्र भेदताम् ।
उपचारानुभूतिभ्यां मनुतेऽभेदतां त्रिषु ॥३॥

भावार्थः—और पर्य्यायार्थिक नय भी यहा मुख्यवृत्तिसे तो भेद भाव ही मानता है, परन्तु उपचार तथा अनुभवसे तीनोमे अभेद मानता है ॥ ३ ॥

व्याख्या । पर्यायार्थिकनय एवापि एवमेव प्रकारेणोक्तलक्षणेन मुख्यवृत्त्या प्रधानव्यापारेणात्र द्रव्यगुणपर्यायेषु भेदता भेदभाव ज्ञापयति । यत एतस्य नयस्य मते मृदादिपदस्य द्रव्यमित्यर्थं । १ । रूपादिपदस्य गुण इत्यर्थं । २ । घटादिपदस्य कम्बुग्रीवपृथुबुध्नादिपर्याय इत्यर्थं । ३ । इत्थ त्रयाणामपि मिथो नामान्तरकल्पना भिन्ना भिन्ना प्रदर्शिता । अतो द्रव्यगुणपर्यायाणा प्राधान्येन भेदोऽस्तीति ध्येयम् । तथा पुनरुपचारानुभूतिभ्यामुपचारो लक्षणा, अनुभूतिरनुभव, उपचारश्चानुभूतिश्च ताभ्या पर्यायार्थिकनयोऽप्यभेदतामभेदभाव द्रव्यादिषु त्रिषु मनुते । यतो घटादि मृद्द्रव्याद्यभिन्नमेवास्ति लक्षणया ज्ञानेन चेति । इमा प्रतीतिं घटादिपदाना मृदादिद्रव्येषु लक्षणाप्रवृत्त्याङ्गीकुर्वता न कदापि क्षतिरिति भावार्थं ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थः—पर्यायार्थिक नय भी इस ही पूर्वोक्त प्रकारसे अर्थात् मुख्यवृत्ति (प्रधान व्यापार) से इन द्रव्यादि तीनोंमे अर्थात् द्रव्य गुण पर्यायोमे भेदभाव ही ज्ञापित करता है । क्योंकि इस नयके मतसे मृत् (मृत्तिका) आदि पदका द्रव्य यह अर्थ है । १ । श्याम रक्त तथा पीतादि पदोका गुण यह अर्थ है । २ । और घटआदि पदका कम्बुग्रीव (शंखके तुल्य गलेसहित) तथा विशाल उदर सहितआदि पर्याय अर्थ है । ३ । इस प्रकार द्रव्य, गुण और पर्य्याय तीनोंकी नामान्तरकल्पना परस्पर भिन्न भिन्न प्रदर्शित की गई है, इससे यह सिद्ध हुआ कि—पर्यायार्थिक नयके अनुसार द्रव्य, गुण, पर्याय प्रधानतासे भिन्न भिन्न है ऐसा निश्चय करना चाहिये । और पुनः उपचार तथा अनुभवसे पर्यायार्थिक

नय भी द्रव्यादि तीनों पदार्थोंमें अभेद अर्थात भेदाभाव ही मानता है। क्योंकि मृत्तिका के बिना घट अनुपपन्न है, इसलिये लक्षणा तथा ज्ञानसे घटआदि पदार्थ मृत्तिकारूप द्रव्यसे अभिन्न ही है। घटआदि पदोंकी मृत्तिकाआदि द्रव्योंमें इस प्रतीतिको लक्षणा प्रवृत्तिसे माननेवालोंके कोई भी दोष नहीं है, यह सूत्रका तात्पर्य है ॥ ३ ॥

अथ पुनर्भेदमेव दर्शयन्नाह ।

अब पुनः भेदको ही दर्शाते हुए कहते है ।

गृह्णाति यो नयो धर्मौ मुख्यामुख्यतया तथा ।
तस्यानुसारतस्तेषां वृत्त्योपचारकल्पनम् ॥ ४ ॥

भावार्थः—जो नय मुख्यता तथा गौणतासे भेद अभेदरूप धर्मोंको ग्रहण करता है वहां उसीके अनुसार द्रव्य, गुण, पर्यायोकी वृत्तिसे उस उपचारकल्पनाका विधान होता है ॥ ४ ॥

व्याख्या । यो हि नयो द्रव्यार्थिकोऽथवा पर्यायार्थिक धर्मौ भेदाभेदात्मकौ प्राधान्यगौणतया गृह्णाति ऊहाख्यप्रमाणेन धारयति । तस्य नयस्य द्रव्यार्थिकस्य वा पर्यायार्थिकस्य मुख्यतया साक्षात्सङ्केतेन तथा वा व्यवहितसङ्केतेन चानुसृत्य तेषा द्रव्यगुणपर्यायाणा वृत्त्या तदुपचारकल्पन विधीयते । यथा गङ्गापदस्य साक्षात्सङ्केत प्रवाहरूपार्थविपयेऽस्ति तस्मात्प्रवाहेण शक्ति । तथा "गङ्गातीरे घोष:" गङ्गासङ्केतव्यवहितसङ्केतोऽस्ति । ततश्च यथोपचारस्तथा द्रव्यार्थिकनयस्य साक्षात्सङ्केतोऽभेदे नास्ति । तत्र शक्तिभेदेन व्यवहितसङ्केतोऽस्ति ततश्चोपचरितत्व तु पर्यायार्थिकनयस्यापि शक्त्योपचार गृहीत्वा भेदाभेदनयविषयेऽपि योजनीयम् ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थः—जो नय द्रव्यार्थिक हो अथवा पर्यायार्थिक हो भेद तथा अभेद स्वरूप धर्मको प्रधानता अथवा गौणतासे ग्रहण करता है अर्थात् जहा ऊहा नामक (कल्पना स्वरूप) प्रमाणसे धारण करता है वहापर उसी द्रव्यार्थिक वा पर्यायार्थिक नयकी मुख्यता अर्थात साक्षात्संकेत तथा गौणता अर्थात् व्यवहितसंकेतके अनुसार द्रव्य, गुण पर्यायोंकी वृत्ति (शक्ति)से उपचार कल्पनाका विधान होता है। तात्पर्य यह कि द्रव्यार्थिकनय प्रधानता (साक्षात् सङ्केत)से अभेदको प्रतिपादन करता है परन्तु वह गौणता (व्यवहित संकेत)से भेदको भी कहेगा, ऐसे पर्यायार्थिक नय प्रधानता (साक्षात्संकेत)से भेदको और गौणता (व्यवहित संकेत)से अभेदरूप धर्मको कहता है। जैसे गंगापदका प्रधानतासे साक्षात्संकेत प्रवाह (जलकी धारा)रूप अर्थमें है, इसलिये मुख्यतासे तो प्रवाहरूपसे ही शक्ति है तथा गंगातीरमें घोष है यहा तीररूप अर्थमें गंगा-संकेतसे व्यवहित संकेत है, इसलिये गंगापदसे गंगातीर साक्षात्रूप अर्थ उपचारसे हुआ। अब ऐसे ही द्रव्यार्थिक नयका संकेत तो अभेदरूप अर्थमें है, और उस नयकी

भिन्न शक्ति (लक्षणा शक्ति)से व्यवहित संकेत अर्थात् भेदरूप अर्थमें वृत्ति है, इस लिये भेदरूप अर्थ प्रतिपादनके अर्थ द्रव्यार्थिकनयकी उपचारसे प्रवृत्ति हुई। ऐसे ही पर्यायार्थिक नयकी भी मुख्य शक्ति तथा उपचार शक्तिको ग्रहण करके भेदाऽभेद नय विषयमें योजना करलेनी चाहिये, अर्थात् पर्यायार्थिक नय मुख्यवृत्ति अर्थात् वाचकता शक्तिसे भेदरूप अर्थको कहता है और उपचार अर्थात् लक्षणा शक्तिसे अभेदरूप अर्थको भी कहता है ॥ ४ ॥

कश्चित्कथयति एको नय एकमेव विषयं गृह्णाति तद्दूषयति ।

कोई प्रतिवादी कहता है कि एक नय एक ही विषय (भेद अथवा अभेदमे किसी एक अर्थ)को ग्रहण करता है। उस सिद्धान्तको अग्रिम श्लोकसे दूषित करते हैं।

यो भिन्नविषयो ज्ञाने सर्वथा नेति चेन्नयः ।
तदा स्वतन्त्रभावेन स स्यान्मिथ्यात्विगोचरः ॥ ५ ॥

भावार्थः—जो नय है वह ज्ञानमे निजसे भिन्न नयके विषयको गौणतासे भी सर्वथा नहीं कह सकता ऐसा यदि मानो तो वह नय स्वतन्त्रतासे मिथ्यात्वियोंके गोचर होगा ॥ ५ ॥

व्याख्या । यो नय ज्ञाने ज्ञानविषये भिन्नविषयो नयान्तरस्य मुख्यार्थं सर्वथा अमुख्यत्वेनापि न भासते। तदा स नय स्वतन्त्रभावेन सर्वथा नयान्तरविमुखत्वेन मिथ्यात्विगोचरो मिथ्यादृष्टिभिर्विवेचनीय कुदृष्टिपरिगृहीत स्यात् । एतावता दुर्नय एव भवति । परन्तु सुनयो न भवति । एव ज्ञेयम् । अनुभवेन विचार्यमाण कश्चिन्नय भिन्नविषयत्वान्नयान्तरमुख्यार्थत्वात्सर्वथा अमुख्यत्वादपि न भासते । तदा स्वतन्त्रत्वेन (नयान्तरविमुखत्वेन) च मिथ्यात्विना पार्श्वे स नयो निरन्तर तिष्ठतीति भाव ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थः—जो नय है वह ज्ञानमे भिन्नविषय अर्थात् अपनेसे भिन्न दूसरे नयके मुख्य अर्थको सर्वथा गौणतासे भी नही भासित करता है ऐसा मानोगे तो वह नय स्वतन्त्रतासे सर्वथा अर्थात् अन्य नयोंसे विमुख होनेसे मिथ्यादृष्टियोंद्वारा विवेचन करने योग्य होवे। अर्थात् मिथ्यादृष्टियोसे ग्रहण किया हुआ होवे भावार्थ–दुर्नय ही होवे और सुनय नहीं, ऐसा समझना चाहिये। भावार्थ यह है कि—अनुभवसे विचाराहुआ कोई नय भिन्न विषयको अर्थात् अन्य नयके मुख्य अर्थको गौणतासे भी सर्वथा नहीं कहता है तो वह नय स्व-

१ अनेकान्तवादमे वस्तुका स्वरूप ही अनेकान्त है तब नयस्वरूप अनेकार्थक क्यो न होगा क्योंकि प्रमाण और नयसे ही तो वस्तुकी विवेचना होती है यदि वह नय भेद अभेदादि अनेकार्थप्रतिपादक उपचारसे भी न रहा किन्तु किसी एक ही अर्थका प्रतिपादक रहा तब वह नय कुदृष्टियोका अर्थात् जैनमतसे भिन्न मतानुयायी जनोका ही विषय रहा, और कुद्रष्टियोसे गृहीत होनेके कारण वह दुष्ट नय होगया न कि सुनय अर्थात स्याद्वादके अनुकूल वह उत्तम नय नही होसकता ।

तंत्रभावसे अर्थात् अन्य नयसे विमुख होनेसे मिथ्यादृष्टियोंके ही निकट निरन्तर रहता है न कि स्याद्वादियोंके निकट ॥ ५ ॥

विशेषावश्यकेऽप्युक्तः संमतावर्थ एष च ।
भेदाभेदोपचाराद्याः सम्भवन्ति नयादिह ॥ ६ ॥

भावार्थः—भेद, अभेदआदिके उपचारआदि स्याद्वादमें नयसे ही होते हैं; यही अर्थ अर्थात् यही अभिप्राय विशेषावश्यक तथा संमतिग्रन्थमें कहा है ॥ ६ ॥

व्याख्या । अयमर्थो विशेषावश्यके तथा सम्मतिग्रन्थमध्य उक्तोऽस्ति । तथा च तद्गाथा—"दोहिं विणयेहिं णीय सत्थ मूलण्ण तहवि मिच्छत्त । जस्स विसय प्पहाण तणेण अणुण्णनिरवेक्ख ।१।" "स्वार्थग्राही इतरांशाप्रतिक्षेपी सुनय" इति सुनयलक्षणम् । "स्वार्थग्राही इतरांशप्रतिक्षेपी दुर्नय" इति दुर्नयलक्षणम् । एव नयान्तरविचाराच्च भेदाभेदग्राह्यव्यवहार सभवति । तथा नयसङ्केतविशेषाद्ग्राहकवृत्ति-विशेषरूप उपचारोऽपि सभवेत् । तस्माद्भेदाभेदयोर्मुख्यत्वेन प्रत्येकनयविषयो मुख्यामुख्यत्वेनोभयनयविषय-रूप उपचारश्च मुख्यवृत्तिवन्नयपरिकरो भवेत् परन्तु नयविषयो न भवति । अय च सरल पन्थाः श्वेताम्बरप्रमाणशास्त्रसिद्धो ज्ञेय । नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तदितरांशौदासीन्यता स प्रतिपत्तुरभिप्रायेण विशेषो नय इति । अत्रैकवचनमतन्त्रं तेनांशावंशा वा येन परामर्शविशेषेण श्रुतप्रमाण-प्रतिपन्नवस्तुनो विषयीक्रियते तदितरांशौदासीन्यापेक्षया स नयोऽभिधीयते । तदितरांशप्रतिक्षेपे तु तदाभासता भणिष्यते । प्रत्यपादयाम च स्तुतिद्वात्रिंशतिके "अहो चित्रं चित्रं तव चरितमेतन्मुनिपत, स्वकीयानामेषां विषमविषयव्याप्तिवशिनाम् । विपक्षापेक्षाणां कथयसि नयानां सुनयतां, विपक्षक्षेप्तृणां पुनरिह विभो दुष्टनयताम् । १ ।" पञ्चाशतिके च—"निश्शेषांशजुषां प्रमाणविषयीभूय समासेदुषां, वस्तूनां नियतांशकल्पनपराः सप्तश्रुता सङ्गिन । औदासीन्यपरायणास्तदपरेचांशे भवेयुर्नया, श्चेदेकांशकलङ्कपङ्ककलुषास्ते स्यु. सदा दुर्नया । १ ।" इति ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थः—यह अभिप्राय विशेषावश्यकनामक ग्रन्थ और सम्मति ग्रन्थमें कहा है और उस ग्रन्थकी गाथाका अभिप्राय यह है कि "यद्यपि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों मूल नयोंसे शास्त्र जानाजाता है तथापि जो नय अपना ही विषय प्रधान रखता है और परस्परकी अपेक्षा नहीं रखता अर्थात् दूसरे नयके मुख्य अर्थको गौणतासे भी नहीं कहता उसको मिथ्यात्व (दुर्नय) जानना चाहिये । १ । तथा स्वार्थका ग्राही हो और अन्य अर्थका निषेधक न हो वह सुनय है अर्थात् निज प्रधानशक्ति जो अपने अर्थको कहे उसको तो ग्रहण करे और अन्य नयके अर्थका तिरस्कार न करे किन्तु उपचारसे उस दूसरे नयके अर्थका भी कथन करे वह सुनय है । यही सुनयका लक्षण है । और जो केवल स्वार्थ-मात्रका ग्राही हो और अन्य अर्थका निषेधक हो वह दुर्नय है । यह दुर्नयका लक्षण है । इस प्रकार नय अर्थात् नयके विचारसे द्रव्य, गुण, पर्यायोंमें भेद तथा अभेदको ग्रहण

करने योग्य व्यवहारका संभव है। और नयके संकेत विशेषसे ग्राहक जो शक्तिविशेष है उसरूप उपचारका भी संभव है। इसलिये भेद तथा अभेदमे मुख्यतयासे प्रत्येक नयका विषय है अर्थात् एक अर्थकी प्रतिपादता प्रत्येक नयमे है। और मुख्य तथा अमुख्यता—(गौणता)से द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक इन दोनों नयोंके विषयरूप जो उपचार है वह मुख्य वृत्तिके सदृश नयका परिकर होता है परन्तु नयका विषय नहीं होता यह सरल मार्ग श्वेताम्बर मतके प्रमाण (न्याय) शास्त्रसे सिद्ध है ऐसा जानना चाहिये क्योंकि श्रुतनामक प्रमाणसे विषयमे कियेहुए पदार्थका अंश जिसके कहे हुए अन्य अंशकी उदासीनतासे प्राप्त किया जाय वह प्रतिपत्ता (बोद्धा)का जो अभिप्राय विशेष है सो नय कहलाता है। 'श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशः' यहां पर "अंश." यह जो एक वचन दिया गया है वह स्वाधीन नहीं है इस कारण 'अंशौ अंशाः वा' इस प्रकार द्विवचन तथा बहुवचन भी लगा लेना चाहिये। जिस परामर्श (ज्ञान) विशेषसे श्रुत प्रमाणद्वारा ग्रहण किएहुए पदार्थका एक अंश दो अंश अथवा बहुतसे अंश विषयगोचर किये जावें और उससे भिन्न अंश वा अंशोंको उदासीनतासे विषयी किये जाय वह नय कहाजाता है। और जो वस्तुके विवक्षित अंगसे भिन्न अंश वा अंशोका प्रतिक्षेप अर्थात् निषेध करे उसको आगे नयाभास कहेंगे। और स्तुति द्वात्रिंशतिकामे प्रतिपादित भी किया है कि—हे मुनीन्द्र! हे विभो श्रीजिनेन्द्र! आपका यह चरित अत्यन्त विस्मयको उत्पन्न करता है वह चरित क्या है कि—आप अपने इन विषम विषयव्याप्तिके वशीभूत हुए जो नय विपक्षकी अर्थात् अपने स्वीकृत अर्थसे विमुख अन्यनयोसे विवक्षित अर्थकी अपेक्षा रखते हैं अर्थात् गौणतासे उनका भी कथन करते हैं उन नयोके सुनयता कहते हो और जो अन्य नयद्वारा स्वीकृत अर्थ है उसको निषेध करनेवाले जो नय हैं उनको दुष्ट नय (दुर्नय) कहतेहो ॥ १ ॥ और पञ्चाशतिक नामक ग्रन्थमे भी प्रतिपादित किया है कि—संपूर्ण अंशोंको अर्थात् अनन्त धर्मोंको धारण करनेवाले और प्रमाणकी विषयीभूतताको प्राप्तहुए पदार्थोंके नियत अंश (धर्म) कल्पना करनेमे तत्पर सात सङ्गी है उनमे जो अपने कल्पित अंशसे भिन्न अंशमे उदासीनताको धारण करते हैं वे नय होते हैं और जो एक अपने ही अंशकी कल्पनारूप कलङ्क पङ्क (दोषमय कर्दम)से मलीन हो अर्थात् एक ही अपने कल्पित अर्थ को तो स्वीकार करें और अन्य अंशोंका निषेध करें तो वे सातो सदा दुर्नय होते हैं ॥ २ ॥ ६ ॥

पुनर्भावं कथयन्नाह ।

पुनः नयके भावको कहते हुए यह सूत्र कहते हैं।

ये मार्गं सरलं त्यक्त्वोपनयान्कल्पयन्ति वै ।
तत्प्रपञ्चं विबोधाय तेषां जल्प. प्रतायते ॥७॥

भावार्थः—जो इस सरल श्वेताम्बरमतानुसारी नयमार्गको त्यागकर उपनयों

की कल्पना करते हैं, उनका प्रपञ्च केवल शिष्योंकी बुद्धिको विवादिनी करनेवाला है। तथापि ज्ञानके अर्थ उन उपनयोंके कथनका विस्तार करते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या। ये च केचन कल्पका सरल सममेतदुक्तलक्षण मार्गं नयनिगमपन्थान त्यक्त्वा विमुच्य उपचारादि ग्रहीतुमिच्छयोपनयान्नयाना समीप उपनयास्तान् कल्पयन्ति। दिगम्बरशास्त्रे हि द्रव्यार्थिक. १ पर्यायार्थिक २ नैगम ३ सङ्ग्रह ४ व्यवहार ५ ऋजुसूत्रम् ६ शब्द ७ समाभिरूढ ८ एवभूतः ९ इति नव नया स्मृता उपनयाश्च कथ्यन्ते नयाना समीपमुपनया' सद्भूतव्यवहार १ असद्भूतव्यवहार २ उपचरितसद्भूतव्यवहार– ३ इत्येवमुपनयास्त्रेधा इति। तत्प्रपञ्च तद्विस्तार शिष्यबुद्धिदुन्द्वनमात्रमेवास्ति। तथापि विबोधाय समानतन्त्रत्वेन परिज्ञानाय तेषा नयाना जल्प उल्लाप. प्रतायते स्वप्रक्रियया उच्यत इत्यर्थ. ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थः—जो कोई कल्पक (कल्पना करनेवाले) इस पूर्वोक्त सरल नयनिगम-मार्गको त्यागकर उपचारआदिक ग्रहण करनेकी अभिलाषासे उपनयोंकी अर्थात् नयोके समीप होनेवाले जो उपनय है; उनकी कल्पना करते हैं, भावार्थ—दिगम्बरोंके न्यायशास्त्रोंमे द्रव्यार्थिक १ पर्यायार्थिक २ नैगम ३ संग्रह ४ व्यवहार ५ ऋजुसूत्र ६ शब्द ७ समभिरूढ ८ और एवंभूत ९ ये नौ (९)नय मानेगये है; और सद्भूतव्यवहार १ असद्भूत असद्भूतव्यवहार २ तथा उपचरितसद्भूतव्यवहार ये तीन (३) प्रकारके उपनय (उपनयका अर्थ है; नयके समीप रहनेवाले क्योकि—उप अव्ययका समीप अर्थ है। इसलिये उपका नय शब्दके साथ अव्ययीभाव समास है) कहेगये हैं। उनका विस्तार केवल शिष्योकी बुद्धिको विवादशील करनेवाला है। तथापि दिगम्बरशास्त्र हमारे समान ही है इसलिये उसके ज्ञानकेलिये उन नयोंका जल्प (कथन) करते हैं, अर्थात् इन नय तथा उपनयोंका निरूपण हम हमारी प्रक्रियाके अनुसार करते हैं, इस प्रकार श्लोकका अर्थ है ॥ ७ ॥

नया न्यायानुसारेण नव चोपनयास्त्रयः।
निश्चयव्यवहारौ हि तदध्यात्ममतानुगौ ॥ ८ ॥

भावार्थः—न्यायके अनुसार नय (९) हैं; और उपनय तीन हैं, तथा एक अध्यात्मनामक मत है, उसके अनुसार निश्चय और व्यवहार ये दो ही नय है ॥ ८ ॥

व्याख्या। न्यायानुसारेण तन्मतीयग्रन्थगताभिप्रायेण नया नव सन्ति पूर्वोक्ता ज्ञेया.। तथोपनयास्त्रय एव सन्ति। तेऽप्युपनया. सद्भूतव्यवहारादयस्त्रय इति। तथा चाध्यात्ममपि मतभेद कश्चिदस्ति। तत्र च तदध्यात्ममतानुगौ तच्छैलीपरिशीलिनौ नयौ निश्चयेन द्वावेव कथितौ तत्रैको निश्चयोऽपरो व्यवहारनयश्चेति द्वावेव नाधिकौ। अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चय'। यथा "जीव शिव शिवो जीवो नान्तर शिवजीवयो" रिति। भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहार। यथा "कर्मबद्धो भवेज्जीव. कर्ममुक्तस्तदा शिव" इति ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थः—न्यायके अनुसार अर्थात् दिगम्बरमतके ग्रन्थोंमे प्राप्त अभिप्रायसे नव संख्याक (गिनतिमें नौ) (९) नय हैं। इनके नाम पूर्वश्लोकमे गिना चुके हैं, वहांसे जानने चाहिये। तथा उपनय तीन ही है, वे उपनय भी पूर्वकथित सद्भूतव्यवहारादि तीन समझने चाहिये। और अध्यात्मनामक कोई मतभेद है। उनमेसे उस अध्यात्ममतकी शैलीके अनुसार निश्चयसे दो ही नय कहेगये है, उनमे एक तो निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय है। इनसे अधिक नहीं, अभेद तथा अनुपचारसे जिसके द्वारा वस्तु निश्चय करी जाती है, वह निश्चयनय है। जैसे—"**जीवः शिवः शिवो जीवो नान्तरं शिवजीवयोः** ॥ १ ॥" "जीव शिव (सिद्ध)रूप ही है, शिव जीवरूप ही है, शिव और जीव इन दोनोमे कोई भेद नहीं हे," इस वचनमे अनुपचारसे जीव और शिवका अभेद दर्शाया गया है। और भेद तथा उपचारसे जिसकेद्वारा वस्तुका व्यवहार हो उसको व्यवहार नय कहते है। जेसे—**कर्म्मबद्धो भवेज्जीवः कर्म्ममुक्तस्तदा शिवः । १ ।**" "कर्मोंसे जो वधा हुआ होता हे, वह जीव है, और जब वह जीव कर्मोंसे मुक्त होता है; तब शिवरूप है," इस वाक्यमे कर्मबन्धनद्वारा जीव और शिवका भेद दर्शाया है ॥ ८ ॥

अथ नवसु नयेषु प्रथमो द्रव्यार्थिकनय उक्तोऽतस्तस्य भेदा दश तेषु प्रथमभेदं विवरिषुराह ।

अव पूर्वोक्त जो नौ (९) नय हैं, उनमें द्रव्यार्थिक नय सवसे प्रथम कहागया है, इसलिये उसके १० भेदोमे से प्रथम भेदका विवरण करनेकी इच्छावाले आचार्य अग्रिम श्लोक कहते हैं।

द्रव्यार्थिकनयस्त्वाद्यो दशधा समुदाहृतः ।
शुद्धद्रव्यार्थिकस्तत्र ह्यकर्मोपाधितो भवेत् ॥ ९ ॥

भावार्थ—नयोंमेसे प्रथम द्रव्यार्थिकनय जो है, वह दस प्रकारका कहागया है, उन दसों भेदोमे कर्मकृत उपाधियोसे रहित शुद्ध द्रव्यार्थिकनय प्रथम (पहला) है ॥ ९ ॥

व्याख्या। द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकादिक्रमेण नया नव वर्त्तन्ते तेषु आद्य प्रथमो द्रव्यार्थिकनय आद्यो दशधा दशप्रकार समुदाहृत । तत्र च प्रथमो द्रव्यार्थिकनय शुद्धद्रव्यार्थिक इति अकर्मोपाधित कर्मणामुपाधितो रहित. शुद्धद्रव्यार्थिक कथ्यते । सद्द्रव्यम् । लक्षणत्विदम्—सीदति स्वकीयान् गुणपर्यायान् व्याप्नोतीति सत् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्, अर्थ क्रियाकारि च सत् । यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् । यच्च नार्थक्रियाकारि तदेव परतोऽप्यसदिति निज २ प्रदेशसमूहैरखण्डवृत्त्यास्वभावविभावपर्यायाद्द्रवति, द्रोष्यति, अदुद्रुवदिति द्रव्यम् । गुणपर्यायवद्द्रव्यम् गुणाश्रयो द्रव्य वा । यदुक्त विशेषावश्यकवृत्तौ-दवए दूयए दोरवयवो विकारो गुणाण सदावो दव्व भव्व भावस्स भूयभाव च ज जोग । १ । द्र-

यति तास्तान्पर्यायान् प्राप्नोति मुञ्चति वा । १ । द्रूयते स्वपर्यायैरेव प्राप्यते मुञ्चते वा ।२। द्रु: सत्ता तस्या एवावयवो विकारो वेति द्रव्यम् । ३ । ४ । अवान्तरसत्तारूपाणि द्रव्याणि महासत्ताया अवयवो विकारो भवत्येवेति भाव ॥ गुणा रूपरसादयस्तेषा सद्राव समूहो घटादिरूपो द्रव्यम् । ५ । तथा भवन भाव-म्मतिर्भविष्यतीति भावस्तस्य भाविन पर्यायस्य योग्य यद्द्रव्य तदपि द्रव्यम्, राजपर्यायार्हकुमारवत् । ६ । तथा भूत हि पश्चात्कृतो भाव पर्यायो यस्य तदपि द्रव्यमिति दिक् । तदेव द्रव्यमर्थं प्रयोजन यस्यासौ द्रव्यार्थिक । अस्त्यर्थे ठक् प्रत्यय' । शुद्ध कर्मोपाधिरहितश्चासौ द्रव्यार्थिकश्च शुद्धद्रव्यार्थिक इति ॥६॥

व्याख्यार्थः—द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिकादि क्रमसे जो नय कहेगये हैं, उनमेसे प्रथम नय द्रव्यार्थिक नय है, उसके दश भेद हैं; उनमे कर्मोंकी उपाधिसे शून्य प्रथम द्रव्यार्थिकनय शुद्धद्रव्यार्थिकनय कहाजाता है। यहापर "सद्द्रव्य" जो सत् है, वह द्रव्य है। जो अपने गुण पर्यायोंको व्याप्त करे सो सत् है, उत्पाद (उत्पत्ति) व्यय (नाश) ध्रौव्य (ध्रुवता वा नित्यता) से जो युक्त हो उसको सत् कहते है। क्योकि—**उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्,** यह तत्त्वार्थ शास्त्रका सूत्र है। जो अर्थ क्रियाको करनेवाला है, वह सत् कहलाता है, क्योंकि—जो पदार्थ अर्थक्रियाकारक (प्रयोजनसिद्ध करनेवाला) है, वही परमार्थमें सत् है। और जो पदार्थ अर्थक्रिया नहीं करता वह परसे भी असत् है। ये सब सत्के लक्षण हैं॥ जो निज २ प्रदेशसमूहोंकेद्वारा अखण्डवृत्त स्वभाव तथा विभाव पर्यायसे द्रवता है, द्रवेगा अथवा द्रवागया सो द्रव्य है। जो गुण तथा पर्याय-वाला है, उसको द्रव्य कहते है, अथवा जो गुणोंका आश्रय है, वह द्रव्य कहलाता है। यही विषय विशेषावश्यक सूत्रकी वृत्तिमे कहा है कि—जो द्रवाता है, अथवा द्रवा जाता है, सत्ताका अवयव है, सत्ताका विकार है, गुणोंका संद्राव (समूह) है, जो भावका भव्य है; जिसका पर्याय पहले कियागया है; सो सब द्रव्य है; अर्थात ये सब पृथक् २ द्रव्यके लक्षण है, (यह तो गाथाका भावार्थ है; और आगे इस ही गाथाकी व्याख्या करते हैं) जो उन उन पर्यायोंको प्राप्त हो अथवा त्यागे सो द्रव्य है। १। जो अपने पर्यायोंसे प्राप्त किया जाय वा छोडा जाय वह द्रव्य कहलाता है।२। द्रु नाम सत्ताका है; उसहीका जो अवयव हो सो द्रव्य है ।३। अथवा सत्ताहीका जो विकार हो उसको द्रव्य कहते हैं।४। भावार्थ—अवान्तर (मध्यमें होनेवाले) जो सत्तारूप द्रव्य हैं, वे महासत्ताके अवयव अथवा विकार होते ही हैं। गुण जो रूप रसआदि हैं; उनका जो संद्राव (संमेलन वा समूह) घटआदिरूप पदार्थ है; वह भी द्रव्य है।५। जो होगा सो भाव है; उस भावी पर्यायके योग्य जो पदार्थ है; वह भी द्रव्य है। जैसे राजकुमारमे

---

१ "द्रु का अर्थ सत्ता धातुवोंको अनेकार्थक मानके किया है तव द्रु शब्दसे ॥ तस्य विकार—पा. ४।३।१३४ इस अधिकारमे" दोष्ठ । पा० ४।३।१६१। इस सूत्रमे यत् प्रत्यय होनेसे द्रु×य=द्रो×यं= द्रव्यम् । ऐसे द्रव्य शब्द सिद्ध हुआ ।

राजापर्यायकी योग्यता है, अतः वह राजकुमार राजारूप पर्यायका द्रव्य है । ६ । और ऐसे ही जिसका भाव (पर्याय) पूर्वकालमे किया गया है, वह भी द्रव्य है । ७ । ये सर्व द्रव्यके लक्षण है । यही पूर्व अनेक प्रकारसे व्याख्यात द्रव्य ही है, प्रयोजन जिसका उसको द्रव्यार्थिकनय कहते है । द्रव्यार्थिक इस शब्दमे व्याकरणकी रीतिसे प्रयोजन है, इस अर्थमे "ठक्" प्रत्यय है, और उसको इक आदेश होनेसे द्रव्यार्थ + इक — होकर द्रव्यार्थिक ऐसा शब्द सिद्ध होता है । शुद्ध अर्थात् कर्मोंकी उपाधिसे रहित ऐसा जो द्रव्यार्थिकनय है, उसको शुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहते हैं ॥ ९ ॥

अथ तस्य द्रव्यार्थिकस्य शुद्धताया विपय दर्शयन्नाह ।

अव उस द्रव्यार्थिकनयकी शुद्धताका विपय दर्शाते हुए यह सूत्र कहते हैं ।

यथा संसारिणाः सन्ति प्राणिनः सिद्धसन्निभाः ।
शुद्धात्मानं पुरस्कृत्य भवपर्यायतां विना ॥ १० ॥

भावार्थः—जो संसारकी पर्यायताको ग्रहण करके अन्तरङ्गमे विद्यमान शुद्ध आत्माको आगे करके कथन करता है, वह शुद्धद्रव्यार्थिकनय है; जैसे संसारके प्राणी सिद्धोंके समान हैं ॥ १० ॥

व्याख्या । प्राणा द्रव्यभावभिन्ना सन्ति एषा ते प्राणिन । ससारो गतिचतुष्काविर्भाव सोऽस्ति येषा ते ससारिणा । यथा येन प्रकारेण शुद्धात्मत्वादिलक्षणेन सिद्धसन्निभा अष्टकर्मनिर्मुक्तजीवनिभा विद्यन्ते । किं कृत्वा सन्ति शुद्धात्मान मूलभाव तथा सहजभाव शुद्धात्मन स्वरूप पुरस्कृत्याग्रे कृत्वा कथ विना केन विना भवपर्यायिता भव' ससारस्तस्य पर्यायो भावस्तत्ता भवपर्यायिता ता विना । एतावता या चानादिकालिकी जीवस्य ससारावस्था वर्त्तते सा प्रस्तुतापि न गण्यते । अविद्यमानोऽपि बाह्याकारणे सिद्धाकारस्तथापि गृह्यतेऽन्तरविद्यमानत्वात् । तदायमात्मा शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन सिद्धसम एवास्तीति भाव । अत्र भावमात्रपरा द्रव्यसङ्ग्रहगाथा । मग्गणगुणठाणेहिं चउदशाहिं हवंति तह असुद्धणया । विण्णेया ससारी सव्वे सुद्धाहु सुद्ध णया । १ ॥ १० ॥

व्याख्यार्थः[1]—जैसे भव जो संसार उसका जो पर्याय अर्थात् भाव उसका जो भाव है, उसके विना अर्थात् संसारकी पर्यायताके विना, शुद्ध आत्माको अर्थात् मूल भाव अथवा सहजभावरूप शुद्ध आत्माके स्वरूपको आगे करके, नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देव इन चारों गतियोंके आविर्भावको ससार कहते हैं, वह संसार जिनके होय अर्थात् जिन जीवोंके पूर्वोक्त नरकआदि चार गतियोंमेसे किसी एक गतिका आविर्भाव (प्रकटता) है; वे संसारी कहलाते है द्रव्य तथा भाव ये दोनों प्राण जिनके हैं वे प्राणी हैं संसारी ऐसे जो प्राणी वे सिद्धोंके समान है, अर्थात् ज्ञानावरणआदि

---

१ व्याख्या खण्डान्वय से है परन्तु व्याख्यार्थ अच्छी प्रकारसे अर्थका बोध होनेके लिये दण्डान्वयके अनुसार लिखा गया है ।

आठों कर्मोंसे रहित जीवोंके समान विद्यमान है। तात्पर्य यह कि—जब जीवके जो अनादिकालसे संसारकी अवस्था विद्यमान है; उसकी तो प्रस्तुतकी भी गणना (गिणती) न की जाय और बाह्य आकारसे अविद्यमान जो सिद्ध स्वरूप है; उसको अभ्यन्तरमें विद्यमान होनेसे ग्रहण करे तब यह आत्मा शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे सिद्धोंके समान ही है; यहां पर भावमात्रसे शुद्ध आत्माका बोध करनेमे तत्पर द्रव्यसंग्रहकी गाथा भी है उसका भावार्थ यह है; कि—चतुर्दश १४ गुणस्थान तथा चतुर्दश मार्गणस्थानके भेदसे चतुर्दश १४ प्रकारके संसारी जीव अशुद्धनयकी विवक्षासे होते हे और शुद्धनयकी विवक्षा भावमात्रके ग्रहण करनेसे तो सब जीव शुद्ध ही समझने चाहिये। १। ॥ १० ॥

अथ द्वितीयभेदमुपदिशन्नाह ।

अब दूसरे भेदका उपदेश करते हुए कहते हैं ।

उत्पादव्ययगौणे सत्तामुख्यतया परः ।
शुद्धद्रव्यार्थिको भेदो ज्ञेयो द्रव्यस्य नित्यवत् ॥११॥

भावार्थः—उत्पाद (उत्पत्ति) और व्यय (नाश) इनकी गौणता माननेसे तथा सत्ता (ध्रुव अथवा नित्यरूप) की मुख्यता माननेसे सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय द्रव्यकी नित्यताके समान समझना चाहिये ॥ ११ ॥

व्याख्या । उत्पादस्य व्ययस्य च गौणतायां तथा सत्ताया ध्रुवात्मकतायाश्च मुख्यतायामपर इति द्वितीयो भेद शुद्धद्रव्यार्थिकस्य ज्ञेय । यत उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिको नाम द्वितीयो भेदः ।२। अस्य मते द्रव्य नित्यं गृह्यते । नित्य तु कालत्रयेऽप्यविचलितस्वरूप सत्तामादायैवेद युज्यते । कथ पर्यायाणा प्रतिक्षण व्वमिनां परिणामित्वेनानित्यत्वोपलब्धे. । परन्तु जीवपुद्गलादिद्रव्याणा सत्ता अव्यभिचारिणी नित्यमाव्मलव्य त्रिकालामिचलितस्वरूपावतिष्ठते । ततो द्रव्यस्य नित्यवदिति द्रव्यस्य नित्यत्वेन द्वितीयो भेदः ॥११॥

व्याख्यार्थः—पर्यायादिके उत्पाद और व्ययकी गौणतासे विवक्षा करनेपर तथा ध्रुव (नित्य) स्वरूप सत्ताकी मुख्यतासे विवक्षा करनेपर अपर अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका दूसरा भेद जानना चाहिये। क्योकि-जब उत्पत्ति और नाश गौण हुए तब केवल सत्तामात्रका ग्राहक वह नय रहा इसलिये यह द्रव्यार्थिकनयका सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नामवाला दूसरा भेद है। इस नयके मतमें द्रव्यका नित्य स्वरूपसे ग्रहण होता है। और नित्य जो है, सो भूत, भविष्यत् वर्तमान इन तीनों कालोंमें अविचलितस्वरूप है और यह त्रिकालमें अविचलितस्वरूप नित्य सत्ताको ग्रहण करके ही ठीक होता है। क्योंकि-क्षण क्षणमे विनाशशील पर्यायोंके परिणामीपना है, अतः उन पर्यायोंमे अनित्यताकी उपलब्धि होती है; परन्तु जीव पुद्गलआदि द्रव्योंकी जो सत्ता है, वह सदा अ-

व्यभिचारिणी है अर्थात् नित्यभावका आश्रय करके तीन कालमे अविचलितस्वरूप (अटलरूप) रहती है । इसलिये द्रव्यके नित्यपनेसे यह सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक नामक द्रव्यार्थिकनयका द्वितीय भेद सिद्ध होगया ॥११॥

अथ तृतीयभेदमुपदिशन्नाह ।

अब तृतीय भेदको दर्शाते हुए कहते हैं ।

कल्पनारहितो भेदः शुद्धद्रव्यार्थिकाभिधः ।
तृतीयो गुणपर्यायादभिन्नः कथ्यते ध्रुवम् ॥१२॥

भावार्थः—जो गुण तथा पर्यायसे अभिन्न है वह भेदको कल्पनासे रहित शुद्ध द्रव्यार्थिक नामवाला द्रव्यार्थिकनयका तीसरा भेद कहा जाता है ॥ १२ ॥

व्याख्या । भेदकल्पनया रहित कल्पनारहितस्तृतीयो भेद शुद्धद्रव्यार्थिकनामास्ति ।३। यथा जीवद्रव्य पुद्गलादिद्रव्य च निजनिजगुणपर्यायेभ्यश्चाभिन्नमस्ति । यद्यपि भेदो वर्त्तते द्रव्यादीना गुणपर्यायेभ्यस्तथापि भिन्नविषयिण्यर्पणा न कृता । अभेदाख्यैवार्पणा कृता अत कारणाद्यद्द्रव्य तत्तद्द्रव्यजन्यगुणपर्यायाभिन्न तिष्ठति यदेव द्रव्य तदेव कृणो यदेव द्रव्य तदेव पर्यायो महापटजन्यखण्डपटवत्तदात्मकत्वात् । अत्र हि विवक्षावशाद्भिन्नाभिन्नत्व ज्ञेयमिति ॥१२॥

व्याख्यार्थः—भेदकी कल्पनासे रहित होनेसे कल्पनारहित तृतीय भेद शुद्धद्रव्यार्थिक नामक है, अर्थात् द्रव्यार्थिकनयके तीसरे भेदका नाम "कल्पनारहित शुद्धद्रव्यार्थिक है । जैसे जीव द्रव्य तथा पुद्गलआदि द्रव्य अपने अपने गुण तथा पर्यायोंसे अभिन्न है, यद्यपि द्रव्यआदिके गुण तथा पर्यायोसे भेद भासता है, तथापि भेदके विषयवाली अर्पणा नहीं की, अभेदनामक ही अर्पणा की । इस हेतुसे जो द्रव्य है, वह उस द्रव्यसे उत्पन्न होने योग्य गुण और पर्यायोंसे अभिन्नरूप स्थित है, क्योंकि-जो द्रव्य है, वही गुण है, जो द्रव्य है, वही पर्याय है, तदात्मकपनेसे, जैसे कि-महापट (बड़े वस्त्र) से उत्पन्न खण्ड पट (छोटा वस्त्र) भावार्थ-एक बडे वस्त्रको फाडकर उसमेसे छोटा वस्त्र निकाले तो वास्तवमे वह छोटे वस्त्ररूप पर्याय बडे वस्त्ररूप द्रव्यसे अभिन्न ही है, क्योकि—वह छोटा वस्त्र बडे वस्त्रस्वरूप ही है, ऐसे ही जितने गुण और पर्याय है, वे तदात्मकतासे द्रव्यरूप ही है। यहा द्रव्य और पर्यायका भेद तथा अभेद विवक्षाके वशसे जानना चाहिये अर्थात् जब द्रव्यस्वरूपसे विवक्षा करेंगे तब तो द्रव्यपनेसे सब गुण, पर्याय अभिन्न हैं; और जब पर्यायरूपसे विवक्षा करेंगे तब सब गुण पर्याय द्रव्यसे भिन्न हैं ॥ १२ ॥

अथ चतुर्थभेदमाह ।

अब चतुर्थभेदका कथन करते है ।

कर्मोपाधेरशुद्धाख्यश्चतुर्थो भेद ईरितः ।
कर्मभावमयस्त्वात्मा क्रोधो मानी तदुद्भवात् ॥१३॥

भावार्थः—कर्मोंकी उपाधिके कारण अशुद्धद्रव्यार्थिक चतुर्थ भेद कहागया है; क्योंकि–कर्मोंकी प्रकृतिमय होनेसे क्रोधादिकी उत्पत्तिद्वारा आत्मा, क्रोधी मानी इत्यादि व्यवहारयुक्त होता है ॥ १३ ॥

व्याख्या । कर्मोपाधे एकाशात् कर्ममिश्रजीवद्रव्यस्याशुद्धत्व जायते । तत कर्मोपाधेर शुद्धद्रव्यार्थिकश्चतुर्थो भेद कथित । यत कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति भेद । अस्य च लक्षण कथयति । यथा कर्मभावमय कर्मणा ज्ञानावरणादीना भावा प्रकृतयस्ते प्रचुरा यत्रेति कर्मभावमय आत्मा तादृग्रूपो लक्ष्यते । येन येन कर्मणा आगत्यात्मा निरुद्धयते तदा तत्तत्कर्मस्वभावतुल्यपरिणत सन् व्यवह्रियते । यत क्रोधोदयाज्जीव क्रोधीति व्यपदिश्यते मानकर्मोदयाज्जीवो मानीति व्यपदिश्यते । एव यदा यद्द्रव्य येन भावेन परिणमति तदा तद्द्रव्य तन्मय कृत्वा ज्ञेयम् । यथा लोहोऽग्निना परिणतो यदा काले प्राप्यते तदा अग्निरूप एवोद्भाव्यते न तु लोहरूप । एवमात्मापि मोहनीयकर्मोदयेन यदा क्रोधादिपरिणत स्यात्तदा क्रोधादिरूप एव बोद्धव्य । अत एवाष्टावात्मनो भेदा सिद्धान्ते व्याख्याता इति ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थः—कर्मोंकी उपाधिसे अर्थात् आत्मा जब कर्मोंको ग्रहण करता है, तब वह कर्मोपाधिसहित कहाता है, और कर्मोंसे मिलित होनेसे जीवद्रव्यके अशुद्धता उत्पन्न होती है, इस कारण कर्मरूप उपाधिसे अशुद्ध चौथा भेद द्रव्यार्थिक कहागया है, क्योंकि—कर्मोपाधिकी अपेक्षा रखनेसे इस चतुर्थ भेदका नाम अशुद्धद्रव्यार्थिक है। इसका लक्षण कहते है, कि—जैसे कर्मभावमय जब आत्मा होता है; अर्थात् कर्म जो ज्ञानावरण दर्शनावरणआदि हैं, उनकी जो प्रकृतिये हैं, वे जब आत्मप्रदेशमें प्रचुर (अधिक) रूपसे एकत्र हो जाती है; उस समय आत्मा है; वह तादृक्रूप अर्थात् कर्मस्वरूप लक्षित होता है; अर्थात् जो जो कर्म आकर आत्माको रोकते हैं; अर्थात् आत्मा जिस जिस कर्मरूपी बंधनसे बद्ध होता है तब उस उस कर्मके स्वभावके तुल्य व्यवहारमें लाया जाता है, क्योंकि—क्रोधके उदयसे जीवको क्रोधी कहते है, एवं मानकर्मके उदयसे जीव मानी कहाजाता है। इसी प्रकार जब जो द्रव्य जिस भावसे परिणत होता है तब उसको उस भावरूप करके जानना चाहिये। जैसे अग्निमे गिराहुआ लोह जब अग्निस्वरूपसे परिणत हुआ मिलता है, अर्थात् साक्षात् अग्निके समान बन जाता है, तब उसको अग्निरूप ही कहते है, नकि—लोहरूप। ऐसे ही आत्मारूप द्रव्य भी मोहनीयआदि कर्मोंके उदयसे जब [1]क्रोधादिरूपसे परिणत होवे तब उस आत्माको क्रोधादिरूप ही जानना चाहिये। इस ही कारणसे जैन-सिद्धान्तमे आत्माके आठ भेद वर्णन किये गये है अर्थात् इस अशुद्धद्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे आठ कर्मोंकी उपाधिवश जीवके आठ ८ भेद शास्त्रमें कहे गये है ॥ १३ ॥

---

१ जब आत्माके क्रोधादि कर्मका उदय आता है, तब आत्मा उनका स्वरूप ही बनजाता है, उनसे अपने स्वरूपको अलग नही कर सकता किन्तु तन्मय हो जाता है, इसीसे क्रोधीआदि शब्दोद्वारा व्यवहृत होता है।

अथ पञ्चमभेदमाह ।

अब पंचम (पाँचवें) भेदका निरूपण करते हैं।

उत्पादव्ययसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिकोऽग्रिमः ।
एकस्मिन्समये द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक् ॥ १४ ॥

भावार्थः—उत्पत्ति और नाशकी अपेक्षासहित होनेसे अशुद्ध द्रव्यार्थिक पंचम (पाँचवां) भेद कहागया है, क्योंकि—एक ही समयमे द्रव्य उत्पत्ति, नाश तथा ध्रौव्य (नित्यता)से संयुक्त है ॥ १४ ॥

व्याख्या । उत्पादव्ययसापेक्ष पञ्चमो भेदोऽशुद्धद्रव्यार्थिको ज्ञेय । यत उत्पादव्ययसापेक्षः सत्ताग्राहकोऽशुद्धद्रव्यार्थिक पञ्चम इति । ५ । यथा एकस्मिन्समये द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यरूप मध्यते । कथं तद्य कटकाद्युत्पादसमय स एव केयूरादिविनाशसमय । परन्तु कनकसत्ता कटककेयूरयो परिणामिन्यावर्जः नीयैव । एव सति त्रैलक्षण्यग्राहकत्वेनेद प्रमाणवचनमेव स्यान्न तु नयवचनमिति चेन्न । मुख्यगौणभावेनैवानेन नयेन त्रैलक्षण्यग्रहणान्मुख्यनय स्वस्वार्थग्रहणे नयाना सप्तभङ्गीमुखेनैव व्यापारात् ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थः—उत्पत्ति तथा नाशके सापेक्ष अर्थात् उत्पत्ति और नाशकी अपेक्षा रखनेवाला अशुद्धद्रव्यार्थिक पाचवां भेद जानना चाहिये क्योंकि—उत्पत्ति और व्ययके सापेक्ष तथा सत्ताका ग्राहक जो है, उसको अशुद्धद्रव्यार्थिक पांचवाँ भेद मानागया है । ५ । जैसे एक कालमे द्रव्य उत्पाद (उत्पत्ति) व्यय (नाश) तथा ध्रौव्य (नित्य) स्वरूप कहा जाता है। यदि यह कहो कि—ये तीनों (उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य) स्वरूप एक ही कालमें तथा एक ही पदार्थमे कैसे होते हैं, तो उसकी व्यवस्था इस प्रकार है, कि—जैसे सुवर्ण द्रव्यमे जो समय कटक (कड़ा)आदिरूप पर्यायकी उत्पत्तिका है; वही समय केयूर (बाजू) आदि पूर्व पर्यायके विनाशका भी है, परन्तु कटक और केयूर दोनोंमें जो सुवर्णकी सत्ता है वह परिणामिनी नहीं है, किन्तु सुवर्णरूपता पूर्व पर पर्यायोंमे एक ध्रुव (नित्य)स्वरूपसे विद्यमान है, अब कदाचित् ऐसी शंका करो कि—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूपका ग्राहक होनेसे यह [1]प्रमाणवचन ही हुआ न कि—नयवचन[2] ? सो नहीं कह सकते; क्योंकि-मुख्य तथा गौण भावसे ही इस पंचम नयकेद्वारा उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप तीन लक्षणोंका ग्रहण होनेसे अपने अर्थके ग्रहणमे मुख्य नय है, और पर अर्थकेमे नहीं क्योंकि—सब नयोंका सप्तभंगीनयके द्वारा ही [3]व्यापार होता है ॥ १४ ॥

१ सपूर्णरूपसे वस्तुको सिद्ध करनेवाला प्रमाण कहलाता है, अत यहा जब द्रव्यके तीनो स्वरूपोंका कथन करदिया तो यह प्रमाण है ।

२ नय वस्तुके एक ही अशको मुख्यतासे कहता है ।

३ प्रवृत्त नय भी वस्तुकी अनेकान्तस्वरूपता दर्शानेकेलिये सप्तभंगीको लेकर ही प्रवृत्त होता है ।

अथ षष्ठभेदमाह ।

अब द्रव्यार्थिकनयका षष्ठ (छठा) भेद कहते है ।

भेदस्य कल्पनां गृह्णन्नशुद्धः षष्ठ इष्यते ।
यथात्मनो हि ज्ञानादिगुणः शुद्धः प्रकल्पनात् ॥१५॥

भावार्थः—भेदकी कल्पनाको ग्रहण करते हुए अशुद्ध द्रव्यार्थिकनामा छठा ६ भेद माना जाता है, जैसे आत्माके ज्ञानादि शुद्ध गुणोंकी कल्पना भेदको कहती है ॥ १५ ॥

व्याख्या । अशुद्धद्रव्यार्थिक षष्ठो भेदो भेदस्य भेदभावस्य कल्पना गृह्णन् सन् जायते । यथा हि ज्ञानादयो गुणा शुद्धा आत्मन कथ्यन्त इत्यत्र षष्ठीविभक्तिर्भेद कथयति । भिक्षो पात्रमितिवत् । परमार्थतस्तु गुणगुणिनोर्भेद एव नास्ति । तस्मात्कल्पितो भेदोऽत्र ज्ञेयो न तु साहजिक ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थः—भेदभावकी कल्पनाको ग्रहण करता हुआ अशुद्धद्रव्यार्थिक छठा ६ भेद उत्पन्न होता है, जैसे कि-आत्माके शुद्ध ज्ञानादि गुण कहे जाते है, "आत्मनः गुणाः" (आत्माके गुण) यहापर षष्ठी विभक्ति भेदको कहती है, जैसे कि-"भिक्षोः पात्रम्" भिक्षुका पात्र यहापर भिक्षुकसे पात्रको जुदा दिखलाती है, परन्तु यथार्थमें भिक्षुकके पात्रके समान ज्ञानादि गुण तथा गुणी आत्माके भेद नही है, इसलिये यहा कल्पित भेद समझना चाहिये न कि—स्वाभाविक क्योकि-गुण और गुणी कही जुदे २ नही मिलते ॥ १५ ॥

अथ सप्तमभेद कथयति ।

अब सप्तम (सातवे) भेदको कहते है ।

अन्वयी सप्तमश्चैकस्वभावः समुदाहृतः ।
द्रव्यमेकं यथा प्रोक्तं गुणपर्यायभावितम् ॥१६॥

भावार्थः—अन्वयी द्रव्यार्थिक सप्तम भेद कहा गया है, जैसे कि-गुण तथा पर्यायोंसे युक्त द्रव्य एक ही स्वभाव कहा है ॥ १६ ॥

व्या०—अन्वयद्रव्यार्थिक सप्तमो भेद एकस्वभाव उक्त । यथा द्रव्य चैक गुणै पर्यायैश्च भावित वर्त्तते द्रव्यमेक गुणपर्यायस्वभावमस्ति । गुणेषु रूपादिषु पर्यायेषु कम्बुग्रीवादिषु द्रव्यस्य घटस्यान्वयोऽस्ति । यतस्तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वय । अथवा सति सद्भावोऽन्वयो यथा सति दण्डे घटोत्पत्ति । अत एव यदा द्रव्य ज्ञायते तदा द्रव्यार्थादेशेन तदनुगतसर्वगुणपर्याया अपि ज्ञायन्ते । यथा सामान्यप्रत्यासत्त्या परस्य सर्वा व्यक्तिरप्यवगन्तव्या । तथात्रापि ज्ञेयमित्यन्वयद्रव्यार्थिक सप्तम इति ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थः—अन्वयद्रव्यार्थिक नामवाला सप्तम भेद एकस्वभाव कहा गया है, जैसे एक ही द्रव्य गुण और पर्यायोसे युक्त है; अर्थात् एक द्रव्य गुणपर्यायस्वभाव है । रूप आदिक गुणोंमें और कंबुग्रीवआदि पर्यायोंमें द्रव्य जो घट है, उसका अन्वय है; क्योंकि-

जिसके होते जिसकी विद्यमानता हो अर्थात् गुण पर्यायोंके रहनेपर घटआदि द्रव्यका जो अवश्य रहना है; वह अन्वय कहलाता है; अथवा जिसके रहते जिसकी उत्पत्ति हो वह अन्वय है, जैसे दंडकी सत्तामे घटकी उत्पत्ति होती हैं; "अर्थात् दण्ड कारण होय तब ही तो घट (कार्य) उत्पन्न हो अन्यथा नहीं" यह भी अन्वय कहा जाता है। द्रव्यस्वरूपका संपूर्ण गुण पर्यायोंमें अन्वय है, इसी कारण जब द्रव्यस्वरूप ज्ञात होता है, तब द्रव्यार्थके आदेशसे उस द्रव्यके साथ अनुगत जितने गुण और पर्याय हैं, वे भी जाने जाते है। जिस प्रकारसे कि—सामान्यकी [1]प्रत्यासत्तिसे किसी एक घटआदि व्यक्तिका ज्ञान होनेसे उस जातिसहित संपूर्ण व्यक्तिये जानी जाती हैं। ऐसे ही यहा भी एक स्वभावके अन्वयसे यह अन्वय द्रव्यार्थिक सप्तम नय भी जानलेना चाहिये ॥ १६ ॥

अथाष्टमभेदोत्कीर्त्तनमाह ।

अब अष्टम भेदके कीर्तनको कहते हैं ।

स्वद्रव्यादिकसंग्राही ह्यष्टमो भेद आहितः ।
स्वद्रव्यादिचतुष्केभ्यः सन्नर्थो दृश्यते यथा ॥१७॥

भावार्थः—स्वकीय द्रव्य क्षेत्रादिका ग्राहक होनेसे स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक यह अष्टम भेद कहागया है, जैसे स्वद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षासे घटआदि पदार्थ सद्रूपसे ही दृष्ट होता है ॥ १७ ॥

व्याख्या—स्वद्रव्यादिग्राहको द्रव्यार्थिकोऽष्टमो भेद कथित । यथार्थो घटादि स्वद्रव्यत स्वक्षेत्रत स्वकालत स्वभावत सन्नेव प्रवर्त्तते । स्वद्रव्याद्घट काञ्चनो मृन्मयो वा ॥ १ ॥ स्वक्षेत्राद्घट पाटलिपुत्रो माथुरो वा । २ । स्वकालाद्घटो वासन्तिको ग्रैष्मो वा । ३ । स्वभावाद्घट श्यामो रक्तो वा । ४ । एव चतुर्ष्वपि घटद्रव्यस्य सत्ता प्रमाणसिद्धैवास्ति । स्वद्रव्यादि ग्राहको द्रव्यार्थिकोऽष्टमो भेद इति ज्ञेयम् ॥१७॥

व्याख्यार्थः—अपने द्रव्यआदिको ग्रहण करनेवाला अष्टम द्रव्यार्थिक भेद कहा गया है। जैसे घटआदि पदार्थ अपने द्रव्यसे १, अपने क्षेत्रसे २, अपने कालसे ३, तथा अपने स्वभावसे सत् (विद्यमान) रूप ही प्रवृत्त होता है। स्व (निज) द्रव्यसे घट सुवर्णका बना हुआ है, अथवा मृत्तिकास बनाहुआ है, १, अपने क्षेत्रसे घट पटनेका वा मथुराका है, २, अपने कालसे घट वसन्त ऋतुका अथवा ग्रीष्म ऋतुका है, ३, अपने भावसे घट श्याम वा रक्त है, ४, ऐसे स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारोंमे घटद्रव्यकी सत्ता प्रमाणसे सिद्ध है। इसलिये "स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय" यह अष्टम भेद जानना चाहिये ॥ १७ ॥

---

१ सबपर रहनेवाला सामान्य धर्म, तद्रूप प्रत्यासत्ति अर्थात् एक प्रकारकी व्यक्ति अर्थात् जैसे एक प्रकारकी घटआदि व्यक्तियोपर रहनेवाले तिर्यक् सामान्यसे सब व्यक्तियोका बोध होता है, ऐसे ही द्रव्यरूपके अन्वयसे सब गुण पर्यायोका ज्ञान होता है ॥

अथ नवमभेदमाह ।

अब नवम भेदको कहते हैं ।

परद्रव्यादिकग्राही नवमो भेद उच्यते ।
परद्रव्यादिकेभ्योऽसन्नर्थः संभाव्यते यथा ॥ १८ ॥

भावार्थ.—परद्रव्यआदिका ग्रहण करनेवाला नवम ९ भेद कहा जाता है, जैसे परद्रव्यआदिकी अपेक्षासे पदार्थ (घट) असत्‌रूपसे संभावित होता है ॥ १८ ॥

व्याख्या – तेषु द्रव्यार्थादिषु परद्रव्यादिग्राहको द्रव्यार्थिको नवमः (९) यथार्थो घटादि परद्रव्यादिचतुष्टयेभ्योऽसन् वर्त्तते । घटापेक्षया परद्रव्य पटोऽतस्तन्त्वादिभ्यो घटोऽसन्नस्ति । १ । परक्षेत्राद्यथा घटो माथुरो वर्त्तते न काशीज किन्तु घटक्षेत्र मथुरा तदपेक्षया काशीभिन्ना अत एव परक्षेत्रात्काशीलक्षणादसन् घट । २ । परकालाद्यथा घटो वसन्ते निष्पन्नोऽतो वासन्तिको घट, वसन्तापेक्षया ग्रैष्मो भिन्नस्ततो ग्रीष्मकालजाद्वासन्तिको घटोऽसन् । ३ । परभावाद्विवक्षितश्यामादिभावापेक्षया रक्तो घटोऽसन्वर्त्तते । ४ । एव परद्रव्यादिग्राहको द्रव्यार्थिको नवम । ९ ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थः—उन द्रव्यार्थआदिमे परद्रव्यादिका ग्राहक होनेसे परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनामक नवम भेद है । जैसे घटआदि पदार्थ परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप चतुष्टयकी अपेक्षासे असत् (अविद्यमान)रूप ही वर्त्तता है । घटकी अपेक्षासे परद्रव्य पट है, इस हेतुसे तन्तु (सूत)आदिसे घट असत् है; अर्थात् पटादिरूपसे [1]घट नहीं है । १ । इसी रीतिसे परक्षेत्रकी अपेक्षासे भी जैसे घट मथुरामे बना हुआ है; न कि—काशीमे उत्पन्न हुआ और घटका क्षेत्र(स्थान)जो मथुरा है, उसकी अपेक्षा काशी भिन्न है; इस ही कारण काशीरूप जो परक्षेत्र है, उसकी अपेक्षासे घट नहीं है । २ । परकालकी अपेक्षासे जैसे घट वसन्तकालमे उत्पन्न हुआ इसकारण घट वासन्तिक हुआ और इस वसन्त ऋतुकी अपेक्षासे ग्रीष्म ऋतु भिन्न है; अतः ग्रीष्म(गर्मी)के—कालमें उत्पन्न हुए घटसे वसन्त समयमे उत्पन्न हुआ [2]घट असत् है । ३ । ऐसे ही परभावसे भी विवक्षित श्यामआदि भावकी अपेक्षासे रक्त घट असत् है । ४ । ऐसे परद्रव्यआदिका ग्राहक नवमां द्रव्यार्थिकनय है ॥ १८ ॥

अथ दशमभेदोत्कीर्त्तनमाह ।

अब दशम भेद का कथन करते हैं ।

---

१ सप्त भगोमे स्यादस्ति और स्यान्नास्तिका निरूपण प्रथम करचुके हैं, उसका यही अभिप्राय है, कि स्वकीय द्रव्यादिकी अपेक्षासे तो घट है, परन्तु परकीय द्रव्यादिकी अपेक्षासे घट नही है; अर्थात् पदार्थके स्वरूपसे जैसे अस्तित्व पदार्थका स्वरूप भासता है; ऐसे ही परकीयरूप द्रव्यादिकी अपेक्षासे नास्तित्व भी पदार्थका स्वरूप ही है, यही स्याद्वादका रहस्य है ।

२ जैसे परद्रव्यरूपसे घटकी असत्ताका भान होता है, ऐसे परकाल जो ग्रीष्म है, उसकी अपेक्षासे घट नही है, अर्थात् घटकी अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे तो सत्ता है, औरद्रव्यादि चतुष्टयसे असत्ता है ।

परमभावसंग्राही दशमो भेद आप्यते ।
ज्ञानस्वरूपकस्त्वात्मा ज्ञानं सर्वत्र सुन्दरम् ॥१९॥

भावार्थः—परमभावका संग्राही यह द्रव्यार्थिकनयका दशम भेद प्राप्त है; जैसे कि—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, क्योंकि—आत्माके सब गुणोंमें सारभूत गुण ज्ञान ही है ॥१९॥

व्याख्या—परमभावसंग्राही परमभावग्राहको दशमो भेद कथित ।१०। यथा ज्ञानस्वरूपक आत्मा ज्ञानस्वरूपी कथित । दर्शनचारित्रवीर्यलेश्यादयो ह्यात्मनो गुणा अनन्ता सन्ति, परन्तु तेषु एक ज्ञान सारतर वर्तते । अन्यद्रव्येभ्य आत्मनो भेदो ज्ञानगुणेन दर्शयिष्यते तस्मात्कारणाच्छीघ्रोपस्थितिकत्वेनात्मन' परमस्वभावो ज्ञानमेवास्ते । इत्थमन्येषामपि परमभावा असाधारणगुणा ग्रहीतव्या. । परमभावग्राहको द्रव्यार्थिकदशम इति । अथानेकस्वभावाना मध्ये ज्ञानाख्य परमस्वभावो गृहीत इति द्रव्यार्थिकस्य दश भेदा ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थः—परमभावका संग्रहण करानेवाला होनेसे परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक यह दशम भेद कहागया है, जैसे आत्मा ज्ञानस्वरूपी कहा है, यद्यपि दर्शन, चारित्र, वीर्य तथा लेश्याआदि आत्माके अनन्त गुण हैं; परन्तु उन सबमें एक ज्ञान गुण सबसे अधिक सारभूत है, क्योंकि—हम अन्यद्रव्योंसे आत्माका भेद ज्ञानगुणसे ही दर्शावेंगे, इस हेतुसे तथा सब गुणोंमेंसे शीघ्र उपस्थिति एक ज्ञान गुणकी ही होती है; इसलिये आत्माका परम (सर्वोत्तम) स्वभाव ज्ञान ही है । इसी रीतिसे अन्य द्रव्योंके भी असाधारण गुणरूप परम भावोंका ग्रहण करना चाहिये । इसलिये यह परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक दशम १० भेद है । इस नयमें आत्माके अनेक स्वभावोंके बीचमेंसे ज्ञाननामक परम स्वभाव ग्रहण किया है ॥ इस प्रकार नौ नयोंमें प्रथम जो द्रव्यार्थिक है; उसके दश भेदोंका स्वरूप है ॥ १९ ॥

अथाध्यायसमाप्तौ ज्ञानस्य मोक्षहेतो प्रशसामाह ।

अब पंचम अध्यायकी समाप्तिमें मोक्षका साक्षात् हेतु जो ज्ञान है, उसकी प्रशंसा कहते हैं ।

ज्ञानाख्यमेतन्मकरन्दमिष्टं भव्यालयो वीतभया निपीय ।
अर्हत्क्रमाम्भोजभवं सुगन्धं स्वभावसौहित्यमवाप्नुवन्ति ॥२०॥

भावार्थः—भव्य पुरुषरूपी भ्रमर सबको इष्ट श्रीजिनेन्द्रके चरणकमलोंसे उत्पन्न, अत एव अतिसुगन्धताके धारक इस ज्ञानरूपी मकरन्द (पुष्परस) को निर्भय होके पीकर निजभावरूपी तृप्तिको प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

व्याख्या—भव्यालय भवाय अर्हा भव्यास्त एवालयो भ्रमरा एतदुत्कृष्टज्ञानाख्य मकरन्द मरन्द निपीय पीत्वा स्वभावसौहित्य स्वस्य आत्मनो भाव परमभावस्तद्रूप सौहित्य तृप्ति स्तदवाप्नुवन्ति । कीदृशा भव्यालय वीतभया वीत गत भय येषान्ते वीतभया दिवानिशमाकस्मिकसाध्वसरहिता कीदृङ्मकरन्दमिष्ट वल्लभ भवविपाकत्वेन परमरुचिप्रद्म् । पुन

कीदृङ्मकरन्दमर्हत्क्रमाम्भोजभवमर्हतां श्रीतीर्थंकराणा क्रमाश्चरणास्त एवाम्भोजानि कमलानि तेभ्यो भव उत्पत्तिर्यस्य तदर्हत्क्रमाम्भोजभव जिनेश्वरचरणपङ्कजसम्भवम् । पुन कीदृक् सुगन्ध शोभनो गन्ध आमोदो यस्य तत्सुगन्धमिति पद्यार्थ. । यथालयोऽम्भोजभव सुगन्धमिष्ट मकरन्द निपीय सौहित्यमवाप्नुवन्ति । तथा भव्या एतद्ज्ञानाख्य परमभावमिष्ट निपीय स्वभावमवाप्नुवन्ति । अन्यद्विशेषणैस्तुल्यत्व ज्ञेयम् । भव्याना-मलिसादृश्य ज्ञानस्य च मकरन्दसादृश्य च युक्तोपमात्व, जिनक्रमे कमलोपमानञ्च साधर्म्यतया चेत्यपि बोध्यम् । आसन्नसिद्धिका., परमरुचिपरा इहामुत्रफलविरागा, इन्द्रियमात्रविषयावशा, नित्यसवेगशान्तहृदया, विपाकलब्धनिसर्गबोधोदयेन परमभावेन ज्ञानेनाशेषकलुषकर्मसन्ताननिर्नाशनप्रकटितशुद्धशुक्लध्याननैर्मल्यविधूत-शेषकर्मप्रकृतिशुभतयोत्कर्माणो, निजभावमनन्तचतुष्टयात्मकसौहित्यसपूरितमनस शिवावासमासादयन्तीति भाव ॥ २० ॥

इति श्रीकृतिभोजविनिर्मितायां द्रव्यानुयोगतर्कणायां पञ्चमोऽध्याय

व्याख्यार्थः—गया है भय जिनका वह वीतभय अर्थात् रात्रि दिन आकस्मिक भयसे रहित भव्यालि अर्थात् मोक्षके अधिकारी भव्यजनरूपी भ्रमर, इष्ट (प्यारा) अर्थात् भवकी विपाक-तासे उत्कृष्ट रुचिका देनेवाला, और श्रीजिनेन्द्रके चरणरूपी कमलोंसे जिसकी उत्पत्ति है, ऐसा तथा श्रेष्ठ गन्धके धारक इस उत्कृष्ट ज्ञाननामक मकरन्द (पुष्परस) को पीकर अपने आत्माका जो परमभावरूप सौहित्य (तृप्ति) है, उसको प्राप्त होते है, इस प्रकार पद्यका अर्थ है; तात्पर्य इसका यह है, कि—भ्रमर जैसे कमलसे उत्पन्न इष्ट मकरन्दको पान-करके परमतृप्तिको पाते है, ऐसे ही भव्य जन इस ज्ञाननामक इष्ट परमभावको पीकर स्वभा-वको प्राप्त होते है । अन्य सब विशेषणोंसे ज्ञान तथा मकरन्दकी तुल्यता समझ लेनी चा-हिये । और भव्योंके भ्रमरका सादृश्य और ज्ञानको मकरन्दका सादृश्य जो दिया है; यह उपमाके योग्य ही है । तथा जिन भगवान्‌के चरणोंके कमलकी जो उपमा दी है, सो भी साधर्म्यसे ही है; यह भी जानना चाहिये । समीप है; मुक्ति जिनकी ऐसे तथा ज्ञानकी प्राप्तिमें परम प्रीतिके धारक, इस लोक और पर लोकसम्बन्धी स्वर्गादिकोके सुखरूप फलोंमें रागरहित, पांचों इन्द्रियोंके विषयोकी आधीनतासे मुक्त, निरन्तर संवेगसे शान्त-हृदयके धारक, विपाकसे प्राप्त स्वाभाविक ज्ञानके उदयरूप परम भाव जो ज्ञान है; उस-करके संपूर्ण मलिन कर्मोंके घातिया कर्मोंके नाश करनेसे प्रकट हुआ जो शुद्ध शुक्लध्यान उसकी निर्मलतासे नष्ट करी है; बाकिके कर्मोंकी अर्थात् चार अघाती या कर्मोंकी प्रकृति-रूप शुभश्रेणी जिन्होने और अतएव कर्मरहित ऐसे भव्यजन अपने भावको अर्थात् अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनन्त वीर्यरूप अनन्तचतुष्टयलक्षणतृप्तिसे भरे हुए, अंतरहित ऐसे मोक्षस्थानको प्राप्त होते है, यह भाव है ॥ २० ॥

इति श्रीपण्डितठाकुरप्रसादशास्त्रिविरचितभाषाटीकासमलङ्कृतायां द्रव्यानुयोगतर्कणायां पञ्चमोऽध्याय. ॥५॥

अथ षष्ठाध्याये पर्यायार्थिकनय विवृणोति । तत्रादौ पर्यायार्थिक षड्विधोऽस्तस्तमेव कीर्तयन्नाह । तत्रापि नमस्कारगर्भित जिनवाक्यस्वरूप प्ररूपयति ।

अब षष्ठ (छठे) अध्यायमे पर्यायार्थिकनयका विवरण करते है, उसमे आरंभमे पर्यायार्थिकके ६ भेद है, उनको ही दिखाते हैं, उसमें भी नमस्कार गर्भित जिनेश्वरकी वाणीके स्वरूपका निरूपण करते हैं ।

एकाप्यनाद्याखिलतत्त्वरूपा, जिनेशगीर्विस्तरमाप तर्कैः ।
तत्राप्यसत्यं त्यज सत्यमङ्गी, कुरु स्वयं स्वीयहिताभिलाषिन् ।

भावार्थः—यद्यपि अनादि तथा सपूर्ण तत्त्वोंको धारण करनेवाली जिनवाणी एक ही है, तथापि तर्कोंसे विस्तारको प्राप्त होगई अर्थात् अनेकरूप धारण करलिये हैं, अतः हे निज आत्माके हितको चाहनेवाले भव्य ! उस दिगम्बर मतमे भी जो असत्य है, उसका तो त्याग कर और जो सत्य है, उसको स्वीकार कर ॥ १ ॥

व्याख्या—एकापि जिनेशगीरर्हद्वाणी अर्हन्मुखान्निर्गच्छमाना अद्वितीया यथाभाषित तथा श्रूयमाणा तथा अनाद्या आदिरहिता एकेन तीर्थंकृता यदुपदिष्ट तदनेकेषा पूर्वपूर्वतरतीर्थंकृतामपि तथैव निरूप्यमाण त्वादादिरहिता । पुन कीदृशी अखिलतत्त्वरूपा समस्ततत्त्वमयी तर्कैर्विचारैर्बहुभेदता प्राप बहुप्रकारैर्बहुधा विस्तृता । यतो दिग्वाससा मतमपि जिनमत धृत्वैताद्दशनयानामनेकाकारता प्रवर्त्तयति । अतस्तन्मतेऽपि यद्विमृश्यमान सत्य जायते तदेवाङ्गीकुरु, यच्चासत्य तत्सर्वमपि त्यज स्वयमात्मना हे स्वीयहिताभिलाषिन् ! निजहितकाङ्क्षिन् ! शब्दान्तरत्वेन तन्मतमपि न द्वेषविषयीकर्त्तव्यम् । सर्वमप्यर्थैकत्वविवक्षया समञ्जसमेवेति ॥१॥

व्याख्यार्थः—श्रीजिनेश अर्थात् अर्हत् भगवान्के मुखारविन्दसे निःसृत वाणी एक (अद्वितीय) रूप ही है, अर्थात् जिस प्रकार श्रीजिनेश्वर भगवान्ने भाषण किया उसी प्रकारसे श्रूयमाण (सुननेमे) चली आती है, तथा अनादि अर्थात् आदिरहित है, क्योंकि-एक तीर्थंकरने जो उपदेश किया है, वह ही अनेक पूर्व पूर्व कालके जिनेश्वरोने भी निरूपण किया है । पुनः वह जिनेशवाणी कैसी है, कि-संपूर्ण तत्त्वमयी है, अर्थात् उसमें सब तत्त्वों का निरूपण है, तथापि अनेक प्रकारके तर्कों (विचारों) से अनेक भेदोंको प्राप्त हुई है; अर्थात् अनेक प्रकारके तर्कोंसे अनेक रूपोसे विस्तारको प्राप्त हुई है, क्योंकि-दिगम्बरियोंका जो मत है, वह भी जिनमतको धारण करके इन द्रव्यार्थिकादि नयोंकी अनेक आकारताको प्रवृत्त करता है, इस कारण हे निजहिताभिलाषी भव्यजनो ! उनके मतमे भी जो विषय विचाराहुआ सत्य हो अर्थात् विचार करनेपर जो तुमको सत्य प्रतीत हो उसीको स्वयं अर्थात् अपने आत्मासे स्वीकार करो और जो उनके मतमे असत्य है, उस सबको त्यागो। शब्दभेद होनेसे दिगम्बरोंके मतसे भी द्वेष न करना चाहिये क्योंकि-अर्थके एकत्वकी विवक्षासे तो उनका भी सब कथन युक्त ही है ॥ १ ॥

अथ पर्यायार्थिकषड्भेदानाह ।

अब पर्यायार्थिकनयके ६ भेदोंको कहते हैं ।

पर्यायार्थिकषड्भेदस्तत्राद्योऽनादिनित्यकः ।
पुद्गलानान्तु पर्यायो मेरुशैल इवाचलः ॥ २ ॥

भावार्थः—पर्यायार्थिक नय ६ भेदों सहित है; उनमें पर्यायार्थिकका प्रथम भेद अनादिनित्यशुद्धपर्यायार्थिक है, जैसे पुद्गलोंका पर्याय मेरु पर्वतकी तरह अचल (अनादि नित्य) है ॥ २ ॥

व्याख्या । पर्यायार्थिकश्चासौ षड्भेदश्च पर्यायार्थिकषड्भेद पर्यायार्थिको नय· षट् प्रकार इत्यर्थः तत्र तेषु षट्सु भेदेषु प्रथमो भेदोऽनादिनित्यशुद्धपर्यायार्थिकः कथ्यते । न विद्यत आदिर्यस्यानादि· पूर्वकल्पनारहित, उत्पत्त्यभावान्नित्य एव नित्यक· "स्वार्थे क." सदैकस्वभावोऽनश्वरत्वात् । अनादिश्च नित्यकश्चेति द्वन्द्व । अय च शुद्धपर्यायार्थिकः प्रथम. । क इवाचलो मेरुरिव । यथा मेरुः पुद्गलपर्यायेण प्रवाहतोऽनादिनित्यकोऽस्ति, असख्यातकाले अन्योन्यपुद्गलसक्रमेणापि सस्थानत. स एव मेरुर्वर्त्तते । एव रत्नप्रभादीनामपि पृथ्वीपर्याया ज्ञातव्या इति ॥ २ ॥

व्याख्यार्थः—पर्यायार्थिकरूप जो षड्भेद इस प्रकारसे यहापर कर्मधारय तत्पुरुष समास है, भावार्थ—पर्यायार्थिकनय षट् (छ) भेद सहित है । उन षट् भेदोंमेंसे प्रथम भेद अनादि नित्य शुद्धपर्यायार्थिक कहा जाता है; नही है आदि जिसका उसको अनादि कहते हैं, पूर्व कल्पनाशून्य होनेसे यह अनादि कहागया है; तथा उत्पत्तिके अभावसे यह नित्य कहागया है, नित्य ही जो है, उसको नित्यक कहते है, "नित्य एव नित्यकः" यहांपर स्वार्थ (नित्य शब्दके अर्थ)में क प्रत्यय है, अर्थात् अविनाशी होनेसे जो सदा एक स्वभाव है, वह नित्यक है, अनादि और नित्यक जो होयसो अनादिनित्यक है; यहांपर द्वन्द्व समास है । यह शुद्ध पर्यायार्थिक प्रथम भेद है । किसके समान है, कि मेरु पर्वतके समान, जैसे मेरु पर्वत पुद्गलपर्यायसे प्रवाहद्वारा अनादि और नित्य है, अर्थात् असंख्यात कालमें परस्पर पुद्गलोंका संक्रम होनेपर भी संस्थानसे वह ही मेरु है, न कि–अन्य । इसी प्रकार रत्नप्रभा भूमिआदि पर्याय भी नित्य तथा अनादि समझने चाहियें ॥ २ ॥

अथ द्वितीयो भेद पर्यायार्थिकस्य कथ्यते ।

अब पर्यायार्थिकका द्वितीय भेद कहते हैं ।

पर्यायार्थिकः सादिर्नित्यः सिद्धस्वरूपवत् ।

भावार्थः—सिद्धस्वरूपके तुल्य "सादिनित्यपर्यायार्थिक" यह पर्यायार्थिकनयका द्वितीय भेद है ।

व्याख्या । पर्यायार्थिको द्वितीय सादिरादिसहित पुनर्नित्य किंवत् सिद्धस्वरूपवत् । यथा

सिद्धस्य पर्याय सादिरस्त्युत्पत्तिमत्त्वात्। सर्वकर्मक्षयात्सिद्धपर्याय उत्पन्न यस्तु नित्योऽविनश्वरत्वात् । सिद्धपर्यायः सदाकालावस्थितो लभ्यते । राजपर्यायसम सिद्धपर्यायद्रव्य भावनीयम् ।

व्याख्यार्थः—द्वितीय पर्यायार्थिक सादि अर्थात् आदि सहित है, और सिद्धस्वरूपके समान नित्य है, जैसे उत्पत्तिमान् होनेसे सिद्धका पर्याय सादि है, यद्यपि संपूर्ण कर्मोंके क्षयसे सिद्ध पर्याय उत्पन्न हुआ है; तथापि वह अविनाशी होनेसे नित्य है, क्योंकि-सिद्ध पर्याय सदा कालमे अवस्थितरूप मिलता है, इसलिये राज पर्यायके समान सिद्धपर्याय द्रव्यकी भी भावना करनी चाहिये ।

अथ तृतीयपर्यायार्थिक श्लोकार्धेन पुनरग्रेतनश्लोकार्धेनाह ।

अब तृतीय श्लोकके उत्तरार्द्धसे तथा चतुर्थश्लोकके पूर्वार्द्धसे पर्यायार्थिकका तृतीय भेद कहते हैं ।

सत्तागौणतयोत्पादव्यययुक् सदनित्यकः ॥३॥
एकस्मिन्समये यद्वत्पर्यायो नश्वरो भवेत् ।

भावार्थः—सत्ताको गौण माननेसे उत्पत्ति नाशसहित अनित्यशुद्धपर्यायार्थिक यह तृतीय भेद है ॥३॥ जैसे एक समयमे जिस पर्यायकी उत्पत्ति होती है; उसका समयान्तरमें नाश भी होता है; अर्थात् एक समयमें पर्याय नाशशील भी है ।

व्याख्या । सत्तागौणतया ध्रुवत्वेनोत्पादव्ययग्राहक सदनित्यक सच्चासावनित्यकश्चानित्यशुद्धपर्यायार्थिक कथ्यते । सच्छब्देन शुद्धमित्यर्थस्तदा अनित्यशुद्धपर्यायार्थिको भवति । कीदृश उत्पादव्यययुक् उत्पादश्च व्ययश्चोत्पादव्ययौ ताभ्या युक् सहित । सतो हि वस्तुन उत्पादव्ययौ पर्यायेण भवतस्तस्मात्सत्तागौणतया सत्ताया अप्राधान्येन, उत्पादव्यययो प्राधान्येन "अनित्यशुद्धपर्यायार्थिक" ॥ ३ ॥ तत्र दृष्टान्तमाह ॥ यथैकस्मिन्समये पर्यायो नश्वर पर्यायो विनाशी भवेत् । यद्वच्छब्द यथा पर्यायवाचक । अत्र हि नाश कथयत पर्यायस्योत्पादोऽप्यागत पर ध्रौव्य तु गौणत्वेन न दर्शितम् । प्राधान्याप्राधान्ययो प्राधान्यविधिर्वलीवान् । तस्माद्यस्य प्रधानत्व तस्यैवोत्पत्तिनाशयो समावेश । सत्ता हि ध्रुवे नाशे च विचरन्त्यात्मनो गौणत्वव्यपदेशिवर्तमानत्वमुभयत्र निक्षिपतीति ।

व्याख्यार्थः—सत्ताको गौण मानकर अर्थात् अध्रुवत्वका आरोप करके उत्पाद तथा व्यय (उत्पत्ति और नाश) का ग्राहक सदनित्य अर्थात् अनित्यशुद्धपर्यायार्थिक तृतीय भेद कहा जाता है; "सदनित्य" यहांपर जो सत् शब्द है, उसका शुद्ध यह अर्थ करते हैं, और नित्य अर्थ नहीं करते है, तब अनित्यशुद्धपर्यायार्थिक यह अर्थ हुआ । कैसा है, यह उत्पाद और व्यय इन दोनो करके सहित है, क्योकि-विद्यमान वस्तुका उत्पाद तथा नाश पर्यायसे होता है, इसलिये सत्ताकी अप्रधानतासे और उत्पाद तथा व्ययकी प्रधानतासे अनित्यशुद्धपर्यायार्थिक यह तृतीय भेद कहा गया ॥ ३ ॥ इसी विषयमे अग्रिम श्लोकके

पूर्वार्द्धसे दृष्टान्त कहते हैं, इस श्लोकमें 'यद्वत्' यह शब्द यथा (जैसे) शब्दके अर्थका वाचक है, इसलिये जैसे एक समयमें पर्याय विनश्वर (विनाशशील) होता है, यहांपर पर्यायका नाश कहतेहुएके पर्यायका उत्पाद भी आगया अर्थात् जैसे एक समयमें पर्यायका नाश होता है, ऐसे ही एक समयमें उसकी उत्पत्ति भी होती है; परन्तु ध्रौव्य(नित्यत्व) को तो गौणतासे नहीं दर्शित किया क्योंकि--"प्रधान तथा अप्रधान इन दोनोंमें प्रधानविधि अधिक बलवान् होती है" इस हेतुसे जिसकी प्रधानता है, उसीका उत्पत्ति और नाशमें समावेश है; और सत्ता जो है, वह तो ध्रुव और नाशमे विचरती हुई पर्यायकी उत्पत्ति तथा नाशदशामे अपने गोणत्वव्यपदेशमें वर्त्तमानताको निक्षिप्त करती है ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थभेदमुपदिशन्नाह ।

अब चतुर्थ भेदका उपदेश करते है ।

सत्तां गृह्णन् चतुर्थाख्यो नित्योऽशुद्ध उदीरितः ॥ ४ ॥
यथोत्पादव्ययध्रौव्यरूपै रुद्धः स्वपर्ययः ।
एकस्मिन्समये---

भावार्थः—सत्ताको ग्रहण करता हुआ नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक चौथा भेद कहागया है ॥ ४ ॥ जैसे उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यरूप तीनों लक्षणोंसे रुद्ध स्वकीय पर्याय एक समयमे है ।

व्याख्या । सत्तेति । सत्ता ध्रुवत्व गृह्णन्नङ्गीकुर्वन् चतुर्थाख्यश्चतुर्थो भेदो नित्याशुद्धपर्यायार्थिक उदीरित कथित इति श्लोकार्थ ॥ ४ ॥ अथामुमेव दृष्टान्तेन द्रढयति । यथैकसमय मध्ये पर्यायो रूपत्रययुक्त उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणै रुद्ध । किं च कोऽपि पर्यय, उत्तरचरो रूपादि पाकानुकूलघटे श्यामवर्णं पूर्वचरो नष्टस्तत उत्तरो रक्तवर्णं उत्पन्न रूपी घट श्यामो वा रक्तो वेति वितर्क्यमाण सत्तया तथाकारपरिणतपर्यय प्राप्यत इति । अत्र हि पर्यायस्य शुद्धरूप सत्ता सा यदि गृह्यते तदा नित्याशुद्धपर्यायार्थिको भवति । सत्तादर्शनमेवाशुद्धमिति ।

व्याख्यार्थः--सत्ता(ध्रुवत्व)को अंगीकार करता हुआ नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक यह चतुर्थभेद कहा गया है । यह चतुर्थ श्लोकके उत्तरार्द्धका अर्थ है ॥ ४ ॥ अब पञ्चम श्लोकके पूर्वार्द्धसे पूर्व विषयको दृष्टान्तसे दृढ करते है । जैसे एक समयमे पर्याय उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यरूप तीनों लक्षणोसे अवरुद्ध (युक्त) है, क्योंकि—पाकके अनुकूल घटमें जब पूर्वचर (पहला) श्यामवर्णरूपी पर्याय नष्ट हुआ तब उत्तरचर रूपादि अर्थात् आगे होनेवाला रक्तवर्ण उत्पन्न हुआ । यहांपर घट है, सो रूपवाला है; परन्तु श्याम है; अथवा रक्त है, इस प्रकार जब उसके रूपका विचार कियागया तव सत्तासे उस रक्त आकारको परिणत होकर रक्त पर्यायको प्राप्त होता है, अब यहां रक्तपर्यायका उत्पाद श्यामपर्यायका व्यय (नाश) तथा घट द्रव्यका ध्रौव्य इस प्रकार उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य स्वरूप तीनों लक्षणोंसे युक्त है । यहां पर्यायका

शुद्ध स्वरूप सत्ता है, वह सत्ता जब ग्रहण की जाती है, तब नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक यह चतुर्थ भेद सिद्ध होता है। यहांपर सत्ताका जो दर्शन है, सो ही अशुद्ध है, इस लिये यह नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय कहलाया।

अथ पञ्चमभेदोत्कीर्त्तन करोति।

अब पंचम भेदका वर्णन करते हैं।

ऽथातः पर्यायार्थिकपञ्चमः ॥ ५ ॥
कर्मोपाधिविनिर्मुक्तो नित्यः शुद्धः प्रकीर्त्तितः।
यथा सिद्धस्य पर्यायैः समो जन्तुर्भवी शुचिः ॥ ६ ॥

भावार्थः—अब इसके आगे पर्यायार्थिकका पचम भेद ॥ ५ ॥ नित्यशुद्ध पर्यायार्थिक कहागया है। कैसा है, यह नय कर्मजनित उपाधियोंसे रहित है। जैसे संसारी जीव सिद्धके पर्यायोके समान पवित्र है ॥ ६ ॥

व्याख्या। अथात पर पर्यायार्थिकपञ्चमो ज्ञेय ॥ ५ ॥ नित्यशुद्धपर्यायार्थिकोऽस्ति। कीदृश कर्मोपाधिविनिर्मुक्त कर्मणामौपाधिकानामन्यद्रव्याणा कुतश्चित्सङ्गतानामुपाधि माहचर्यं तेन विनिर्मुक्तो रहित कर्मोपाधिविनिर्मुक्त। यथेति–यथाशब्देन दृष्टान्तविपयीकरोति। यथा भवी भव ससारोऽस्तीति भवी समारी जन्तु प्राणी सिद्धस्य कर्मोपाधिविनिर्मुक्तस्य सिद्धस्य पर्यायै सम शुचिर्निर्मल। ससारे ससरत प्राणिनोऽष्टावपि कर्माणि सन्ति तानि च विचार्यमाणान्युपाधिरूपाणि वर्तन्ते। यद्वदग्ने शुद्धद्रव्यस्यार्द्रेन्धनमयोगजनितो धूम औपाधिक एव समाख्यते। तद्वदिहापि विद्यमानान्यपि कर्माण्यनात्म-गुणत्वेनौपाधिकानि सन्ति। अतस्तेभ्यो युक्तोऽप्ययुक्तनया विचिन्त्यमान प्राणो सिद्ध एवेति कर्मोपाधिभाव सन्नपि न विवक्षणीय। अय च ज्ञानदर्शनचारित्राणि छन्नान्यपि बहि प्रकटतया विवक्षितानि। ततो नित्यशुद्धपर्यायार्थिकभेदस्य भावना सपद्यते ॥ ६॥

व्याख्यार्थ—अब इस चतुर्थभेदके पश्चात् पर्यायार्थिकका पञ्चम भेद जानना चाहिये ॥ ५॥ वह पंचमभेद नामसे "नित्यशुद्धपर्यायार्थिक" है। वह कैसा है, कि—कर्म्मोपाधिविनिर्मुक्त है, अर्थात् कर्म जो किसी कारणवशसे सगत उपाधिक अन्य द्रव्य है, उनकी जो उपाधि (साहचर्य) अर्थात् आत्माकी साथ सहभाव है, उससे रहित है। जैसे भव (संसार)को धारण करनेवाला जो भवी अर्थात् संसारी जीव है, वह कर्मोंकी उपाधिसे रहित ऐसे जो सिद्ध हैं, उनके समान शुचि अर्थात् निर्मल है। भावार्थ संसारमे भ्रमण करनेवाले प्राणीके आठ कर्म हैं। और वे विचारे जाते हैं, तो उपाधि-रूप हैं, जैसे शुद्ध अग्निरूप द्रव्यका आर्द्र (गीले) इन्धनसे उत्पन्न धूम उपाधि-रूप ही संभावित है; ऐसे ही सहज शुद्धस्वभाव आत्मामे सब कर्म आत्माके निजगुण न होनेसे उपाधिजनित ही हैं, इसलिये यद्यपि संसारी आत्मा उन कर्मोंसे युक्त है,

तथापि उसको जब उन कर्मोंसे अयुक्त (रहित) विचारा जाता है; तो वह सिद्ध ही है; तात्पर्य यह कि—संसारी जीवके कर्मरूप उपाधिभाव है; वह विद्यमान होते भी विवक्षित न किया जाय और उन कर्मोंसे ढके हुये भी जो ज्ञान, दर्शन चारित्ररूप सहजस्वभाव है, उनको वाह्यमे प्रकट रूपपनेसे कहें तब नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नामक पंचम भेदकी भावना सिद्ध होती है ॥ ६ ॥

अथ पर्यायार्थिकस्य षष्ठभेदोपकीर्त्तनमाह ।

अब पर्यायार्थिक नयके षष्ठ (छठे) भेदके निरूपणार्थ यह सूत्र कहते है ।

अशुद्धश्च तथानित्यपर्यायार्थिकोऽन्तिमः ।
यथा संसारिणः कर्मोपाधिसापेक्षकं जनुः ॥ ७ ॥

भावार्थः—तथा अशुद्ध और अनित्य अंतिम पर्यायार्थिक है, जैसे संसारी प्राणीका जन्म इस संसारमे कर्मरूप उपाधिकी अपेक्षा रखता है ॥ ७ ॥

व्याख्या । कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धो विनश्वरत्वादनित्य. । एवमनित्यमादो कृत्वा अशुद्ध ततो योजयित्वा पर्यायार्थिकपदेन समुच्चार्यंते तदा षष्ठोऽन्तिमोभेदोऽनित्याशुद्धपर्यायार्थिको निष्पद्यते । अथ तस्योदाहरणमाह । यथा ससारिण' ससारवासिजनस्य जनुर्जन्म कर्मोपाधिसापेक्षक प्रवर्त्तते । जन्ममरणव्याधयो वर्त्तमाना पर्याया अनित्या उत्पत्तिविनाशशालित्वात् पुनरशुद्धा कर्मसयोगजनितत्वात् । भवस्थिताना प्राणिना भवन्तीति । अत एव मोक्षार्थिनो जीवा जन्मादिपर्यायाणा विनाशाय ज्ञानादिना मोक्षे यतन्ते । तस्मात्कर्मण्यनित्यान्यशुद्धानि तै सापेक्षक जन्माद्यप्यनित्यमशुद्ध चेत्थ योजनया निष्पन्नो नयोऽपि 'अनित्याशुद्धपर्यायार्थिक. कथ्यत इत्यर्थ ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थः—कर्मरूप उपाधिके सापेक्ष होनेसे अशुद्ध, विनाशी होनेसे अनित्य यह नय है, इस प्रकार प्रथम अनित्यशब्दकी तथा पुनः अशुद्ध शब्दकी योजना करके पश्चात् पर्यायार्थिक शब्दके साथ उच्चारण करनेसे यह अन्तिम भेद अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक सिद्ध होता है । इसमें उदाहरण देते है, कि—जैसे संसारी जीवका जन्म कर्मरूप उपाधिके सापेक्ष है । भावार्थ-संसारी जीवोके जन्म मरणरूप जो व्याधियें है, उनमे वर्त्तमान जो पर्याय है; वे अनित्य है, क्योंकि-इन पर्यायोंका स्वभाव उत्पन्न तथा विनाश होनेका है, और कर्मोंके संयोगसे उत्पन्न होते है, इस कारण वे पर्याय अशुद्ध भी है । इसीसे मोक्षार्थी जीव जन्म मरणआदि पर्यायोका नाश करनेके अर्थ ज्ञान आदि द्वारा मोक्षके विपयमें प्रयत्न करते है । इस कारणसे कर्म अनित्य तथा अशुद्ध है, और उन कर्मोकी अपेक्षा रखनेवाले जन्मआदि भी अशुद्ध है; और इस प्रकारकी (अनित्य तथा अशुद्धकी) योजनासे सिद्ध हुआ जो नय है; वह भी अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक कहा जाता है ॥ ७ ॥

अथ नैगमादिनयानां भेदानाह ।

द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नयोंके भेदोंको निरूपण करके अब नैगमसंग्रहआदि नयोंके भेदोंको कहते हैं ।

नैगमो बहुमानः स्यात्तस्य भेदास्त्रयस्तथा ।
वर्त्तमानारोपकृते भूतार्थेषु च तत्परः ॥ ९ ॥

भावार्थः—नैगमनय बहुमान अर्थात् सामान्य विशेषआदि अनेकरूपका ग्राही है; और उसके तीन भेद हैं; उनमें भूतार्थके विषयमें जो वर्त्तमानका आरोप करनेके लिये तत्पर है, वह नैगमनयका प्रथम भेद है ॥ ९ ॥

व्याख्या । नैगमो नयो बहुमान सामान्यविशेषादिबहुरूपज्ञानस्य ग्राही कथ्यते । नैकैर्मानैर्गम्यते मीयत इति नैकगम ककारलोपान्नैगम इति व्युत्पत्ति । तस्य नैगमनयस्य भेदा' प्रकारास्त्रय । ततश्च तत्र च त्रिषु भेदेषु प्रथमो भेदोऽयं भूतार्थेषु तत्पर भूतार्थविषयेषु वर्त्तमानारोपकृते वर्त्तमानरोपकरणाय तत्परो लीन ईदृशो नैगमो भूतादिनैगम प्रथमो ज्ञेय ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थः—सामान्य तथा विशेषआदि बहुतरूप ज्ञानका ग्राही होनेसे यह नैगमनय बहुमान कहा जाता है । इस नैगम शब्दकी सिद्धि यों मानी है; कि—न एकगम-नैकगम, पुनः ककारका लोप करनेसे नैगम ऐसा हो गया, नहीं जो एक अर्थात् अनेक प्रकारसे जिसका मान किया जाय वह नैगम है । इस प्रकार इसकी व्युत्पत्ति है; इस नैगमनयके तीन (भूतनैगम, भावीनैगम तथा भावीवर्त्तमाननैगम) भेद हैं; और उन तीनों भेदोंमेंसे जो प्रथम भेद है, वह भूतपदार्थमें वर्त्तमानका आरोप करनेमें तत्पर है; ऐसा भूतादि नैगम, नैगमनयका प्रथम भेद जानना चाहिये ॥ ९ ॥

अथास्योदाहरणमाह ।

अब इस प्रथम भेदका उदाहरण कहते हैं ।

भूतादिनैगमस्त्वाद्यो यथा वीरजिनेश्वरः ।
दीपोत्सवदिने चास्मिन्गतो मोक्षं निरामयः ॥ १० ॥

भावार्थः—भूतादिनैगम प्रथम भेद है, जैसे इसी दीपमालिकाके दिन सब विकारशून्य भगवान् श्रीवीर (वर्द्धमान) जिनेश्वर मोक्षको गये हैं ॥ १० ॥

व्याख्या । यथा श्रीवीरजिनेश्वरोऽस्मिन्दीपोत्सवदिने निरामय कर्मप्रपञ्चरहितो मोक्ष गत । अत्र ह्यतीतायां दीपमालायां प्रभोर्मोक्षकल्याणक जातम्, परन्त्वस्मिन्निति पदेनाद्यापि भवत्व कल्पितम्, अतीत-दीपमालया वर्त्तमानदीपमालाया आरोप कृत । वर्त्तमानदिनविषये भूतदिनस्यारोपस्तु तत्कालीनदिने देवागमनादिकमहाकल्याणकसमाजनेऽस्त्यु भूतदिने देवागमनादिमहाकल्याणकसमाजने सति चात्रास्मिस्तदध्यारोप आरोप, असर्पभूताया रज्जौ सर्पारोपवत् । अन्यप्रकारकत भूताया शुक्तौ रजतारोपवदित्यारोपस्तु द्रव्यविषयी,

अतोऽत्र प्रगुणोऽपि नानुसन्धेय किन्च। कालावच्छेदेन विचार्यमाण: पदार्थं कालान्तरेण प्रदर्शनीयस्तेनात्र भूतकालो हि तत्सदृशनामवर्त्तमानकालमुपलक्ष्य स्मर्यतेऽतो भूते वर्त्तमानारोपप्रतीतिरुत्पद्यते। अथवातीत-दीपोत्सवे वर्त्तमानदीपोत्सवस्यारोप कुर्वन्ति, पुनश्च वर्त्तमानदिने भूतदिनस्यारोप कुर्वन्ति, कस्मैचित्कार्याय, तत्कार्यन्त्विदम्-यदा भगवतो निर्वाण जातम् तदानेकसुरसम्पातो जात, सुराद्यागमनमहामहोत्सवादिविरचनेन च तद्दिनप्रतीतिर्जाता अत प्रतीतिप्रयोजनाय भूते वर्त्तमानारोप। यथा "गङ्गाया घोष" अत्र गङ्गायामिति पदेन गङ्गातटे गङ्गाया आरोप क्रियते। तत्तु शैत्यपावनत्वादिप्रत्यायनप्रयोजनाय। तद्वदिहापि घटमान-मस्ति। यदि वीरस्य सिद्धिगमनेनान्वयानुभावकत्वात्प्रकर्षभक्तिलाभाय प्रतीतिर्विचिन्त्यते, तर्हि तत्तद्दिनसमुदित-प्रतीतियुक्त वर्त्तमानदिनमप्यन्वयेनारोप्यते "तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वय" इति वचनन्यायाभ्या समन्वेतव्यम्। वस्तुतस्तु "वर्त्तमानारोपकृते" वर्त्तमानारोपाय "भूतार्थेषु" भूतविषयेषु तत्परो लीनो भूतनैगम प्रथम। यथा दीपोत्सवदिनमद्य वर्त्तते, अत्र वीरेण शिव प्राप्तमित्यतीतदिनलक्षितवीरनिर्वाणकल्याणकत्व वर्त्तमान-तन्नामदिनप्राप्तावारोपित महाकल्याणकप्रतीतिप्रयोजनायेति दिक्। अलङ्कारनिपुणैरत्रार्थेऽलङ्कारग्रन्थोऽपि द्रष्टव्य ॥ १० ॥

व्याख्यार्थः—जैसे संपूर्ण रोगोंसे अर्थात् कर्मरूप प्रपंचोंसे रहित होकर श्रीमहावीर जिनेश्वर इस दीपोत्सव(दीपमालिका)के दिनमे मोक्षको गये है। यहापर महावीर भगवान्का मोक्ष कल्याणक अतीत दीपमालिका अर्थात् कई दीपमालिकाके पूर्व जो दीपमालिकाका दिन है, उसमे हुआ है, परन्तु "अस्मिन्" इस पदसे आजके ही दिनका अनुभव कल्पित किया गया है, इसलिये अतीत दीपमालिकामे वर्त्तमान दीपमालि-काका आरोप किया, और वर्त्तमान दिनके विषयमे भूत दिनका आरोप तो उस दिन (वर्त्तमान दीपमालिकाके दिन)को देवताओंके आगमनरूप महाकल्याणका भाजन न होनेपर और भूत दिन (जिस दिन श्रीवीरभगवान् मोक्षको गये उस दिन)को देवताओके आगमनका भाजन होनेपर अर्थात् वर्त्तमान दिनमें तो देवआदि आके प्रभुके मोक्ष सम्बन्धी महाकल्याणक नहीं करते और भूत दिन (जिस दिन मोक्ष गये उस दिन) देवोंने आके महाकल्याणक किया था ऐसा व्यवहार दृष्ट होता है; इस लिये आरोप होता है, अर्थात् वर्त्तमानमें ही भूतका आरोप होता है; क्योंकि—जो वह नहीं है, उसमें उसका जो धारण करना है; उसको आरोप कहते हैं; इसलिये यहां वर्त्तमान दीपमालिकामे भूत दीपमालिका महाकल्याणक नहीं है; तथापि इसमें उसको धारण करलिया अतः यह आरोप हुआ और जिस रज्जु(डोर)में सर्प नही हैं; अर्थात् जो रज्जू सर्परूप नही है; उसमें सर्पका आरोप करलेना अर्थात् उस रज्जुको भ्रमसे सर्प मान लेना अथवा जो सींप चाँदीरूप नहीं है, उसमें चाँदीका आरोप

करना इस प्रकारका जो आरोप है, वह तो द्रव्यके विषयमें हैं। इसलिये यहांपर प्रगुणका अनुसंधान भी नहीं करना चाहिये, किन्तु जिस पदार्थका कालावच्छेदसे विचार कियाजाय तो उसको अन्य दूसरे कालमें ही दिखलाना चाहिये। इस कारण यहापर भूत काल जो है; उसके सदृश नामके धारक वर्त्तमानकालको पाकर उस भूतकालका स्मरण किया जाता है। इस कारण भूतमें वर्त्तमानकालके आरोपकी प्रतीति उत्पन्न होती है। अथवा अतीत (गये हुए) दीपोत्सवमें वर्त्तमान दीपोत्सवका आरोप उस नैगमनयसे करते हैं। और वर्त्तमान दिनमें भूत दिनका आरोप करते हैं। और यह आरोप किसी कार्यकेलिये किया जाता है। और वह कार्य यह है, कि—जिस समय भगवानका निर्वाण हुआ उस समय अनेक देवताओंका यहांपर समागमन हुआ और उस दिन जो देव आदिका आगमन हुआ तथा उन्होंने आकर जो महा-महोत्सव आदिकी रचना की जिससे उस दिनकी प्रतीति उत्पन्न हुई। इसलिये प्रतीति-रूप प्रयोजनकेलिये भूतमें वर्त्तमानत्वका आरोप कियागया है। जैसे कि—"गंगामें घोष (अहीरोंका ग्राम) है" यहांपर गंगाजीके तटमें गंगारूप अर्थका आरोप किया जाता है; और वह आरोप शैत्य (ठंडापन) पावनत्व (पवित्रपना) धर्मको अधिकता द्योतनरूप प्रयोजनकेलिये किया गया है, इसी प्रकार यहां भी प्रयोजन संघटित हो सकता है। यदि श्रीमहावीरस्वामीके मुक्तिमें जानेसे उसके अन्वयको प्रीतिआदिके विषयमें अनुभवका हेतु होनेसे अधिक भक्तिके लाभार्थ प्रतीतिका विचार किया जाय तो उस दिनमें सम्यक् प्रकारसे उदयको प्राप्त प्रतीतियुक्त वर्त्तमान दिवस भी अन्वयसे आरोपित किया जाता है। और उस कल्याण दिनकी सत्ताहीसे भक्तिआदि लाभकी जो सत्ता है, सो ही अन्वय है। क्योंकि "तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वय." अर्थात् "उसके होनेपर उसकी सत्ता अर्थात कारणके रहनेपर कार्यकी सत्ता" इत्यादि वचन तथा न्यायसे यहा आरोपका अन्वय करना चाहिये। और यथार्थमें तो भूत पदार्थोंमें वर्त्तमानके आरोपकेलिये जो तत्पर है, वही भूतनैगम प्रथम भेद है। जैसे आज दीपोत्सव दिन है, इसी दिन श्रीमहावीरस्वामीने मोक्षको प्राप्त किया है, यहां भूत दिनसे उपलक्षित श्रीवीरका मोक्ष कल्याणकको प्राप्त होना वर्त्तमानमें उसी (दीपोत्सव) नामक दिनको प्राप्त होनेपर महाकल्याणककी प्रतीतिके प्रयोजनकेलिये आरोपित है; यह संक्षेपसे भूतनैगमनयका मार्ग दर्शायागया है। और अलंकारशास्त्रमें प्रवीण जनोंको इस अर्थमें अलंकारका ग्रन्थ भी देखना उचित है ॥ ९ ॥

अथ नैगमस्य द्वितीयभेदमुदाहरति ।

अब नैगमनयके द्वितीय भेदका उदाहरण कहते हैं।

भूतवन्नैगमो भावी जिनः सिद्धो यथोच्यते ।
केवली सिद्धवद्वर्त्तमाननैगमभाषणे ॥१०॥

भावार्थः—भूतके साथ भावीनैगम द्वितीय भेद है । जैसे जिन भगवान् सिद्ध हैं, तथा वर्त्तमान नैगमके कथनमें सिद्धवत् आरोपसे केवली सिद्ध हैं। ऐसा भी व्यवहार होता है ॥ १० ॥

व्याख्या । भावी नैगमो भूतयुक्तो ज्ञेय । भाविनि भूतवदुपचारो । यथा हि जिन केवली सिद्ध सिद्धवज् ज्ञायते तदा भावी नैगमो भवति । असिद्धोऽपि जिन. मिद्धवज्जीर्णज्वलितरज्जुप्रायाघातिकर्मचतुष्टयसद्भावेऽपि शीघ्रभावितक्षयोपस्थितावमिद्धोऽपि मिद्ध एवेति ज्ञेयम् । अथ तृतीयभेदमाह । अनिष्पन्नमपि िष्पन्नतया व्यपदिश्यमान भावि वर्त्तमानमिवान्वेषणीयमिति । यथा हि केवली केवलज्ञानकलितो भगवान् त्रयोदशगुणस्थानस्थित सिद्ध कर्मदोषपोषविकल सभाव्यते । वर्त्तमानदशाया हि जिनावस्था वर्त्तते, कियत्कालानन्तर भाविनी सिद्धावस्थानुदिताप्यारोपबलादय केवली सिद्ध इति भाविविषयो वर्त्तमानविषयतया गृहीतस्तस्मात् भाविनैगम । अत्र हि किञ्चित्सिद्धमुत किञ्चिदसिद्धमेतदुभयमपि जिन सिद्धवद्वर्त्तमाननैगमाद् ज्ञेय इति ॥१०॥

व्याख्यार्थः—अब भावी नैगमको भूत संयुक्त समझना चाहिये अर्थात् भावीमें भूतके समान उपचार होता है । जैसे "जिन भगवान् जो केवली है, सो सिद्ध हैं, अर्थात् सिद्धकी तरह जाने जाते हैं" ऐसे व्यवहारमें भावीनैगम होता है । असिद्ध भी जिन सिद्धके समान है, अर्थात् जीर्ण (पुरानी या जूनी) तथा अग्निसे प्रज्वलित रज्जु (रस्सी) के सदृश जब अघातिया चार कर्मोंका अर्थात् आयुकर्म, गोत्रकर्म, नामकर्म और वेदनी इन अघातियाकर्मचतुष्टयके सद्भाव (विद्यमानता) मे भी शीघ्रतासे उन कर्मोंके नाशको उपस्थित होनेसे असिद्ध भी सिद्ध ही है । ऐसा समझना चाहिये । अब तृतीय भेदका वर्णन करते है—असिद्ध भी सिद्धि निकट होनेसे जब सिद्धतासे कहाजाता है, तब भावी भी वर्त्तमानके सदृश जानना चाहिये, जेसे केवली अर्थात् त्रयोदश १३ वे सयोगकेवली नामक गुणस्थानमे विराजमान केवलज्ञानके धारक श्रीजिनेन्द्र भगवान् सिद्ध अर्थात् कर्मरूप दोषोकी जो पुष्टि है, उससे रहित सभावित होता है । भावार्थ–वर्त्तमान दशामे जिन अवस्था विद्यमान है, कुछ कालके पश्चात् सिद्ध अवस्था होनेवाली है; वह सिद्धावस्था इस वर्त्तमान जिन अवस्थामें उदयको प्राप्त नहीं हुई है; तथापि आरोपके बलसे यह केवली (श्रीजिनेन्द्र) सिद्ध हैं; इस प्रकार भावी जो सिद्ध अवस्थारूप विषय है, वह वर्त्तमान विषयपनेसे ग्रहण कियागया इस कारण यह भावी नैगमनामक नैगमनयका तृतीय भेद है । यहापर श्रीजिनेन्द्र किसी अंशमें तो सिद्ध और किसी अंशमे असिद्ध ऐसे सिद्धासिद्धरूप हैं; तो भी वर्त्तमान नैगमसे उनको सिद्धके समान जानना चाहिये ॥१०॥

अथैतस्यैवोदाहरणं पक्षान्तरव्युदासाय प्रकटीकरोति ।

अब अन्य पक्षोंके निरासार्थ इसी नैगमका पुनः उदाहरण देते हैं ।

आरोपाद्वर्त्तमानश्च यथाभक्तं पचत्यसौ ।
अत्र भूतक्रियां लात्वा भूतवाक्यं विलुप्यते ॥ ११[1] ॥

भावार्थः—आरोपसे भूत तथा भविष्यत् भी वर्त्तमानके तुल्य ही होते हैं, जैसे यह भात पकाता है, यहांपर भूत क्रियाको वर्त्तमानरूपसे ग्रहण करके भूतकालिक वाक्यका प्रयोग नहीं करते ॥ ११ ॥

व्याख्या । आरोपाद्वर्त्तमानो भवति यथा असौ देवदत्तो भक्तं पचतीति वर्त्तमानता परमत्र भक्तस्य कियन्तोऽवयवा सिद्धा सन्ति, अयं च कियन्तश्चावयवा सिद्धयमाना सन्ति । परन्तु पूर्वापरभूतावयवक्रियाया सन्तानो ह्येकबुद्ध्यारोप्यमाणो वर्त्तमानारोपाऽस्तीति । कथयति अत्र हि कश्चित् । आरोपसामग्रीमहिम्ना अवयवानां भूतक्रियां लात्वा पचतीति स्थाने अपाक्षीदिति प्रयोगं न करोति यतस्तदुक्तिः । नैयायिकस्तु चरमक्रियाध्वंसः पाक इत्यत्रातीतप्रत्ययविषयता तन्मते किञ्चित्पक्वम्, किञ्चिदपक्वम् पच्यत इति प्रयोगान्न भवितुमर्हति तस्मादत्र वर्त्तमानारोपनैगम एव भेदो ज्ञातव्यः । तेनैवात्र भूतक्रियां लात्वा भूतवाक्यं विलुप्यते तदसमञ्जसमेवेति ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थः—आरोपसे भूत तथा भावी भी वर्त्तमान हो जाता है । जैसे यह देवदत्त भात पकाता है । यहांपर भातकी वर्त्तमानदशा प्रतीति होती है । परन्तु पाककालमे भातके कुछ अवयव तो सिद्ध (सीझे) हैं, और कितने ही अवयव सिद्ध होने (पकने)वाले हैं, तथापि पूर्व अपर अवयवभूत क्रियासमूहको एक बुद्धिमे आरोप करनेसे 'पचति' (पकाता है) यह वर्त्तमानत्वका आरोप है । ऐसा यहांपर कोई कहता है । और वह आरोपसामग्रीकी महिमासे अवयवोकी भूतक्रियाको करके 'पचति' पकाता है इसके स्थानमे 'अपाक्षीत्' (पकाया) ऐसा प्रयोग नहीं करता है, इसीलिये उसका यह पूर्वोक्त कथन है । और नैयायिक तो अन्तिम क्रियाके नाशको पाक कहते है, अर्थात् तंडुलोंको चूल्हेपर रखनेसे आदिके जब तक अन्तिम क्रिया चावलोंके सब अवयवोको पकाकर नष्ट न होजाय तब तक पाक मानते हैं । इसलिये 'पाक' यहांपर भूतकालकी विषयता है । उनके मतमे चावलका कुछ अंश पक्व है, और कुछ अंश अपक्व है, इस दशामे "देवदत्तेन ओदनः पच्यते" देवदत्त चांवल पकाता है; यह प्रयोग देखनेमे आता है, सो नहीं हो सकता । क्योकि—अभी तक अन्तकी क्रियाका नाश तो हुआ ही नहीं, इस हेतुसे पचति इस स्थलमे भावि नैगमसे वर्त्तमानका आरोप

१ "वर्त्तमाने" लट्" इस पाणिनीय ३।२।१२३। सूत्रसे वर्त्तमान कालमे लट् लकार होता है, और भूतकालमे लुङ् होता है, वर्त्तमानमे "पचति" भूतमे "अपाक्षीत्" रूप होता है ।

यही उत्तम जानना चाहिये इसीसे यहाँ भूतक्रियाको लाकर जो भूतवाक्यका लोप किया जाता है; वह असमंजस ही है ॥ ११ ॥

अथ सग्रहनय विवृणोति ।

अब संग्रहनयका विवरण करते है ।

सङ्ग्रहो द्विविधो ज्ञेयः सामान्याच्च विशेषतः ।
द्रव्याणि चाविरोधीनि यथा जीवाः समे समाः ॥१२॥

भावार्थः—सामान्य तथा विशेपसे संग्रहनयके दो (२) भेद है; जैसे द्रव्य सब अविरुद्ध स्वभाव है, और सब जीव समान हैं ॥ १२ ॥

व्याख्या । सगृह्णातीति सग्रह, अथवा सगृह्यतेऽनेन सामान्यविशेषाविति सग्रह । स च द्विविध द्विप्रकार । तयोरेक सामान्यौघात् सामान्यसग्रह १ द्वितीयो विशेषाव्द्यक्तेर्विशेषसग्रह २ इत्थ द्विभेद । अथानयो प्रत्येकमुदाहरणे द्रव्याणि धर्मास्तिकायादीन्यविरोधीनि परस्परविरोधरहितानीत्यर्थ । एकद्रव्य-- सद्भावे द्रव्यषटक्मेव प्राप्यत इति प्रथमोदाहरणम् ॥ १ ॥ यथा च जीवा सर्वेऽविरोधिनो जीवा हि ससृतिविषयिण सिद्धिविषयिणश्चानन्ता वर्त्तन्ते तेषा निरुक्ति—जीवति चैतन्यादिति जीव । अथ च जीवप्राणधारणे तत्र प्राणा द्विधा द्रव्यभावभेदात्तत्र च द्रव्यप्राणा दश, भावप्राणाश्चत्वार । मोक्षप्राप्तौ यद्यपि द्रव्यप्राणाना कर्मजन्याना सर्वथा क्षयस्तथापि जीवनलक्षणा जीवस्य भावप्राणा सहचारिण कर्मासद्भावेऽपि भवन्ति सिद्धानामपि जीवत्वाद्भावप्राणा भवन्त्यतो मुक्ता ससारिणश्च जीवा । मुक्ता पुन. पञ्चदशभेदा, ससारिणो देवनारकतिर्यङमनुष्यभेदाच्चतुर्धा तत्रान्तिमभेदयो पञ्च भेदास्तत्रापि मनुष्यस्य पञ्चाक्षलक्षण एक एव भेद, तिरश्च एकस्मादारभ्य पञ्च यावत् । अक्षभेदादेकाक्षद्व्यक्षत्र्यक्षचतुरक्षपञ्चाक्ष-- भेदात्पञ्च भवन्ति । एव भेदतोऽपि जीवा सर्वेऽविरोधिन सग्रहाद्विशेषसग्रहभेद ॥ २ ॥ अथ च सग्रह-- स्वरूपमुपवर्णयन्ति । सामान्यमात्रग्राही परामर्श सग्रह इति, सामान्यमात्रमशेषविशेषरहितम् । स तु द्रव्यत्वादिक गृह्णातीत्येव शील । समेकीभावेन विशेषराशि गृह्णातीति सग्रह । अयमर्थं स्वजातेर्दृष्टेष्टा-- भ्यामविरोधेन विशेषाणामेकरूपतया यद्ग्रहण स सग्रह इति । अनुभेदानादर्शयन्ति । अयमुभयविकल्प परोऽपरश्चेति । तत्र परसग्रहमाहु । अशेषविशेषेष्वौदासीन्य भजमान शुद्धद्रव्य सन्मात्रमभिमन्यमान परसग्रह इति परामर्श इति । अग्रेतनेऽपि योजनीयमुदाहरति । विश्वमेक सदविशेषादिति यथेति । अस्मिन्नुक्ते हि सदिति ज्ञानाभिधानानुवृत्तिलिङ्गानुमितिसत्ताकत्वेनैकत्वमशेषार्थाना सगृह्यते ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थः—जो संग्रह करे अथवा जिसके द्वारा सामान्य तथा विशेष संग्रह किये जावे उसको संग्रहनय कहते हैं। वह दो प्रकारका है। उनमें प्रथम तो सामान्य ओघसे सामान्यसंग्रहनामक भेद है; और द्वितीय विशेपसे व्यक्तिका संग्रह करनेसे विशेषसग्रह भेद है। इस रीतिसे सामान्य संग्रह और विशेष संग्रह यह दो (२)भेद संग्रहनयके हुये । अब इन दोनोंमेंसे प्रत्येकके उदाहरण यह हैं, जैसे धर्मास्तिकायआदि सब द्रव्य अवि-

रोधी अर्थात् परस्पर विरोधरहित है। क्योंकि-एक द्रव्यके सद्भावमे छहों द्रव्योंकी प्राप्ति होती है। यह प्रथम सामान्यसंग्रहका उदाहरण है। तथा जैसे संपूर्ण जीव अविरोधी हैं। और संसृतिविषयी (संसारी) तथा सिद्धिविपयी (मुक्त) जीव अनन्त हैं। और उनकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति) अर्थात् जीव शब्दका अर्थ यह है, कि-जो चैतन्यसे जीता है; उसको जीव कहते है। अथवा जीव धातुका अर्थ है, प्राण धारण करना और वह प्राण द्रव्य तथा भाव भेदसे दो प्रकारके है। उनमे भी द्रव्यप्राण तो दश १० हैं, और भाव प्राण चार ४ हैं। और जब जीवके मोक्षकी प्राप्ति होती है, तब यद्यपि कर्मसे उत्पन्न होनेवाले जो दश १० द्रव्यप्राण है, उनका सर्वथा नाश हो जाता है, तथापि जीवके सहचारी जीवनरूप चारों ४ भावप्राण कर्मोंके अभावमे भी जीवके होते है, अर्थात् सिद्धोंके भी जीवत्व होनेसे भाव प्राण हैं, इसलिये जीव मुक्त तथा ससारी ऐसे दो प्रकारके है। फिर मुक्त जीवोंके भी पन्द्रह १५ भेद[1] है। और देव नारक तिर्यञ्च और मनुष्य इन भेदोसे संसारी भी ४ प्रकारके है। उनमे भी अन्तके दो भेदोके अर्थात् तिर्यञ्च और मनुष्योके पाच भेद हैं, उनमें भी मनुष्यका पञ्चेन्द्रियत्वरूप एक ही भेद है, तिर्यञ्च एकसे लेकर पाच तक हैं, अर्थात् इन्द्रियजनित भेदसे अर्थात् एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय इन भेदोंसे पांच प्रकारके होते है। इस रीतिसे यद्यपि जीव भेदसहित है, तथापि सब जीव अविरोधी है, अर्थात् जीवन धारण करनेमें किसी जीवका विरोध नहीं है। जीव द्रव्यविशेषका संग्रह करनेसे यह दूसरा भेद विशेष संग्रहनामक है। २। अब संग्रहनयके स्वरूपका वर्णन करते है। सामान्यमात्रका ग्रहण करनेवाला जो ज्ञान सो संग्रह है; संपूर्ण विशेषोसे जो रहित है, उसको सामान्यमात्र कहते है, और वह द्रव्यत्वआदिको ग्रहण करनेवाले स्वभावका धारक है। तथा सम् अर्थात् ऐकीभावसे पिण्डीभूत विशेष राशिको जो ग्रहण करे वह संग्रह है। तात्पर्य यह कि-स्वकीय जातिसे जो दृष्ट तथा इष्ट हैं; उनके द्वारा संपूर्ण विशेषोको जो एक ही रूपसे ग्रहण करे वह संग्रह है। अब इस संग्रहनयके भेदोंको दिखाते हैं। यह संग्रह दो विकल्पोंका धारक है। अर्थात् इसके दो भेद हैं। एक तो परसंग्रह और दूसरा अपरसंग्रह उनमे संपूर्ण विशेषोंमे उदासीन रहे और सत्तामात्रको शुद्ध द्रव्य माने ऐसा जो ज्ञान है; उसको परसंग्रह कहते हैं। आगे इसमे युक्त करने योग्य उदाहरण देते है। जैसे यह संसार सद्रूपसे एक है, अर्थात् सब संसार एक है, क्योंकि सब ससारमें सत्पना एक ही है; उसमे कोई विशेप नहीं। और "विश्व एक है सत्मे विशेष न होनेसे" ऐसा न भी कहें तो भी सत्तारूप ज्ञान सब पदार्थमे है, उस सत्स्वरूप ज्ञान तथा सत् शब्दके कथनकी

---

१ पन्द्रह कर्म भूमियोंमे उत्पन्न होके मुक्त होनेकी अपेक्षासे मुक्त जीवोंके पन्द्रह १५ भेद हैं।

सर्वत्र [1]अनुवृत्तिरूप लिंगसे अनुमानसिद्ध जो सर्वत्र सत्तारूप एकत्व है; उस सत्वरूप एकत्वसे संपूर्ण पदार्थोंका संग्रह होता है। तात्पर्य यह कि–इस परसंग्रहमें एक सत्रूपसे संपूर्ण वस्तुमात्रका ग्रहण होता है। इसीसे इस संग्रहनयके अनुसार यह कह सकते हैं; कि–यह संपूर्ण विश्व सत्स्वरूपसे एक है ॥ १२ ॥

अथ संग्रहनयभेदं दर्शयन्नाह ।

अब इस पूर्वोक्त संग्रहनयके भेदक व्यवहारनयको दर्शाते हुए कहते हैं ॥

संग्रह भेदकव्यवहारोऽपि द्विविधः स्मृतः ।
जीवाजीवौ यथा द्रव्यं जीवाः संसारिणः शिवाः ॥१३॥

भावार्थः—संग्रहनयका भेदक जो विषय है; उसका दर्शक व्यवहारनय है, वह भी दो प्रकारका है; अर्थात् पूर्ववत् सामान्यसंग्रहभेदक व्यवहार और विशेषसंग्रह भेदक व्यवहार इस भांतिसे व्यवहारके दो भेद हैं; क्रमसे दोनोंके उदाहरण यह हैं; कि–जैसे जीव और अजीव ये दोनों द्रव्य हैं। जीव दो प्रकारके हैं; संसारीजीव और मुक्तजीव इन भेदोंसे ॥ १३ ॥

व्याख्या । संग्रहस्य नयस्य यो भेदको विषयस्तस्य दर्शकः स व्यवहारनयः कथ्यते । व्यवह्रियते संग्रहविषयोऽनेनेति व्यवहारः । सोऽपि द्विविधः द्विप्रकारः स्मृतः कथितः । तस्यैव पूर्वोदितस्य संग्रहनयस्य भेदवदस्यापि भेदभावना कर्त्तव्या । यत एकः सामान्यसंग्रहभेदकव्यवहारः १ द्वितीयो विशेषसंग्रहभेदकव्यवहारः २ एवं भेदद्वयम् । अथ तयोरुदाहरणे । तत्राद्यस्योदाहृतिर्यथा–जीवाजीवौ द्रव्यम् । अत्र जीवस्य चेतनस्याजीवस्याचेतनस्य संग्रहसामान्यविषयत्वाद्द्रव्यमित्येकैव संज्ञा, कथं द्रवति तांस्तान्पर्यायान्गच्छतीति त्रिकालानुयायी यो वस्त्वंशस्तद्द्रव्यमिति व्युत्पत्त्या स्वगुणपर्यायवत्त्वेनोभयोरपि जीवाजीवयोर्द्रव्यत्वं साधारणमित्यर्थाज्जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति सामान्यसंग्रहभेदकव्यवहारः । १ । अथ जीवाः संसारिणः सिद्धाश्चात्र जीवानामनन्तानां चैतन्यवत्ता समानाऽपि संसारित्वं सिद्धत्वं च विशेषव्यवहारोऽतो द्वितीयभेदो विशेषसंग्रहभेदकव्यवहारः । २ । एवमुत्तरोत्तरविवक्षया सामान्यविशेषत्वं भावनीयम् ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थः—इस संग्रहनयका जो भेदक विषय है; उसके दर्शकको व्यवहारनय कहते हैं। संग्रहनयके विषयका व्यवहार जिसके द्वारा हो वह व्यवहारनय है, यह व्यवहार शब्दकी व्युत्पत्ती है। वह व्यवहारनय भी दो प्रकारका कहा गया है, तात्पर्य यह है; कि–उसी पूर्वकथित संग्रहनयके भेदके समान इसकी भी भेदभावना करनी चाहिये क्योंकि–एक सामान्यसंग्रहनयका भेदक व्यवहारनय है। और द्वितीय विशेषसंग्रहका भेदक (विशेषसंग्रहके विषयको भिन्नरूपसे व्यवहार करनेवाला) व्यवहारनय है। इस प्रकार सामान्यसंग्रहभेदक व्यवहारनय तथा विशेषसंग्रहभेदक व्यवहारनय ये दो भेद

[1] घट सत्, पट सत्, जीव सत्, है; तथा पुद्गल सत् है. इस प्रकारसे सत्की अनुवृत्ति सर्वत्र है। इस अनुवृत्तिरूप लिंग हेतुसे सत् सर्वत्र है, ऐसा ज्ञान होता है।

हुये। २। अब इन दोनों भेदोंके उदाहरण कहते हैं। उनमें सामान्यसंग्रहभेदक व्यवहारनयका उदाहरण यह है; कि जीव और अजीव दोनों द्रव्य हैं, यहांपर चेतन जीव तथा अचेतन अजीव, इन दोनोंके संग्रहका सामान्य विषय होनेसे दोनों द्रव्य हैं। यह व्यवहार होता है। यदि यह कहो कि-चेतन तथा अचेतन दोनोंके विरुद्ध धर्म होनेसे एक द्रव्य संज्ञा कैसे हुई? तो इस रीतिसे है, कि-द्रुधातुका गमन अर्थ है; उससे यत् प्रत्यय कहनेसे द्रु+य=द्रो+य=द्रव्य शब्द सिद्ध होता है। जो उन २ अनेक पर्य्यायोंमें प्राप्त हो वह द्रव्य है, अर्थात् समस्त पर्य्यायोंमें त्रिकालमे अनुगामी जो वस्तुका अंश है, वह सर्वत्र अनुगत होनेसे द्रव्य है। इस व्युत्पत्तिसे अपने गुण पर्य्यायोंसे युक्त होनेसे जीव अजीव दोनोंका द्रव्य इस साधारण पदसे ग्रहण होता है; क्योंकि-जीव द्रव्य भी देव, मनुष्य, तथा सिद्ध, पर्य्यायोको प्राप्त होता है, परन्तु चेतन जीवरूपता सव पर्य्यायोंमे अनुगत है, अजीव मृत्तिका सुवर्णआदि द्रव्य भी घट शराव तथा कुंडल कटकआदि पर्य्यायोंमे प्राप्त होता है; किन्तु मृत्तिका तथा सुवर्ण अंश सर्वत्र अनुगत है, इसलिये द्रव्य यह पद दोनोंकेलिये सामान्यसंग्रह है, उसमे जीवद्रव्य तथा अजीव द्रव्य यह सामान्यभेदक व्यवहारनय है, (अर्थात् द्रव्य सामान्यमे जीव और अजीव इस व्यवहारके लिये इस नयने भेद कर दिया, इसी हेतुसे यह सामान्यसंग्रहभेदक व्यवहार नय प्रथम भेद है) और जीव संसारी तथा सिद्ध (मुक्त) दो प्रकारके होते हैं, इस कथनमे चेतनत्वधर्मयुक्त जीव जो अनन्त संख्यायुक्त हैं, उनका संसारित्व तथा सिद्धत्व यह विशेष व्यवहार है, तात्पर्य यह है, किं-द्रव्य सामान्यमे जो विशेष द्रव्य जीव है, उस जीव सामान्य द्रव्यमें भी संसारित्व तथा सिद्धत्व यह विशेषव्यवहार हुआ, इस हेतुमें यह विशेषसंग्रहभेदक व्यवहारनय द्वितीय भेद है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर विवक्षाके अनुसार सामान्यविशेषकी भावना करते चला जाना चाहिये जहांतक व्यवहारका अन्त नहीं है, वहां तक बराबर सामान्य[1]विशेष[2]भाव लगा है। जैसे संसारी तथा सिद्ध ये दो भेद होनेपर भी पुनः संसारीको सामान्य मानकर उनके देव मनुष्य नारक तथा तिर्य्यञ्च-अनेक भेद हैं, पुनः सामान्य देवोंके वैमानिक, व्यन्तर भवनवासीआदि अनेक भेद हैं, पुनः वैमानिकआदिके भी अनेक भेद है। ऐसे ही मनुष्यआदिके भेद, अवान्तर भेदका व्यवहार करते चले जावो। इस व्यवहार नयका यह प्रयोजन है; कि-सामान्य संग्रहसे व्यवहार नहीं चलता क्योंकि-केवल द्रव्य कहनेसे लोक व्यवहार नहीं चलता, द्रव्य लाओ ऐसा कहनेसे यह आकांक्षा अवश्य होती है, कौन द्रव्य, जीव वा अजीव;

१ द्रव्यसामान्यकी अपेक्षासे तो जीवद्रव्य विशेष है, परन्तु सब प्रकारके जीव जैसे मनुष्य जीव, देव जीव इत्यादि विवक्षासे जीव भी सामान्य है। २ इसलिये सब जीवकी अपेक्षासे जीव सामान्य तथा विशेष अपेक्षाभेदसे हैं।

उस जीवआदि द्रव्यमें भी कौन जीव संसारी अथवा सिद्ध, संसारीमें भी कौन मनुष्य मनुष्योंमें भी कौन मनुष्य जैन अथवा वैष्णव इत्यादि रीतसे सर्वत्र सामान्य विशेषभाव की व्यवस्था समझ लेना ॥१३॥

अथ ऋजुसूत्रनयस्य भेदमाह ।

अव ऋजुसूत्रनामक चतुर्थ नयके भेदको कहते हैं ।

स्वानुकूलं वर्त्तमानं ऋजुसूत्रो हि भाषते ।
तत्र क्षणिकपर्यायं सूक्ष्मः स्थूलो नरादिकम् ॥१४॥

भावार्थः—अपने अनुकूल केवल वर्त्तमान कालवर्त्ती विषयको ऋजुसूत्र नय कहता है; उसमें भी सूक्ष्म क्षणिकपर्यायको और स्थूल मनुष्यआदिको कहता है ॥१४॥

व्याख्या । हि निश्चित ऋजुसूत्रो नयो वर्त्तमान केवलमतीतानागतकालरहित भाषते मनुते । तदपि कीदृश स्वानुकूल स्वस्यात्मनोऽनुकूल कार्यप्रत्यय मनुते परन्तु परप्रत्यय न मनुते । सोऽपि ऋजुसूत्रो द्विभेदो द्विप्रकार एकः सूक्ष्मऋजुसूत्र', अपर स्थूलऋजुसूत्रः । तत्र सूक्ष्मस्तु क्षणिकपर्याय मनुते, क्षणिका. पर्यायाः परतोऽवस्थान्तरभेदात्पर्यायाणा स्ववर्त्तमानताया क्षणावस्थायित्वमेवोचितमिति । स्थूलस्तु मनुष्यादिपर्याय वर्त्तमान मनुतेऽतीतानागतादिनारकादिपर्यायं न मनुते । यो हि व्यवहारनयः कालत्रयवर्तिपर्यायग्राहकस्तस्मात्स्थूलऋजुसूत्रो व्यवहारनयेन सकरत्व न लभते । अथ च ऋजुवर्त्तमानक्षणस्थायिपर्यायमात्रप्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रनय इत्यतीतानागतकाललक्षणकौटिल्यवैकल्यात्प्राञ्जलमिति ॥१४॥

व्याख्यार्थः—निश्चयरूपसे ऋजुसूत्रनय भूत भविष्यसे रहित केवल वर्त्तमान कालको स्वीकार करता है; और वह भी अपने आत्माके अनुकूल कार्यके प्रत्ययको मानता है; न कि-पर प्रत्ययको । यह ऋजुसूत्र नय भी दो प्रकारका है; एक सूक्ष्म ऋजुसूत्र और दूसरा स्थूलऋजुसूत्र । उनमेंसे सूक्ष्मऋजुसूत्र क्षणिक पर्यायको मानता है; क्योंकि—[illegible]की अपेक्षासे सब पर्याय क्षणिक हैं, अन्यकी अपेक्षासे अवस्थान्तरका भेद निजवर्त्तमानतामें क्षणिकस्थायिताका मानना ही उचित है । और [illegible] मनुष्यादि पर्यायको मानता है; और अतीत तथा अनागत (भविष्य) नहीं मानता है । जो व्यवहार नय है; वह त्रिकालवर्ती [illegible] उस व्यवहारनयके साथ स्थूलऋजुसूत्र संकर दोषताको नहीं कुटिलता दोषसे रहित ऋजु (सरल) केवल वर्त्तमान[illegible] करनेरूप जिस नयका प्रधानतासे [illegible]

अथ शब्दनयमाह।
अब शब्दनयको कहते हैं।

शाब्दिको मनुते शब्दं सिद्धं धात्वादिभिस्तथा।
भिन्नं समभिरूढाख्यः शब्दर्थं तथैव च ॥१५॥

भावार्थः—शब्दनय धातुआदिसे सिद्ध शब्दोंको स्वीकार करता है; परन्तु लिंगवचनादिद्वारा शब्दभेदसे अर्थका भेद मानता है; और ऐसे ही समभिरूढनय अर्थ भेद होनेसे शब्दभेद अवश्य मानता है ॥ १५ ॥

व्याख्या। शाब्दिकः शब्दनयो धात्वादिभिः प्रकृतिप्रत्ययादिविभागेन व्युत्पन्नं शब्दं सिद्धं मनुते परन्तु लिङ्गवचनादिभेदेनार्थस्य भेदं मनुते। यथा—तटः तटी, तटमिति लिङ्गत्रयभेदादर्थभेदः, तथा आपो जलमित्यत्र बहुवचनैकवचनभेदादर्थभेद इति। अयं हि शब्दनयः ऋजुसूत्रनयं प्रतीदं वक्ति यत्काल-भेदेन त्वमर्थभेदं मनुषे तर्हि लिङ्गादिभेदेनार्थभेदं प्रस्तुतमपि कथं न मनुषे इति। अथ समभिरूढनयमाह। समभिरूढाख्यो नयः शब्दं भिन्नं पुनश्चार्थमपि भिन्नं मनुते। शब्दभेदेऽर्थभेद इति ब्रुवन्नसौ शब्दनयं प्रतिक्षिपति। तथा हि-यदि भवाल्लिङ्गादिभेदेनार्थभेदमङ्गीकरोति तदा शब्दभेदेनार्थभेदमपि कथं नाङ्गीकरोति तस्माद् घटो भिन्नार्थः, कुम्भो भिन्नार्थः, शब्दभेदादर्थभेद इति। शब्दार्थयोरैक्यं यदस्ति तत् शब्दादिनयानां वासनया वर्त्तते शब्दनयस्यैव भेद इति ज्ञेयं इति. अयं च पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढ इति। शब्दनयो हि पर्यायाभेदेऽप्यर्थभेदमभिप्रैति, समभिरूढस्तु पर्यायभेदे भिन्नानर्थानभिमन्यते। अभेदं त्वर्थगतं पर्यायशब्दानामुपेक्ष्यत इति ॥१५॥

व्याख्यार्थः—शब्दनय धातु, प्रकृति तथा प्रत्ययआदिके विभागसे व्युत्पन्न शब्दको सिद्ध मानता है, परन्तु लिंग, वचन, तथा धातुआदिके भेदसे अर्थका भेद मानता है। जैसे तटः यह पुल्लिंग, तटी यह स्त्रीलिंग तथा तटम् यह नपुंसकलिंगमे रूप होता है। यहाँ तीनों लिंगोंमे शब्दके स्वरूपमे भेद होनेसे अर्थका भेद मानता है। और आपः तथा जलम् ये दोनो शब्द यद्यपि पर्याय (एकार्थवाचक) हैं, तथापि अप् शब्द नित्य स्त्रीलिंग ही है, और बहुवचन है, और जल शब्द नपुंसकलिंग तथा एकवचन है, इस हेतुसे (बहुवचन तथा एकवचनके भेदसे) अर्थ भेद है। और यह शब्दनय ऋजुसूत्र नय-के प्रति यह कहता है; कि-यदि तुम कालके भेदसे पदार्थका भेद मानते हो तो लिंग, वचनआदिके भेदसे उपस्थित जो पदार्थभेद है; उसको भी क्यों नहीं मानते? अब समभिरूढनामक नय शब्दको भिन्न और अर्थको भिन्न मानता है; क्योंकि-शब्दका भेद होनेपर अर्थका भेद है, ऐसा कहता हुआ यह नय शब्दनयके प्रति आक्षेप करता है; सो ही दिखाते हैं; कि-यदि आप लिंगादिके भेदसे अर्थ भेद मानते हो तो शब्दके भेदसे अर्थके भेदको भी क्यों नहीं अङ्गीकार करते? शब्दभेदसे अर्थभेद अवश्य है, इसलिये घट

शब्द भिन्न अर्थवाचक है; और कुम्भशब्द भिन्नार्थवाचक है; इसलिये शब्द के भेदसे अर्थमे भेद है; और शब्द तथा अर्थकी जो एकता है; वह तो शब्दआदि नयकी वासनासे है, अर्थात् वह एकता शब्दनयका ही भेद है; ऐसा समझना चाहिये और पर्याय शब्दोंमें व्युत्पत्तिके भेदसे अर्थके भेदको जो आरूढ करै वह समभिरूढ कहलाता है; यह इसका लक्षण है; जैसे—समर्थ होनेसे शक्र (शकनात् शक्रः) अनेक प्रकारके ऐश्वर्योंसे संयुक्त होनेसे इन्द्र (इन्दति ऐश्वर्यं प्राप्नोतीति इन्द्रः) शत्रुवोंके नगरोंको विदारण करनेसे पुरंदर (पूः दारयतीति पुरन्दरः) इत्यादि समभिरूढ नयके उदाहरण समझने चाहिये। शब्दनय तो पर्यायके अभेदमें भी लिंग वचनआदिके निमित्तसे अर्थभेद मानता है; और समभिरूढनय तो पर्यायोंके भेदमें भिन्न २ अर्थोंको स्वीकार करता है; जैसा कि-पूर्व उदाहरणोंसे दर्शा चुके हैं। और जो अर्थनिष्ट अभेद पर्यायवाचक शब्दोंका है; वह तो अर्थात् (अर्थसे) प्राप्त होगा जैसे शक्र, इन्द्रआदि शब्दोंका उन उन कार्योंसे भेद रहते भी उसी शचीके पतिरूप अर्थको सब कहते हैं ॥१५॥

अथैवंभूतनयं प्रकाशयन्ति ।

अब एवंभूतनयका प्रकाश करते हैं ।

क्रियापरिणतार्थं चेदेवंभूतो नयो वदेत् ।
नवानां च नयानां स्युर्भेदाः सिद्धिदृगुन्मिताः ॥१६॥

भावार्थः—क्रियाके परिणाम कालमे जो अर्थ हो उसको एवभूत सप्तम नय कहता है; इस प्रकारसे द्रव्यार्थिकआदि नव ९ नयोंके भेद सिद्धि ८ और दृक् (दृष्टि) २ " अङ्कानां वामतो गतिः " इस न्यायसे २ और ८ अर्थात् अट्ठाईस भेद हैं ॥१६॥

व्याख्या । यथा—एवभूतो नय' शब्दाना प्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थ वाच्यत्वेना भ्युपगच्छन्नेवंभूत इति । समभिरूढनयो हीन्दनादिक्रियाया सत्यामसत्या च वासवादेरर्थस्ये-न्द्रादिव्यपदेशमभिप्रैति, पशुविशेषस्य गमनक्रियाया सत्यामसत्या वा गोव्यपदेशवत्तथा रूढे सद्भावात् । एवभूत' पुनरिन्दनादिक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाल इन्द्रादिव्यपदेशभाजमभिमन्यते । न हि कश्चिदक्रिया-शब्दोऽस्यास्ति । गौरश्व इत्यादिजातिशब्दाभिमतानामपि क्रियाशब्दत्वाद्गच्छतीति गौ, आशुगामित्वादश्व, इति क्रियापरिणतार्थं क्रियया परिणतमर्थं वदेत् क्रियासमय एव मनुते । परन्तु

मनुत इति भावार्थ यथा राजा इनि मभाया सत्या छत्रे शिरसि [illegible]

सत्येव व्यपदेशं लभते । अन्यत्र स्नानादिवेलाया समाछत्रचामरादिभिः .

अथ च गुणशब्दा अपि शुक्लो नील इत्यादयो [illegible]

शुचिभवनाच्छुक्लो नी [illegible] नान्नील इति । देवदत्तो यज्ञदत्त

क्रियाशब्दादेव एनं देयादिति [illegible] । संयोगिद्रव्यशब्दाः

शब्दा एव "दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी", विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यत्र क्रियाप्रधानत्वात् । पञ्चतयी तु शब्दानां व्यवहारमात्रा न निश्चयादित्ययं नयः स्वीकुरुते । उदाहरन्ति यथेन्दनमनुभवन्निन्द्र शकनक्रियापरिणत शक्र, पूर्दारणप्रवृत्त पुरन्दर इत्युच्यते ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थः—जैसे एवंभूतनय शब्दोंको प्रवृत्तिनिमित्त भूतक्रियासे आविष्ट (युक्त) अर्थको ही वाच्यत्वरूपसे स्वीकार करता है, इसलिये यह एवंभूतनामक है, अर्थात् जिस क्रियारूपमे परिणत अर्थ है, वही वाच्य है। ओर समभिरूढनय तो इन्दनादि क्रिया अर्थात् ऐश्वर्य साहित्य हो वा न हो बासवआदि शब्दोंकी इन्द्रआदि शब्द वाच्यताको अंगीकार करता है, जैसे पशुविशेष (गो) में गमनआदि क्रिया हो वा न हो गो व्यपदेश (कथन) होता है, क्योंकि—ऐसे ही रूढिका सद्भाव होता है, और एवंभूत नय तो इन्दन अर्थात् ऐश्वर्यआदिके साहित्यरूप क्रियामे परिणत जब अर्थ है, उस क्रियाके कालमे ही इन्द्रआदि नामको मानता है, और इस एवंभूतनयकी अपेक्षासे कोई अक्रियाशब्द अर्थात् क्रियावाचक न हो ऐसा शब्द नहीं है, क्योंकि—इस नयके अनुसार गो, अश्वआदि शब्द जो जातिवाचकरूपसे इष्ट हैं, वे भी क्रियावाचक हैं, जैसे गमन क्रिया करनेसे गो, और शीघ्र गमन करनेसे अश्व इस प्रकारसे क्रियापरिणत अर्थको कहता है, और उस अर्थको भी क्रियाके समयमे ही मानता है, और क्रियाके समयको उल्लंघन करके उस अर्थको नहीं मानता तात्पर्य यह है, कि-जैसे " राजते (शोभते) इति राजा" अर्थात् छत्र चामरआदिसे जो शोभित हो वह राजा है, यहांपर राजन् शब्दकी पूर्व कथित व्युत्पत्तिसे जब कोई मनुष्य सभामे स्थित होगा और उसके मस्तकपर छत्र धरा हुआ होगा और दो चमरोंसे झूल रहा (वीजित) होगा तभी वह राजा इस व्यपदेशको प्राप्त होता हे; स्नानआदिके समयमे जब कि-सभा, छत्र, चामरआदि राजाके चिन्ह नहीं हैं, उस समय वही मनुष्य राजा नहीं है, ओर शुक्र, नील इत्यादिक शब्द गुणवाचकरूपसे अभीष्ट है, वे भी इस नयके अनुसार क्रियाशब्द ही हैं, जैसे शुचि होनेसे शुल्क, नील रंग करनेसे नीलआदि भी क्रियाशब्द ही हैं। देवदत्त, यज्ञदत्त आदि जो यदृच्छा (संज्ञा वा नामवाचक) शब्दरूपसे अभीष्ट हैं, वह भी क्रियाशब्द ही है, जैसे देव इसको देवे, इत्यादि क्रियारूपता इनमे भी विद्यमान है, तथा संयोगी द्रव्य वाचक शब्द तथा समवायी द्रव्यवाचक शब्द अर्थात् सयोग सम्बन्धसे द्रव्यवाचक और समवाय सम्बन्धसे द्रव्यवाचकत्वरूपसे जो इष्ट है, वह भी इस नयके अनुसार क्रियाशब्द ही हैं, जैसे—दंड हे, जिसके वह दंडी तथा जिसके विपाण (श्रृंग) सींग है, वह विपाणी इत्यादि शब्दोमे भी क्रियाकी प्रधानता है। और जाति, गुण, संज्ञा, द्रव्य, तथा क्रिया इन पाच प्रकारसे जो शब्दोंकी प्रवृत्ति कही गई है, वह तो केवल व्यवहारनयसे है, न कि—निश्चयनयसे ऐसा यह नय मानता है, और इसी व्यवस्थासे अर्थात् सपूर्ण शब्दोंकी

क्रियावाचकताके अनुसार ही प्रवृत्ति है, ऐसा उदाहरण भी देता है; जैसे इन्द्र संज्ञा तभी हो सकती है; जब वह इन्दन (ऐश्वर्य्यको) अनुभव करता हो ऐसे ही शकन (सामर्थ्य संपादनरूप) क्रियामे जब परिणत है; तभी शक्र और इसी रीतिसे पुर (शत्रुके) दारण-में जब प्रवृत्त है, तभी पुरन्दर कहा जाता है ॥ १६ ॥

अथ व्याख्यासमाप्तिर्नयाना कृता तथैवाह ।

अब जो नौ नयोंकी व्याख्याकी समाप्ति की है, उसीको कहते हैं।

नया नवैते कथितास्तथोपनयास्त्रयः सारतमाः श्रुतस्य ।
विज्ञाय तानेव बुधाः श्रयन्तां जिनक्रमाम्भोजयुगाश्रयं सत् १७

भावार्थः—यह शास्त्रके साररूप नव ९ नय तथा वक्ष्यमाण तीन ३ उपनय कहे गये है, बुद्धिमान् उन्हीको पूर्णरूपसे जानकर सद्रूप (सर्वरूपसे समर्थ) श्रीजिनदेवके चरण कमलयुगलका आश्रय ग्रहण करे ॥ १७ ॥

व्याख्या । नवाना नवसङ्ख्याकाना नयाना द्रव्यार्थिक १ पर्यायार्थिक २ नैगम ३ सग्रह ४ व्यवहार ५ ऋजुसूत्र ६ शब्द ७ समभिरूढ ८ एवभूत ९ मुखाना भेदा प्रकारा सिद्धिदृग्मिता. २८ प्रमिता सर्वे स्युर्भवन्ति । तत्र द्रव्यार्थिको दशभेद, पर्यायार्थिक षड्भेद, नैगमस्त्रिभेद, सग्रहो द्विभेद, व्यवहारो द्विभेद., ऋजुसूत्रो द्विभेद, शब्द एकभेद, समभिरूढ एकभेद एवमेतेषा भेदा अष्टाविंशति । अथान्त्यनमस्कार प्रकृतप्ररूपण नामोत्कीर्त्तनमप्याह । एते पूर्वव्यावर्ण्यमाना नया नव सत्यया, तथा तेन प्रकारेणैवोपनया-स्त्रयोऽग्रे वक्ष्यमाणाश्च श्रुतस्य श्रीवीतरागदेवप्रणीतागमस्य सारतमा अतिशयेन प्रधाना. सारतमा वर्त्तन्ते । तदुक्तमावश्यके निर्युक्तौ । एएहिं दिट्ठिवाए परूवणा सुत्त अत्थ कहणाय । इह पुण अपुणब्भवगमो अहिगारो तीहिं उस्सुन्न । १ । इति तानेव नयान् विज्ञाय ज्ञात्वा बुधा: सुधिय सत्सर्वत समर्थ जिनक्रमाम्भोज-युगाश्रय श्रयन्तामित्यर्थ ॥ १७ ॥

इति श्रीकृतिभोजसागरनिर्मितायां द्रव्यानुयोगतर्कणायां षष्ठोऽध्याय । ६ ।

व्याख्यार्थः—द्रव्यार्थिक १ पर्यायार्थिक २ नैगम ३ सङ्ग्रह ४ व्यवहार ५ ऋजुसूत्र ६ शब्द ७ समभिरूढ ८ तथा एवभूत इन मुख्य नौ नयोंके दृक् (दृष्टि) तथा सिद्धि परि-मित अर्थात् अट्ठाईस २८ सब अवान्तर भेद हैं; उनमे द्रव्यार्थिकके दश १० भेद, पर्याया-र्थिकके षट् (छ) ६ भेद, नैगमके तीन ३ भेद, संग्रहके दो २ भेद, व्यवहारके दो २ भेद, ऋजुसूत्रके दो २ भेद, शब्दका एक १ भेद, समभिरूढका एक १ भेद और एवंभूतनयका भी एक १ भेद है. इस प्रकार यह सब मिलकर अट्ठाईस २८ भेद हैं। अब अन्तमें श्रीजिनदेवके चरणों का आश्रयरूप नमस्कार प्रकृतप्रकरण और श्लेषसे अपने नामका भी कथन करते हैं। यह पूर्व प्रसंगमे व्याख्यात संख्यासे नौ ९ नय तथा जिनका कथन आगे करेंगे ऐसे तीन ३ उपनय यह सब श्रुतके अर्थात् श्रीवीतराग जिन-देवप्रणीत शास्त्रके अत्यन्त प्रधान विषय हैं; अर्थात् अतिउपयोगी हैं; सो ही आवश्यक

निर्युक्तिमें कहा है; कि–दृष्टिवादनामक अंगमें सूत्र और अर्थके कथनकेलिये इनसे ही प्ररूपण है, और यहां मोक्षका अधिकार है, इसलिये अत्यन्तोपयोगी अर्थात् सारभूत है ॥ १ ॥ इस कारण इन नयोंको ही पूर्णरूपसे जान कर बुद्धिमान् प्राणी सब प्रकारसे समर्थ श्रीजिनदेवके चरणकमलयुगलका आश्रय करें ॥ १७ ॥

इतिश्रीठाकुरप्रसादशास्त्रिप्रणीतभाषाटीकासमलङ्कृताया द्रव्यानुयोगतर्कणायां

षष्ठोऽध्याय ॥ ६ ॥

अथोपनयाना प्रकारमाह ।

अब उपनयोंके भेद कहते हैं ।

त्रयश्चोपनयास्तत्र प्रथमो धर्मधर्मिणोः ।
भेदाच्छुद्धस्तथाशुद्धः सद्भूतव्यवहारवान् ॥१॥

भावार्थः—तीन ३ उपनय हैं, उनमे प्रथम उपनय सद्भूतव्यवहार है, वह धर्म और धर्मीके भेदसे शुद्धसद्भूतव्यवहार तथा अशुद्धसद्भूतव्यवहार इन भेदोंसे दो प्रकारका है ॥ १ ॥

व्याख्या । तत्रेत्यधिकारसूचकविषयसप्तमीयम् । नयाना समीपमुपनयास्त्रियसङ्ख्याका । तेषु त्रिषु प्रथम आद्यो धर्मश्च धर्मी च तयोर्भेदस्तस्मात् । धर्मधर्मिणोरसाधारण कारण धर्म, स च धर्मोऽस्यास्तीति धर्मी तयोरितिद्वन्द्वसमासेन भेदात् द्विधा द्विप्रकार । एतावता य प्रथमो भेदो धर्मधर्मिभेदाज्जात सोऽपि द्विविधो ज्ञेय एक शुद्धोऽपरो द्वितीयोऽशुद्ध । कथभूत शुद्धस्तथाशुद्धश्च सद्भूतव्यवहारवान् सद्भूयतेऽनेनेति सद्भूत, व्यवह्रियत इति व्यवहार, सद्भूतश्च व्यवहारश्च सद्भूतव्यवहारौ । शुद्धाशुद्धौ तौ विद्येतेऽस्येति-सद्भूतव्यवहारवान् । शुद्धयोर्धर्मधर्मिणोर्भेदाच्छुद्धसद्भूतव्यवहार ॥ १ ॥ अशुद्धधर्मधर्मिणोर्भेदादशुद्धसद्भूतव्यवहार ॥२॥ सद्भूतस्त्वेक द्रव्यमेवास्ति भिन्नद्रव्यसयोगापेक्षयेत्येस्ति । व्यवहारस्तु भेदापेक्षयेत्येव निरुक्ति ॥१॥

व्याख्यार्थः—तत्र (उसमे) यह जो सप्तमी विभक्ति है, वह अधिकारके ज्ञापन (जनाने) केलिये है; अर्थात् अब उपनयोंका अधिकार है। नयोंके समीपवर्त्ती जो हों वह उपनय हैं, वह तीन अर्थात् तीन संख्यायुक्त हैं, उन तीनोमेसे प्रथम भेद धर्म तथा धर्मीके भेदसे है; धर्म और धर्मी इन दोनोंमे जो असाधारण कारण है, उसको धर्म कहते हैं, वह असाधारण कारणरूप धर्म जिसके हे, उसको धर्मी कहते है। धर्म तथा धर्मिन् शब्दका द्वन्द्व समास करनेसे "धर्मधर्मिणोः" ऐसा पाठ बना है। इन धर्म, धर्मीके भेदसे उत्पन्न हुआ प्रथम भेद दो प्रकारका है। अर्थात् धर्म धर्मीके भेदसे जो प्रथम भेद हुआ है, वह भी दो प्रकारका जानना चाहिये। एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध। वह शुद्ध और अशुद्ध कैसा है, कि—सद्भूतव्यवहारसे युक्त है। सद् जिसके द्वारा हो उसको सद्भूत

कहते है। जिसके द्वारा व्यवहार किया जाय वह व्यवहार कहलाता है। सद्भूत तथा व्यवहार इन दोनो शब्दोंका द्वन्द्वसमास करके सद्भूतव्यवहार यह एक शब्द बना। यह शुद्ध तथा अशुद्ध सद्भूतव्यवहार जिसके है, वह सद्भूतव्यवहारवान् है। इनमेंसे शुद्ध धर्म धर्मीके भेदसे तो उत्पन्न शुद्धसद्भूतव्यवहार और अशुद्ध धर्म धर्मीके भेदसे उत्पन्न अशुद्धसद्भूतव्यवहारनामक सद्भूतव्यवहारका भेद है। सद्भूत तो एक द्रव्य ही है; उससे भिन्न द्रव्यके संयोगकी अपेक्षा नहीं है। और जो व्यवहार है; वह भिन्न द्रव्यके संयोगकी अपेक्षासे होता है। इस प्रकार सद्भूतव्यवहारशब्दकी व्युत्पत्ति (अर्थ) है ॥१॥

उदाहरणमाह ।

अब शुद्धसद्भूतव्यवहारका उदाहरण देते है ।

ज्ञानं यथात्मनो विश्वे केवलं गुण इष्यते ।
मतिज्ञानादयोऽप्येते तथैवात्मगुणा भुवि ॥२॥

भावार्थः—जैसे इस संसारमे आत्माका केवलज्ञान गुण है, वैसे ही मति ज्ञान आदि भी पृथ्वीपर आत्माके ही गुण है॥ २ ॥

व्याख्या। यथा विश्वे जगत्यात्मन केवल ज्ञान गुण इति षष्ठीप्रयोग । इदमात्मद्रव्यस्य ज्ञानमिति । तथा मतिज्ञानादयोऽप्यात्मद्रव्यस्य गुणा इति व्यवह्रियते। केवलज्ञान यद्वर्त्तते स एव शुद्ध आत्मास्ति मत्यादयो ज्ञानानि केवलावरणविशेपिता व्यवहारा अशुद्धा लक्ष्यन्त इति ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थः—जैसे इस संसारमे आत्माका केवलज्ञान गुण है, "आत्मनः" यह षष्ठी विभक्तिका प्रयोग सूत्रमे किया है, अर्थात् यह केवलज्ञान आत्मद्रव्यका गुण है, इसी प्रकार मति ज्ञानआदि भी आत्मद्रव्यके ही गुण है, ऐसा व्यवहार लोकमें होता है। केवलज्ञान जो है, सो ही शुद्ध आत्मा है, केवलावरणविशिष्ट जो मति ज्ञानआदि है, वह व्यवहाररूप है, अतः अशुद्ध आत्मगुण है ॥ २ ॥

गुणो गुणी च पर्यायः पर्यायी च स्वभावकः ।
स्वभावी करकस्तद्वानेकद्रव्यानुगा विधाः ॥ ३ ॥

भावार्थः—गुण, गुणी १ पर्याय, पर्यायी २ स्वभाव, स्वभावी ३ कारक तथा कारकवान् ४ ये सब भेद एक द्रव्यकेही अनुगामी है ॥ ३ ॥

व्याख्या। गुणो रूपादि, गुणी घट १ पर्याय मुद्राकुण्डलादि, पर्यायी कनकम् २ स्वभावो ज्ञानम्, स्वभावी जीव. ३ कारकश्चक्रदण्डादि, कारकी कुलाल ४ अथवा गुणगुणिनौ १ क्रियाक्रियावन्तौ २ जातिव्यक्ती ३ नित्यद्रव्यविशेषौ चेति ४ एव एकद्रव्यानुगाभेदा उच्यन्ते । ते सर्वेऽप्युपनयस्यार्था ज्ञातव्या.। अवयवावयविनाविति। अवयवादयो हि यथाक्रममवयव्याद्याश्रिता एव तिष्ठन्तेऽविनश्यन्तो, विनश्यदवस्थास्त्वनाश्रिता एव तिष्ठन्त इत्यादि ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थः—रूपआदि गुण हैं, घटआदि गुणी हैं; १ मुद्रा तथा कटक, कुंडल आदि पर्य्याय हैं, पर्य्यायी सुवर्ण है; जिसमें कि-कटक, कुंडलआदि पर्याय रहते हैं, २ ज्ञान स्वभाव है, और उस ज्ञानस्वभावका धारक जीव स्वभावी है; ३ चक्र (चाक) दंडआदि कारक हैं, और कारकवान या कारकी कुंभकार (कुंभार) है; ४ अथवा दूसरी रीतिसे गुण, गुणी १ क्रिया, क्रियावान २ जाति, व्यक्ति ३ तथा नित्यद्रव्य और उनके विशेष ऐसे ४ यह सब एक द्रव्यमें अनुगत भेद कहे जाते हैं। और उन सब गुण गुणीआदिको उपनयका अर्थ जानना चाहिये। अवयवआदि यथा क्रमसे अवयवीआदिके आश्रय रहते हैं, परन्तु जबतक नाशको प्राप्त नहीं होते तभीतक अवयव अवयवीआदि आश्रय आश्रयीभावसे स्थित रहते हैं। और विनाशको प्राप्त होते हुये तो अनाश्रित ही रहते हैं ॥३॥

अथासद्भूतव्यवहार निरूपयति ।

अब असद्भूतव्यवहारका निरूपण करते हैं ।

असद्भूतव्यवहारो द्रव्यादेरुपचारतः ।
परपरिणतिश्लेष,–जन्यो भेदो नवात्मकः ॥४॥

भावार्थः—द्रव्यादिके उपचारसे परवस्तुके परिणमनके संसर्गसे उत्पन्न असद्भूत व्यवहार है; और वह नव ९ प्रकारका है ॥ ४ ॥

व्याख्या । असद्भूतव्यवहार स कथ्यते य परद्रव्यस्य परिणत्यामिश्रित, अर्थात् द्रव्यादेर्धर्म्माधर्मादेरुपचारत उपचरणात्परपरिणतिश्लेषजन्य परस्य वस्तुन परिणति परिणमन तस्य श्लेष समर्गस्तेन जन्य परपरिणतिश्लेषजन्योऽसद्भूतव्यवहार कथ्यते । अत्र हि शुद्धस्फटिकसकाशजीवभावस्य परशब्देन कर्म तस्य परिणति पञ्चवर्णादिरौद्रात्मिका तस्या श्लेषोजीवप्रदेशै कर्मप्रदेशससर्गस्तेन जन्य उत्पन्न परपरिणतिश्लेषजन्योऽसद्भूतव्यवहाराख्यो द्वितीयो भेद कथ्यते । स नवधा नवप्रकारो भवति । तथा हि-द्रव्ये द्रव्योपचार १ गुणे गुणोपचार २ पर्यायेपर्यायोपचार ३ द्रव्ये गुणोपचार ४ द्रव्ये पर्यायोपचार ५ गुणे द्रव्योपचार ६ गुणे पर्यायोपचार ७ पर्याये द्रव्योपचार ८ पर्याये गुणोपचार ९ ॥ इति सर्वोऽप्यसद्भूतव्यवहारस्यार्थो द्रष्टव्य । अत एवोपचार पृथग्नयो न भवति । मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचार प्रवर्त्तते । सोऽपि सबन्धाविनाभाव श्लेष सबन्ध । परिणामपरिणामिसबन्ध, श्रद्धाश्रद्धेयसबन्ध ज्ञानज्ञेयसबन्धश्चेति । भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहार । गुणगुणिनोर्द्रव्यपर्याययोः सज्ञासज्ञिनो स्वभावतद्वतो कारकतद्वतो क्रियातद्वतोर्भेदादभेदक सद्भूतव्यवहार । शुद्धगुणगुणिनो शुद्धद्रव्यपर्याययोर्भेदकथन शुद्धसद्भूतव्यवहार । तत्र उपचरितसद्भूतव्यवहार सोपाधिकगुणगुणिनोर्भेदविषय उपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणा. । निरुपाधिकगुणगुणिनोर्भेदकोऽनुपचारी सद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणा ३ शुद्धगुणगुणिनोरशुद्धद्रव्यपर्याययोर्भेदकथनमशुद्धसद्भूतव्यवहार ४ इत्यादिप्रयोगवशाज्ज्ञेयमिति ॥४॥

व्याख्यार्थः—असद्भूतव्यवहार उसको कहते है, कि-जो परवस्तुके परिणामसे मिश्रित

रहता है; अर्थात् धर्म अधर्मआदि जो द्रव्य हैं; उनके उपचारसे जो परवस्तुका परिणाम है; उस परिणामके संसर्गसे उत्पन्न असद्भूतव्यवहार कहा जाता है। यहांपर शुद्ध स्फटिकमणिके समान जीवभावका ग्रहण है। उस जीवभावका परवस्तु कर्म है; उसकी परिणति पंचवर्णादि रौद्रात्मिका है; उस पंचवर्णादि रौद्रस्वरूप परिणतिका सम्बन्ध जीव प्रदेशोंके साथ कर्मप्रदेशोंका संसर्ग होना है, उस परपरिणतिसे जन्य अर्थात् उत्पन्न असद्भूतव्यवहारनामक द्वितीय भेद कहा गया है। और वह असद्भूतव्यवहार नौ ९ प्रकारका है; जैसे द्रव्यमे द्रव्यका उपचार १ गुणमे गुणका उपचार २ पर्यायमे पर्यायका उपचार ३ द्रव्यमे गुणका उपचार ४ द्रव्यमे पर्यायका उपचार ५ गुणमे द्रव्यका उपचार ६ गुणमे पर्य्यायका उपचार ७ पर्य्यायमे द्रव्यका उपचार ८ तथा पर्यायमे गुणका उपचार यह नौ ९ भेद असद्भूतव्यवहारके हैं॥ इस प्रकार इन सब भेदोंको असद्भूतव्यवहारका ही अर्थ समझना चाहिये। असद्भूतमें अन्तर्भाव होनेसे ही उपचार पृथग् नय नहीं होता है, क्योंकि-मुख्यके अभावमे प्रयोजन तथा निमित्तमें उपचारकी प्रवृत्ति होती है। और वह उपचार भी एक अविनाभाव (व्याप्ति) रूपसंबंध ही है। जैसे कि-परिणामपरिणामिभावसंबन्ध, श्रद्धाश्रद्धेयभावसंबन्ध, तथा ज्ञानज्ञेयभावसंबन्ध। जिससे भेदके उपचारसे वस्तुका व्यवहार किया जाय सो व्यवहार है। जैसे गुण गुणीका, संज्ञा संज्ञी (नाम नामी) का, स्वभाव स्वभाववान्‌का, कारक कारकवान् तथा क्रिया और क्रियावान्‌के भेद रहनेपर भी जो अभेदक है, अर्थात् अभेद दर्शाता है; वह सद्भूतव्यवहार है। और शुद्ध गुण गुणी, तथा शुद्ध द्रव्य और पर्यायका जो भेदका कथन है; वह शुद्धसद्भूतव्यवहार है। उसमें भी उपाधिसहित गुण गुणीके भेदविषयक जो है; वह उपचरितसद्भूतव्यवहार है, जैसे जीवके मति ज्ञानआदि गुण हैं। और उपाधिरहित गुण गुणीके भेदका कथन करनेवाला अनुपचरित सद्भूतव्यवहार है, जैसे जीवके केवलज्ञानआदि गुण हैं। यहां पूर्वमे तो जीव कर्मआदि उपाधिसहित है; उसका तथा उसके मति ज्ञानआदि गुणोंका भेद दर्शाया गया है, और अन्तके उदाहरणमे जीव कर्मादि उपाधियोंसे रहित विवक्षित है; अतएव उपाधिरहित जीव गुणी तथा केवलज्ञानआदि उसके गुणोंका भेद अनुपचरितसद्भूत उपनयसे दर्शाया गया है। तथा शुद्ध गुण गुणी और अशुद्ध द्रव्य पर्यायके जो भेदका कथन है; वह अशुद्धसद्भूतव्यवहार है॥ इत्यादि अन्य भी प्रयोगके अनुसार समझ लेना॥ ४॥

अथ नवभेदानसद्भूतव्यवहारजन्यान्विवृणोति।

अब जो असद्भूतव्यवहारसे उत्पन्न नो भेद हैं; उनका विवरण करते हैं।

द्रव्ये द्रव्योपचारो हि यथापुद्गलजीवयोः।
गुणे गुणोपचारश्च भावद्रव्याख्यलेश्ययोः॥५॥

भावार्थः—पुद्गलमे जीवका जो मानना है; सो तो द्रव्यमें द्रव्यका उपचार है; भावलेश्याके जो द्रव्यलेश्याका कथन करना है; सो गुणमे गुणका उपचार है ॥ ५ ॥

व्याख्या । हि निश्चित द्रव्ये गुणपर्यायवति वस्तुनि द्रव्योपचार' । द्रव्यस्य प्रस्तुतस्योपचार उपचरणमात्रधर्म । यथेति दृष्टान्त । श्रीजिनस्यागमे पुद्गलजीवयोरैक्य जीव पुद्गलरूप पुद्गलात्मक' । अत्र जीवोऽपि द्रव्यम्, पुद्गलोऽपि द्रव्यम्, उपचारेण जीव पुद्गलमय एवासद्भूतव्यवहारेण मन्या न तु परमार्थत । यथा च क्षीरनीरयोर्न्यायात् । क्षीर हि नीरमिश्रित क्षीरमेवोच्यते व्यवहारादेवमत्र जीवद्रव्ये पुद्गलद्रव्योपचार ॥१॥ पुनर्गुणे गुणोपचारो गुणे रूपादिके गुणस्योपचार । यथा भावलेश्याद्रव्यलेश्ययोरुपचार । भावलेश्या ह्यात्मनोऽरूपी गुणस्तस्य हि यत्कृष्णनीलादिकथन वर्तते तद्धि पुद्गलद्रव्यजगुणस्योपचारोऽस्ति । अथ ह्यात्मगुणस्य पुद्गलगुणस्योपचारो ज्ञातव्य ॥५॥

व्याख्यार्थः—निश्चय करके द्रव्यमे अर्थात् गुणपर्यायवान वस्तुमे प्रस्तुत द्रव्यका उपचार अर्थात् धर्ममात्रका आरोप करना । यथा इस शब्दसे दृष्टान्त कहते हैं । जैसे श्रीजिनदेवके आगममे पुद्गल और जीवकी एकता है, अर्थात् जीव पुद्गलरूप है । यहां जीव भी द्रव्य है, और पुद्गल भी द्रव्य है; इसलिये उपचारसे जीव पुद्गलमय ही है, ऐसा असद्भूतव्यवहारसे माना जाता है, न कि-परमार्थसे । यहांपर जीवको पुद्गलरूपता क्षीर नीरके न्यायसे है, अर्थात् व्यवहारसे जलमिश्रित भी दुग्ध दुग्ध ही कहा जाता है, इसी प्रकार यहां भी जीवद्रव्यमे पुद्गल द्रव्यका उपचार (आरोप) है, तात्पर्य यह कि-जल दुग्धमे मिलकर दुग्धाकार हो जाता है, और दुग्धके ग्रहणसे ही उसका ग्रहण होता है; ऐसे ही पुद्गलमें मिलनेसे जीव भी पुद्गलाकार समझा जाता है । और गुण जो रूपआदि हैं, उनमे गुणका ही आरोप करना सो गुणमे गुणका उपचार है । जैसे भावलेश्यामे द्रव्यलेश्याका उपचार होता है । भावार्थ-भावलेश्या जो है, वह आत्माका अरूपी गुण है । उस आत्माके भावलेश्यानामक रूपरहित गुणको कृष्ण, नील इत्यादिरूपसे कहते हैं । और वह कृष्ण, नीलआदिरूप जो कथन है, सो पुद्गलसे उत्पन्न हुए गुणका उपचार है । इसको आत्माके गुणके पुद्गलके गुणका उपचार जानना चाहिये । क्योंकि-भावलेश्या तो आत्माका अरूपी गुण है, और कृष्ण नीलआदि पुद्गलके गुण है ॥५॥

पर्याये किल पर्यायोपचारश्च यथाभवेत् ।
स्कन्धा यथात्मद्रव्यस्य गजवाजिमुखाः समे ॥६॥

भावार्थः—पर्यायमें पर्यायका उपचार करना यह असद्भूतव्यवहारका तृतीय भेद है; जैसे आत्मद्रव्यपर्यायके तुल्य गज तथा अश्वआदि पर्यायस्कंध होते हैं ॥६॥

व्याख्या । पर्याये पर्यायविषये नरत्वादिके पर्यायस्य तदादिकस्यैवोपचार । यथात्मद्रव्यपर्यायस्य गजवाजिमुखा पर्यायस्कन्धा उपचारादात्मद्रव्यस्य समानजातीयद्रव्यपर्यायास्तेषां

स्कन्धा कथ्यन्ते । ते चात्मपर्यायस्योपरि पुद्गलपर्यायस्योपचरणात्स्कन्धा व्यपदिश्यन्ते व्यवहारात् ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थः—पर्यायमें अर्थात् आत्मद्रव्यके मनुष्यआदि पर्यायमें मनुष्यआदि पर्यायका ही उपचार जो है, वह पर्यायमे पर्यायका उपचार कहलाता है। जैसे आत्म-द्रव्यपर्यायके हस्ती (हाथी) अश्व (घोडा) आदि पर्यायस्कन्ध उपचारसे आत्माके समानजातीय (तुल्य) जो द्रव्य पर्याय है, उनके स्कन्ध (प्रदेश) कहे जाते हैं। और वह आत्माके पर्यायके ऊपर पुद्गलके पर्यायका उपचार करनेसे व्यवहारकी अपेक्षासे स्कन्ध-रूपसे व्यपदेशित होते हैं।

अथ द्रव्यमे गुणोपचार ।

अब द्रव्यमे गुणका उपचार दिखाते है ।

द्रव्ये गुणोपचारश्च गौरोऽहमिति द्रव्यके ।
पर्यायस्योपचारश्च ह्यहं देहीति निर्णयः ॥७॥

भावार्थः—और मै गौर हू यह तो आत्मद्रव्यमे गुणका उपचार हैं, तथा मै देही हू यह आत्माद्रव्यमे पर्यायका उपचार है ॥ ७ ॥

व्याख्या । यथाह गौर इति ब्रुवतामहमित्यात्मद्रव्यम्, तत्र गौर इति पुद्गलस्योज्ज्वलताख्यो गुण उपचरित । ४ । अथ द्रव्ये पर्यायोपचारः । अथवा "अह देहीति निर्णय" इत्यत्राहमित्यात्मद्रव्यम्, तत्रात्मद्रव्यविषये देहीति देहमस्यास्तीति देही । देहमिति पुद्गलद्रव्यस्य समानजातीयद्रव्यपर्याय उपचरित ।५। ॥७॥

व्याख्यार्थः—जैसे मै गौरवर्ण हूँ ऐसा कहनेवालोकेलिये यहांपर "अहम्" यह आत्म-द्रव्य है, उसमे गौर इस पुद्गलके उज्ज्वल नाम गुणका उपचार किया गया है। अब द्रव्यमे पर्यायके उपचारका उदाहरण कहते हैं।—जैसे कि मै देही हू अर्थात् मै शरीरवान हूं ऐसा निर्णय करना यहा "अहं देही" (मै देहवाला हू) इस वाक्यमे "अहम्" पदसे आत्मद्रव्य विवक्षित है, उस आत्मारूप द्रव्यमे देही अर्थात् जिसके देह है, तो देह सहित होना यह पुद्गलद्रव्यके पर्यायका उपचार हुआ है ॥७॥

गुणे द्रव्योपचारश्च पर्यायेऽपि तथैव च ।
गौर आत्मा देहमात्मा दृष्टान्तौ हि क्रमात्तयोः ॥८॥

भावार्थः—गुणमें द्रव्यका उपचार यह षष्ठ और पर्यायमें गुणका उपचार यह सप्तम असद्भूतव्यवहार उपनयके भेद हैं। "आत्मा गौर है" यह षष्ठ नयका और देह आत्मा है, यह सप्तमका क्रमसे दृष्टान्त है ॥८॥

व्याख्या । गुणे द्रव्योपचारश्च तथा पर्याये गुणोपचारश्चैव द्वावुपनयासद्भूतव्यवहारस्य भेदौ । अथ तयोरेवानुक्रमेण दृष्टान्तौ । यथा " अय गौरो दृश्यते स चात्मा " अत्र गौर मुद्दिश्यात्मनो विधान क्रियते । यत्तदिह । गौरताख्यपुद्गलगुणोपर्य्यात्मद्रव्यस्योपचारपठन—

मिति। पर्याये द्रव्योपचारो यथा "देहमित्यात्मा" अत्र हि देहमिति देहाकारपरिणतानां पुद्गलानां पर्यायेषु विषयभूतेषु चात्मद्रव्यस्योपचारः कृतः। देहमेवात्मा देहरूपपुद्गलपर्यायविषय आत्मद्रव्यस्यापौद्गलिकस्योपचारः कृत इति सप्तमो भेदः। "अतति सातत्येन गच्छति तांस्तान्पर्यायानित्यात्मा" अत्र पर्यायाणां द्रव्यभावभेदितानां गमनप्रयोगो यद्यपीष्टस्तथाप्यसद्भूतव्यवहारविवक्षाबलेनोपचारधर्मस्यैव प्राधान्याद्बहिः पर्यायावलम्बनेन कर्मजशुभाशुभपुद्गलपरिणतगौराख्यवर्णोऽपि लक्षित आत्मा भासते तदा गौर आत्मेति प्रतीतिर्जायते। अन्यथात्मनः शुद्धस्याकर्मणः कुतो गौरत्वध्वनिरत एवोपचारधर्मः देहमात्मेत्यत्र त्वौदारिकादिपुद्गलप्रणीतं देहमौदयिकेनाश्रित आत्मा उपलभ्यते तदा देहमात्मेत्युपचारध्वनिः ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थः—गुणमे द्रव्यका उपचार, और पर्यायमें द्रव्यका उपचार यह दोनों क्रमसे षष्ठ तथा सप्तम असद्भूतव्यवहार उपनयके भेद हैं, अब इन दोनोंके क्रमसे उदाहरण यह है। जैसे "यह जो गौर देखनेमे आता है, वह आत्मा ही है" इस वाक्यमे गौरको उद्देश्य करके आत्मारूप द्रव्यका जो विधान किया जाता है, वह गौरतारूप पुद्गल द्रव्यके गुणके ऊपर आत्मद्रव्यका उपचारपठन है। अब पर्य्यायमे द्रव्यका उपचार जैसे यह देह आत्मा है, इस वाक्यमे "देहम्" देह आत्मा है, ऐसा कहनेमें विषयभूत जो देहके आकार पुद्गलोंके पर्याय है, उनमे आत्मद्रव्यका उपचार किया गया है, भावार्थ देह ही आत्मा है, यहा देहरूप पुद्गल पर्यायके विषयमे अपौद्गलिक अर्थात् पुद्गलभिन्न जो आत्मद्रव्य हैं, उसका उपचार किया गया है, ऐसा पर्यायमे द्रव्यका उपचाररूप सप्तम भेद है ।७। अब आत्मा शब्द निरन्तरगमनार्थक अत् धातुसे मन् प्रत्यय लगानेसे बनता है, इसलिये उन २ पर्यायोमे जो निरन्तर गमन करे वह आत्मा है। यहापर द्रव्यभावसे भेदको प्राप्त पर्यायोंका यद्यपि गमनरूपसे प्रयोग इष्ट है, तथापि असद्भूत व्यवहार उपनयकी विवक्षाके बलसे उपचार धर्मकी ही प्रधानता है, इसलिये बाह्यदेशमे पर्यायोंका अवलम्बन करनेसे कर्मोंसे उत्पन्न शुभ तथा अशुभ पुद्गलोंके परिणामरूप जो गौर (उज्ज्वल) नामा वर्ण है; वह भी देखा हुआ जब आत्मा भासता है, तब यह गौर आत्मा है, ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती है, अन्यथा परमार्थमे शुद्ध तथा कर्मरहित आत्माके गौरपनेका कथन कहासे हो सकता है। इसीलिये उपचार धर्म है। और "देहमात्मा" देह आत्मा है, यहापर औदारिकआदि शरीरसम्बन्धी पुद्गलोंसे शरीरकी औदयिकभावसे आश्रित आत्मा प्राप्त होता है, तब यह देह आत्मा है; ऐसे उपचारकी ध्वनि होती है ॥८॥

अथाष्टमभेदोत्कीर्त्तनमाह ।

अब अष्टम भेदका निरूपण करते है।

गुणे पर्यायचारश्च मतिज्ञानं यथा तनुः ।
पर्याये गुणचारोऽपि शरीरं मतिरिष्यते ॥९॥

भावार्थः—गुणमें पर्यायका उपचार जैसे मतिज्ञान शरीर है, तथा पर्यायमें गुणका उपचार जैसे शरीर मतिज्ञान है ॥९॥

व्याख्या । गुणे पर्यायोपचार पर्यायचार इत्युपचारो वाच्यो भीमो भीमसेन इति वत् । यथा मतिज्ञान तदेव शरीर शरीरजन्य वर्त्तते तत. कारणादत्र मतिज्ञानरूपात्मकगुणविषये शरीररूपपुद्गलपर्यायस्योपचार कृत ।८। अथ नवमभेदोत्कीर्त्तनमाह । पर्याये गुणोपचार । यथा हि पूर्वप्रयोगजमन्यथा क्रियते । यत शरीरं तदेव मतिज्ञानरूपो गुणोऽस्ति । अत्र हि शरीररूपपर्यायविषये मतिज्ञानरूपाख्यस्य गुणस्योपचार क्रियते । शरीरमिति पर्यायस्तस्मिन्विषये मतिज्ञानाख्यो गुणस्तस्य चोपचार कृत । अत्र चाष्टमनवमविकल्पयो समविषमकरणेनोपचारो विहितस्तत्रापि सहभाविनो गुणा, क्रमभाविन पर्याया, । सहभावित्व च द्रव्येण क्रमभावित्वमपि द्रव्येणैव ज्ञेयमतो द्रव्यस्यैव गुणा, पर्याया अपि द्रव्यस्यैव । गुणपर्याययो पर्यायगुणयोश्च परस्परमुपचारव्यवहार कृत । यत्रोपचारस्तत्र निदर्शनमात्रमेव विसदृशधर्मित्वेन धर्मारोपवत् । किञ्च मतिज्ञानमात्मन कश्चिदुद्धटितो गुण । शरीरे च पुद्गलद्रव्यस्य समवायिकारणम् । यथा मृत्पिण्डे घटस्य समवायिकारणमितिवत् । एव सत्युपचारो जायते परेण परस्योपचारात् स्वेन स्वेनोपचारासम्भव । यथा मृत्पिण्डस्य घटेन, तन्तूना पटेनेत्येवमसद्भूतव्यवहारो नवधोपदिष्ट । उपचारबलेन नवधोपचारा कृता ॥९॥

व्याख्यार्थः—यहां गुणमे पर्यायका चार "गुणे पर्य्यायचारः" इस पदसे पर्य्यायके उपचारसे तात्पर्य है, जैसे भीम और भीमसेन दोनोंसे एक ही अर्थ होता है, अर्थात् जैसे भीमके कथनमें भीमसेनका बोध होता है, ऐसे ही यहा भी चार- इस कथनसे उपचार -अर्थसे- तात्पर्य है, गुणमें पर्यायके उपचारका उदाहरण जैसे जो मतिज्ञान है, वही शरीर है; अर्थात् शरीरजन्य है; इसलिये यहा मतिज्ञानरूप गुणके विषयमें शरीररूप पुद्गल पर्यायका उपचार किया गया है ।८। अब नवम भेदका कथन करते हैं; पर्यायमें गुणका उपचार जैसे पूर्व प्रयोग जो मतिज्ञान है; वही शरीर है; इसको विपरीत कर देनेसे जो शरीर है, वही मतिज्ञानरूप गुण है । यहा शरीररूप पर्यायके विषयमे मतिज्ञानरूप गुणका उपचार है । क्योंकि—शरीर तो पर्याय है, उस शरीरके विषयमें मतिज्ञाननामक गुणका उपचार किया गया है । इन अष्टम, नवम, असद्भूतव्यवहारउपनयके भेदोंमें सम विषम करनेसे उपचार कियागया है । इनमें भी सहभावी जो है, वह गुण हैं, और जो क्रमभावी है, वह पर्याय है । और सहभावित्व अर्थात् साथ होना भी द्रव्यसे ही है, तथा क्रमभावित्व अर्थात् क्रमसे होना यह भी द्रव्यसे ही है, इस कारण द्रव्यके ही गुण हैं, और द्रव्यके ही पर्याय हैं । गुण तथा पर्यायका और पर्याय तथा गुणका परस्पर उपचार व्यवहार किया गया है ; जिसमें जिसका उपचार होता है, उसमे उसका विसदृशधर्मीके धर्मके आरोपके सदृश दृष्टान्तमात्र दर्शाया जाता है । और मतिज्ञान जो है, वह आत्माका कोई उत्पन्न हुआ गुण है, तथा शरीर

पुद्गल द्रव्यका समवायीकारण है। जैसे मृत्तिकाके पिण्डमें घटकी समवायीकारणता है, और ऐसी दशा होनेपर ही उपचार होता है, क्योंकि-परके साथ परका उपचार होता है, और स्वके साथ स्व (निज) का उपचार नहीं हो सकता है। जैसे मृत्पिण्डका घटके साथ तथा तंतुवोंका पटके साथ उपचार नहीं होता। इस रीतिसे असद्भूतव्यवहार नव ९ प्रकारसे निरूपण कियागया। अर्थात् उपचारके बलसे उपचार भी नव ९ प्रकारके ही किये गये ॥९॥

अथ तस्यैवासद्भूतव्यवहारस्य भेदत्रय कथ्यते ।

अब उसी असद्भूतव्यवहारके तीन भेद कहते हैं।

असद्भूतव्यवहार एवमेव त्रिधा भवेत् ।
तत्राद्यो निजया जात्याप्यणुर्भूरिप्रदेशयुक् ॥१०॥

भावार्थ.—असद्भूतव्यवहार पूर्व कथित प्रकारसे ही तीन प्रकारका होता है, उनमें आदि भेदका उदाहरण जैसे निज जातिसे परमाणु अनेक प्रदेशोका धारक है ॥१०॥

व्याख्या। असद्भूतव्यवहार एव पूर्वोक्तरीत्यैव त्रिधा त्रिप्रकारो भवेत्। तत्र त्रिषु भेदेष्वाद्यो भेदो यथा परमाणु बहुप्रदेशी कथ्यते। कथं तर्हि-परमाणुस्तु निरवयवोऽनो निरवयवस्य सप्रदेशत्व नास्ति तथापि बहुप्रदेशाना सासर्गिकी जाति परमाणोरस्ति। यथा हि द्व्यणुकत्र्यणुकादिस्कन्धवत् ॥१०॥

व्याख्यार्थः—असद्भूतव्यवहार पूर्व कथित प्रकार से ही तीन प्रकारका होता है, उन तीनों भेदोंमेसे प्रथम भेदका उदाहरण यह है, कि-जैसे परमाणु बहुप्रदेशयुक्त कहा जाता है। अब परमाणु अनेक देशभागी है, यह कथन कैसे संगत हो सकता है, क्योंकि-परमाणु तो निरवयव (अवयवरहित) पदार्थ है, इसलिये यद्यपि निरवयवको सप्रदेशता (प्रदेशसहितपना) ही नहीं है, तथापि बहुप्रदेशोंकी सासर्गिकी अर्थात् संसर्गसिद्ध परमाणुके हैं, जैसे दो अणुवोंका स्कन्ध, तीन अणुवोंका स्कन्ध इत्यादि ॥ १० ॥

अथ द्वितीयो भेदश्च ।

अब असद्भूतव्यवहारके द्वितीय भेदका भी कथन करते हैं।

विजात्यापि स एवात्मा यथा मूर्त्तिमती मतिः ।
मूर्तिमद्भिरपि द्रव्यैर्निष्पन्ना चोपचारतः ॥११॥

भावार्थः—विजातिसे भी वही असद्भूतव्यवहार प्रवृत्त होता है, जैसे मूर्तिमान् द्रव्योंके उपचारसे मतिज्ञान मूर्तिमान् सिद्ध होता है, अर्थात् "मूतिर्मूर्तिमती" ऐसा व्यवहार दृष्ट है, यह अन्य अर्थात् द्वितीय असद्भूत व्यवहार है ॥ ११ ॥

व्याख्या। यथा स सवासद्भूतो विजात्या वर्त्तते। यथा वा मूर्तिमती मति। मतिज्ञान

मूर्त्तं कथितं तत् मूर्त्तविषयलोकमनस्कारादिकेभ्य उत्पन्नं तस्मान्मूर्त्तं वस्तुतस्तु मतिज्ञानमात्मगुणस्तस्य चापौद्गलिकस्य मूर्त्तिमत्पुद्गलगुणोपचारः कृत । स तु विजात्या असद्भूतव्यवहार ॥११॥

व्याख्यार्थः—जैसे वही असद्भूतव्यवहार विजाति अर्थात् अन्यजातिसे भी है । जैसे मति मूर्तिमती है, अर्थात् मतिज्ञान मूर्त्त (आकारसंयुक्त) कहा गया है । वह मूर्त्त विषय लोक तथा मनस्कारआदिसे उत्पन्न हुआ है; इस कारण मूर्त्त है । यथार्थमें तो मतिज्ञान आत्माका गुण है, अतः वह अपौद्गलिक है, अर्थात् पुद्गलसे उत्पन्न हुआ नही है; उस अपोद्गलिक मतिज्ञानके मूर्त्तिमान् पुद्गलगुणका उपचार किया गया है, और यह उपचार चेतन धर्मसे विजातीय मूर्त्तिमान् पुद्गल गुण है, इस कारण विजातिसे असद्भूत-व्यवहार है ॥ ११ ॥

अथ तृतीयमाह ।

अब असद्भूतव्यवहारका तृतीय भेद कहते है ।

स्वजात्या च विजात्यापि, असद्भूतस्तृतीयकः ।
जीवाजीवमयं ज्ञानं व्यवहाराद्यथोदितम् ॥१२॥

भावार्थः—स्वजातिसे तथा विजातिसे तृतीय असद्भूतव्यवहार प्रवृत्त होता है । जैसे व्यवहारसे जीव तथा अजीवमय ज्ञान कहा गया है ॥ १२ ॥

व्याख्या । स एव पुनरसद्भूतव्यवहार स्वजात्या विजात्या च सम्बन्धित कथित । यथा जीवाजीवविषय मति ज्ञान । अत्र हि जीवो मतिज्ञानस्य स्वजातिरस्ति यात्मनो ज्ञानमयत्वात्, अजीवो मतिज्ञानस्य विजातिरस्ति । यद्यपि मतिज्ञानस्य विजातिरस्ति । यद्यपि मतिज्ञानादिविषयीभूतघटोऽयमिति ज्ञानम् । तथापि विजातिर्जडचेतनसबन्धात् । अनयोर्जिवयोर्विषय-विषयिभावनामा उपचरितसम्बन्धोऽस्ति । स हि स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारोऽस्ति तद्भानमेव ज्ञेयम् । स्वजात्यशे किन्नाय सद्भूत इति चेद्विजात्यशे विषयतासबन्धस्योपचरितस्यैवानुभवादिति गृहाणेति । व्यवहाराद्यथोदित तथा विचारयेति पद्यार्थ ॥१२॥

व्याख्यार्थः—स्व (निज) जाति तथा विजाति (परजाति) से संबन्धयुक्त होनेसे तृतीय असद्भूतव्यवहार कहा गया है । जैसे "मतिज्ञान जीव अजीव विषयक है, इस वाक्यमे जीव तो मतिज्ञानका स्वजाति है, क्योकि-आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है । और अजीव मतिज्ञानका विजाति है । यद्यपि "अयं घट," यह घट है, यह ज्ञान मतिज्ञानआदिका विषयभूत है, तथापि यह विजाति है, क्योकि-इस ज्ञानमे जड तथा चेतनका सम्बन्ध है । इन जीव तथा अजीवका विषयविषयीभावनामक उपचरित सम्बन्ध है, और वही सजातिविजातिसंबन्धी असद्भूतव्यवहार है । इसलिये असद्भूतका ही भान होता है, ऐसा समझना चाहिये । यदि ऐसा कहो कि-स्वजात्यंशमे यह सद्भूत क्यो नही ? तो यह

शंका नहीं कर सकते क्योंकि—विजातीय अंश (जड़ता अंश) मे विषयता संवन्धसे उपचरितका ही अनुभव होता है, ऐसा अंगीकार करो, अर्थात व्यवहारसे जैसा कहागया है, वैसा विचारो यह श्लोकका अर्थ है ॥१२॥

अथोपचरितासद्भूतस्य लक्षणमाह ।

अब उपचरितअसद्भूतव्यवहारनामक तृतीय उपनयका लक्षण कहते हैं ।

यश्चैकेनोपचारेणोपचारो हि विधीयते ।
स स्यादुपचरिताद्यसद्भूतव्यवहारकः ॥१३॥

भावार्थः—जो एक उपचारके द्वारा दूसरे उपचारका विधान किया जाता है, वह उपचरितअसद्भूतव्यवहार कहा जाता है ॥ १३ ॥

व्याख्या । यश्च पुनरेकेनोपचारेण कृत्वा द्वितीय उपचारो विधीयते । स ह्युपचरितोपचरितो जात उपचारितासद्भूतव्यवहार इति नाम लभते । इत्यर्थ ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थः—जो कि-एक प्रकारसे उपचार करके पुनः द्वितीय उपचारका विधान किया जाता है, वह उपचरितोपचरित हो गया अर्थात् उसका उपचार होगया । वह उपचरित है, आदिमे जिसके ऐसा असद्भूतव्यवहार अर्थात् उपचरितअसद्भूतव्यवहार नामको प्राप्त होता है । यही सूत्रका तात्पर्य्य है ॥ १३ ॥

अथोदाहरणमाह ।

अब इसका उदाहरण कहते हैं ।

स्वजात्या त विजानीत योऽहं पुत्रादिरस्मि वै ।
पुत्रमित्रकलत्राद्या मदीया निखिला इमे ॥१४॥

भावार्थः—तुम स्वजातिसे उपचरित असद्भूतव्यवहार उसको जानो कि-जो मै निश्चयसे पुत्रआदि हू, और यह सब पुत्र, मित्र, स्त्रीआदि मेरे है, ऐसा मानता है ॥ १४ ॥

व्याख्या । तमुपचरितासद्भूत स्वजात्या निजशक्तयोपचरितसवन्धेनासद्भूतव्यवहार जानीत । सवन्धकल्पन यथा "अहम् पुत्रादि" अहमित्यात्मपर्याय, पुत्रादिरिति परपर्याय, अह पुत्रादिरिति सम्बन्ध-कल्पनम् । पुन पुत्रमित्रकलत्राद्या निखिला इमे मदीया सवन्धिन अत्र "अह मम" चेत्यादि कथन पुत्रादिषु तद्व्युपचरितेनोपचरितम् । तत्कथ-पुत्रादयो ह्यात्मनो भेदा स्ववीर्यपरिणामत्वादभेदसम्बन्ध परम्पराहेतुतयोपचारित । पुत्रादयस्तु शरीरात्मकपर्यायरूपेण स्वजाति, परन्तु कल्पनमात्रम् । न चेदेव तर्हि स्वशरीरसवन्धयोजनया सम्बन्ध कथित पुत्रादीना, तथैव मत्कुणादीनामपि पुत्रव्यवहार' कथ न कथित इति ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थः—स्वजातिसे अर्थात् निजशक्तिसे उपचरित सवन्धसे उस असद्भूतव्यवहारको जानो, संबन्धकी कल्पनाका उदाहरण जैसे "अहं पुत्रादिः" पुत्र आदि मैं ही हू । यहांपर अहम् यह आत्माका पर्याय है, और पुत्रादि यह परपर्य्याय है, और "अहं

पुत्रादिः' मै ही पुत्रआदि हू, यह संबन्ध कल्पना है। पुनः यह पुत्र, मित्र; स्त्रीआदि सब मेरे है; अर्थात् यह सब मेरेसे ही संबन्ध रखनेवाले (मेरे संबन्धी)है, अब यहां पुत्र आदिके विषयमें "अहम्" मै और ',मम" मेरे यह जो कथन है; सो उपचरितसे उपचार किया गया है, सो कैसे कि-निज वीर्यके परिणाम होनेसे पुत्रआदि अपने आत्माके ही भेद है, इसलिये पुत्रादिमें भेद होते हुये भी परंपराके हेतुसे अभेद संबन्धका उपचार कियागया और पुत्रादि निजशरीरकी पर्यायरूपतासे तो अपनी जाति है, परन्तु कल्पनामात्रसे ही मै तथा मेरे यह व्यवहार होता हे, यदि ऐसा न हो (यदि पुत्रादिमें अपना अंशमानना कल्पना मात्र न हो) तो अपने शरीरकी योजनासे जो पुत्रादिकका सम्वन्ध कहा गया है, उसी प्रकार मत्कुण (खटमल) आदिसे भी शरीरका संबन्ध है, उनमें पुत्रादि व्यवहारका कथन क्यो नही करते ॥ १४ ॥

अथ विजात्यासद्भूतव्यवहार

अब विजातिसे असद्भूतव्यवहारका निरूपण करते है।

विजात्या किल तं वित्थ योऽहं वस्त्रादिरद्भुतः ।
वस्त्रादीनि ममैतानि वप्रदेशादयो द्विधा ॥ १५ ॥

भावार्थः—उसको विजातिसे उपचरित असद्भूतव्यवहार जानो कि-जो मै वस्त्र आदि हूँ, और वस्त्रआदि मेरे है; ऐसा मानता है, तथा वप्र (पर्वतोपर क्रीडाका स्थान) प्रदेशआदि मै हू, तथा वप्र प्रदेशआदि मेरे है, इत्यादि मानता है, सो स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार है ॥ १५ ॥

व्याख्या। विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार प्रकटयति । किल इति सत्ये, तमसद्भूतव्यवहार विजात्योपचरित विजानीत । यश्चाह वस्त्रादि, अहमिति सम्बन्धिवचन वस्त्रादिरितिसम्बन्धवचनमह वस्त्रादिरित्युपचरितम् । सर्वोऽपि व्यतिकरोऽसद्भूतव्यवहार सम्बन्धसम्बन्धिकल्पनत्वात् । अथ चैतानि वस्त्रादीनि मम सन्ति "अत्र हि वस्त्रादीनि पुद्गलपर्यायाणि ममेति सम्बन्धयोजनया भोज्यभोजकभोगभोगिकोपचारकल्पनमात्रपराणि भवन्तीति निष्कर्ष । अन्यथा वल्कलादीना वानेयाना पुद्गलाना शरीराच्छादन--समर्थानामपि मम वस्त्राणीत्युपचारसम्बन्धकल्पन कथ न कथ्यते। वस्त्रादीनि हि विजातिषु स्वसम्बन्धो--पचरितानि सन्तीति भाव । पुन वप्रदेशादयो द्विधेति" वप्रादिरहम्, वप्रदेशादयो ममेति कथयता स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो भवेत् । कथ वप्रदेशादयो हि जीवाजीवात्मकोभयसमुदायरूपाः सन्ति ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थः—विजातिसे उपचरित असद्भूतव्यवहारको प्रकट करते हैं। सूत्रमें जो "किल" पद है, वह सत्य अर्थका वाचक है, इसलिये सत्य प्रकारसे उसको विजातिसे उपचरित असद्भूतव्यवहार जानो । जो अहं वस्त्रादि' मैं वस्त्रआदि हूँ, यहाँ पर अहं यह जो पद है, वह संबन्धीका वाचक है, और वस्त्र दि यह सम्बंध वाचक

है, और वस्त्रआदि मैं हूँ यह उपचारसे कथन है, अर्थात् वस्त्रादिमें मत्त्व (आत्मत्व) उपचारसे माना गया है। सम्बंध तथा सम्बन्धीकी कल्पना होनेसे यह सब व्यतिकर (जडमे आत्मबुद्धि तथा आत्मामे वस्त्रादि उलटा ज्ञान) असद्भूतव्यवहारका विषय है; और यह वस्त्रआदि सब मेरे है, यहांपर वस्त्रआदि पुद्गल पर्याय हैं, उनमें मेरे हैं; इस सम्बन्धकी योजनासे भोज्य भोजक वा भोग भोगीके उपचारकी कल्पना मात्रमें तत्पर है, अर्थात् वस्त्रआदि भोज्य हैं, और आत्मा उनका भोग करनेवाला है, इस कल्पनाके विधायक है। यदि ऐसा न हो तो वृक्षोंके वल्कल (छाल) वा उनके अन्य पत्रादि जो शरीरके आच्छादनमे समर्थ हैं, तो भी उनमे ये मेरे वस्त्र हैं, अथवा ये मैं हूँ इत्यादि उपचार सबन्धकी कल्पना क्यों नहीं कहते। अतः जिन वस्त्रोंमें भोज्य भोजक भाव है, वह ही वस्त्रआदि विजातीय आत्माआदिमे निज संबन्धसे उपचरित हैं, यह तात्पर्य है। अब 'वप्रदेशादयो द्विधा' इस वाक्यकी व्याख्या करते हैं। वप्रआदि मैं हूँ और वप्रआदि देश मेरे हैं, ऐसा कहने वालोंको स्वजातीय तथा विजातीय उपचारसे असद्भूतव्यवहार है, क्योंकि-वप्र, देशआदि जीव तथा अजीव इन दोनोंके समुदायरूप है ॥ १५ ॥

अथ संक्षेपमाह।

अब संक्षेपसे नय तथा उपनयके विषयका उपसंहार करते हैं।

इत्थं समे चोपनयाः प्रदिष्टाः स्याद्वादमुद्रोपनिषत्स्वरूपाः।
विज्ञाय तान् शुद्धधियः श्रयतां जिनक्रमाम्भोजयुगं महीयः ॥१६॥

भावार्थः—इस रीतिसे स्याद्वादशैलीके रहस्यभूत नय तथा उपनय दोनोंका समानरूपसे उपदेश किया है, शुद्धबुद्धिके धारक उनको जान कर सर्वपूजनीय जिन भगवान्के चरणकमलका आश्रय लें ॥ १६ ॥

व्याख्या। इत्यमनया दिशा समे नयाश्च पुन उपनया प्रदिष्टा कथिता। कीदृशास्ते स्याद्वादस्य श्रीजिनागमस्य या मुद्रा शैली तस्या उपनिषत्स्वरूपा रहस्यरूपा सन्ति। तान् सर्वानपि विज्ञाय ज्ञात्वा शुद्धधिय निर्मलबुद्धय श्रयन्तामङ्गीकुर्वंता किं जिनक्रमाम्भोजयुग वीतरागचरणकमल श्रयन्तामित्यर्थ ॥१६॥

इति श्रीकृतिभोजसागरविनिर्मिताया द्रव्यानुयोगतर्कणाया सप्तमोऽध्याय ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थः—इस पूर्वोक्त दिशासे अर्थात् पूर्वकथित रीतिके अनुसार समानरूपसे नय तथा उपनय दोनोंका निरूपण किया है, वह नय तथा उपनय कैसे हैं, कि-श्रीजिनदेव प्रणीत स्याद्वादकी जो मुद्रा अर्थात् शैली है, उसके रहस्य (सार) भूत हैं, इस हेतुसे निर्मलबुद्धि जन उन सब नय तथा उपनयोको भेद प्रभेदसहित जानकर सर्व पूजनीय श्रीजिन भगवान्के चरणकमलोंका आश्रय ग्रहण करें यही सूत्रका तात्पर्य है ॥ १६ ॥

इति श्रीआचार्योपाधिधारक प० ठाकुरप्रसादप्रणीतभाषाटीकासमलङ्कृताया द्रव्यानुयोगतर्कणाव्याख्याया सप्तमोऽध्याय ॥ ७ ॥

अथाष्टमाध्याय विवृणोति ।

अब अष्टम अध्यायका विवरण करते है ।

निश्चयव्यवहारौ हि द्वौ च मूलनयौ स्मृतौ ।
निश्चयो द्विविधस्तत्र शुद्धाशुद्धविभेदतः ॥ १ ॥

भावार्थः—निश्चय तथा व्यवहार यह दो ही मूल नय है, इनमे शुद्ध अशुद्धके भेदसे निश्चयनय दो प्रकारका है, अर्थात् शुद्धनिश्चयनय, और अशुद्धनिश्चयनय, यह निश्चयनयके दो भेद है ॥ १ ॥

व्याख्या । हि निश्चितमध्यात्मभापाया मूलनयौ द्वौ स्मृतौ तौ च निश्चयव्यवहारौ निश्चिनोति तत्त्वमिति निश्चय १ व्यवह्रियत इति व्यवहार २ तत्रापि निश्चयनामा द्विविधो द्विप्रकार । एक. शुद्धनिश्चयनय, द्वितीयोऽशुद्धनिश्चयनय । एव द्विप्रकारो ज्ञेय ॥ १ ॥

व्याख्यार्थः—सूत्रमें जो 'हि' शब्द है, उसका अर्थ निश्चय है, इसलिये निश्चय रूपसे अध्यात्मभापाके अनुसार मूलभूत नय निश्चय तथा व्यवहार यह दो ही हैं । इनमे तत्त्वका जो निश्चय करै उसको निश्चय कहते है, तथा जो व्यवहार कियाजाय वह व्यवहारनय है, उनमे भी निश्चयनामक नय दो प्रकारका है, एक तो शुद्धनिश्चयनय है; और दूसरा अशुद्धनिश्चयनय दो प्रकारका है ॥ १ ॥

यथा केवलज्ञानादिरूपो जीवोऽनुपाधिकः ।
शुद्धो मत्यादिकस्त्वात्माशुद्धः सोपाधिकः स्मृतः ॥ २ ॥

भावार्थः—जैसे उपाधिरहित जीव केवलज्ञानआदिरूप है, यह शुद्धनिश्चय नय है, और उपाधिसहित जीव मतिज्ञानआदिरूप है, यह अशुद्धनिश्चयनय है ॥ २ ॥

व्याख्या । यथा हि केवलज्ञानादिरूपो जीवोऽनुपाधिक उपाधि कर्मजन्यस्तेन विहीनोऽनुपाधिक शुद्ध इति शुद्धनिश्चयभेदेन प्रथम । अय हि केवलज्ञानमासाद्य शुद्धगुणमयात्मकरूपेण जीवस्याभेदो दर्शित । तथा च मतिज्ञानादिक आत्मा अशुद्धनिश्चयभेदेन द्वितीय । अत्र ह्यात्मन सोपाधिकस्यावरणक्षयजनितज्ञान–विकल्पेनात्मा मतिज्ञानी अशुद्ध उपलक्ष्यते सोपाधिकत्वात् केवलज्ञानाख्यो गुण शुद्धगुणस्तदुपेत आत्मापि शुद्धस्तन्नामनयोदयाच्छुद्धनिश्चयनय । मतिज्ञानादिगुणोऽशुद्धस्तदुपेत आत्माप्यशुद्धस्तदाख्यया नयोऽप्यशुद्धः निश्चयशब्द आत्ममात्रपर, शुद्धशब्द कर्मावरणविशिष्ट । आवरणक्षये शुद्ध सति तस्मिन्नशुद्धः ॥ २ ॥

व्याख्यार्थः—जैसे केवलज्ञानआदिरूप अर्थात् केवलज्ञानमय जीव अनुपाधिक है, अर्थात् कर्मोंसे उत्पन्न हुई जो उपाधि है उससे रहित है, भावार्थ शुद्ध है। यह शुद्ध निश्चयके भेदसे प्रथम भेद दर्शाया गया है। और मतिज्ञानआदिक आत्मा है, यह

अशुद्धनिश्चयके भेदसे द्वितीय नय है। इस भेदमे उपाधिसहित आत्माके मतिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयसे उत्पन्न जो ज्ञान है; उसके भेदसे आत्मा मतिज्ञानी है; अर्थात् मतिज्ञान जीव है, ऐसे अशुद्ध उपलक्षित होता है; क्योंकि-वह मतिज्ञान सोपाधिक है, अर्थात् कर्मजन्य है। भावार्थ-केवलज्ञाननामक जो गुण है, वह शुद्ध गुण है, इसलिये उस शुद्ध गुणसे युक्त आत्मा भी शुद्ध है, और शुद्धनामक नयके उदयसे शुद्ध निश्चय नय है। मतिज्ञानआदि जो गुण है, वह अशुद्ध गुण है, इस कारण उस अशुद्ध गुणसे युक्त आत्मा भी अशुद्ध है, और उस नामसे नय भी अशुद्ध निश्चय है। निश्चय शब्द आत्मामात्रमे तत्पर है, और शुद्ध शब्द कर्मके आवरणविशिष्ट है, अर्थात् कर्मके आवरणका क्षय होनेपर शुद्ध है, और उस आवरणकी विद्यमानतामे अशुद्ध है, यह शुद्ध और अशुद्ध शब्दका विवेचन हुआ और शुद्ध अशुद्ध इन दोनोंके साथ निश्चय शब्द इसलिये लगा है, कि-केवलज्ञान भी आत्माका गुण है, और मतिज्ञान भी आत्माहीका गुण है, इस कारण शुद्ध भी निश्चयनय है; और उपाधिकी सत्तासे अशुद्ध भी निश्चयनय है ॥ २ ॥

अथ व्यवहारस्य भेद दर्शयति ।

अथ व्यवहारनयके भेदको दर्शाते हैं।

सद्भूतश्चाप्यसद्भूतो व्यवहारो द्विधा भवेत् ।
तत्रैकविषयस्त्वाद्यः परः परगतो मतः ॥ ३ ॥

भावार्थः—सद्भूत और असद्भूत इन दो भेदोंसे व्यवहार भी दो प्रकारका होता है, अर्थात् एक सद्भूतव्यवहारनय और दूसरा असद्भूतव्यवहारनय। उनमे प्रथम तो एक द्रव्यके आश्रित सद्भूतव्यवहार है, और दूसरा असद्भूतव्यवहार परद्रव्याश्रित है ॥३॥

व्याख्या। व्यवहारोऽपि सद्भूत पुनरसद्भूत इति भेदाभ्या द्विधा द्विप्रकार । तत्र आद्य प्रथम एकविषय एकद्रव्याश्रित सद्भूतव्यवहार । अपर परविषय परद्रव्याश्रित सद्भूत[1] व्यवहार इति ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थः—व्यवहारनय भी निश्चयके सदृश सद्भूत तथा असद्भूत इन दोनों भेदोसे दो प्रकारका है। उनमे प्रथम सद्भूतव्यवहार तो एक द्रव्यविषयक है, अर्थात् एक द्रव्यके आश्रयसे रहता है। और द्वितीय असद्भूतव्यवहार परद्रव्यके आश्रयसे रहता है ॥ ३ ॥

उपचरितसद्भूतानुपचरितभेदतः ।
आद्यो द्विधा च सोपाधिगुणगुणिनिदर्शनात् ॥ ४ ॥

---

१ त्रिष्वपि पुस्तकेष्वयमेव पाठो विद्यते परन्त्वस्य स्थाने "असद्भूतव्यवहार" इति पाठ सम्यगाभाति ।

भावार्थः—उपचरितसद्भूत और अनुपचरितसद्भूत इन दोनों भेदोका कारण प्रथम जो सद्भूतव्यवहार है, वह भी दो प्रकारका है; उनमे सोपाधिक गुण गुणीके भेदसे प्रथम भेद होता है ॥ ४ ॥

व्याख्या । उपचरितसद्भूतभेदेनानुपचरितसद्भूतभेदेन चाद्य एकद्रव्याश्रितसद्भूतव्यवहारो द्विधा द्विप्रकार । तत्र च सोपाधिकगुणगुणिभेदात्प्रथमो भेदो भवति ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थः—उपचरितसद्भूतभेदसे तथा अनुपचरितसद्भूतभेदसे आदि जो एक द्रव्यके आश्रित सद्भूतव्यवहार है, वह दो प्रकारका है, उनमेसे उपाधिसहित गुण और गुणीके भेदसे प्रथम भेद अर्थात् उपचरितसद्भूतव्यवहारनय होता है ॥ ४ ॥

यथोपचारतो लोके जीवस्य मतिरुच्यते ।
अनुपचरितसद्भूतोऽनुपाधिगुणतद्वतोः ॥५॥

भावार्थः—जैसे लोकमे उपचारसे यह कहा जाता है, कि-जीवका मतिज्ञान है । और अनुपचरितसद्भूतव्यवहार वह है, जो उपाधिरहित गुण गुणीको प्रदर्शन करे ॥ ५ ॥

व्याख्या । यथा जीवस्य मतिज्ञानम् । अत्र हि मतिरुपाधि कर्मावरणकलुषितात्मन सकलज्ञानत्वेन ज्ञानमिति कल्पन सोपाधिकमुपचारतो जातमिदम् । अथ द्वितीयभेदमाह । उपाधिरहितेन गुणेनानुपाधिक आत्मा यदा सपद्यते तदनुपाधिकगुणगुणिनोर्भेदाद् भिन्नोऽनुपचरितसद्भूतोऽपि द्वितीयो भेदः समुत्पद्यत इति ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थः—उपचरितसद्भूतका उदाहरण-जैसे जीवका मतिज्ञान इत्यादि लोकमें व्यवहार होता है, इस व्यवहारमे उपाधिरूप कर्मके आवरणसे कलुषित आत्माका मलसहित ज्ञान होनेसे जीवका मतिज्ञान यह उपाधिसहित कल्पना उपचारसे हुई है, इसलिये सोपाधिक होनेसे यह उपचरित सद्भूतव्यवहारनामक प्रथम भेद है । अब द्वितीय भेदको कहते हैं । उपाधिरहित गुणके साथ उपाधिशून्य आत्मा जब संपन्न होता है, तब अनुपाधिक (उपाधिसे वर्जित) गुण गुणीके भेदसे भिन्न (भेदको प्राप्त हुआ) अनुपचरितसद्भूतनामक व्यवहारनयका दूसरा भेद भी सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

अथास्योदाहरणमाह ।

अब इस अनुपचरितसद्भूतव्यवहारका उदाहरण कहते है ।

केवलादिगुणोपेतो गुण्यात्मा निरुपाधिकः ।
असद्भूतव्यवहारो द्विधैवं परिकीर्त्तितः ॥६॥

भावार्थः—केवलज्ञानआदिगुणसहित गुणी आत्मा उपाधिरहित है । और असद्भूत-व्यवहार भी पूर्वोक्त सद्भूतव्यवहारकी भाति दो प्रकारका कहा गया है ॥ ६ ॥

व्याख्या । केवलादिगुणोपेत केवलज्ञानसहित कर्मक्षयाविर्भूतप्रभूतानुभवभावात्मको जीवो निरुपाधिकगुणोपेतो निरुपाधिक गुणी भवति । आत्मा हि ससारावस्थायामष्टकर्म-

जनितावरणपरिस्फुटप्रभावभावित सोपाधिकगुणैर्मत्यादिभिस्तद्वानिति सोपाधिक आत्मेति व्यपदेशभाग्भवति। अत्र तु तदभावे तदभावान्निरुपाधिकगुणगुणिभेदभावनामुत्पादादनुपचरितसद्भूतभेदोऽपि समुत्पन्न। केवलादि- रिति केवलस्यैकत्वादादिरिति तदुत्थानन्तगुणोदयात्केवलादिरिति कथनम्। अथासद्भूतव्यवहारस्यापीत्यमेव भेदद्वय प्रकटयन्नाह। असद्भूतव्यवहारोऽप्येव पूर्वोक्तसद्भूतवद्द्विधा द्विप्रकार परिकीर्त्तित कथित इति ॥६॥

व्याख्यार्थः—जैसे केवलादिगुणसे युक्त (केवलज्ञानरूप गुणसे सहित) आत्मा अर्थात् कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न जो प्रभूत (महा) अनुभव है, उस महानुभवस्वरूप भाव मय जो जीव हैं, वही उपाधिरहित केवलज्ञानसे संयुक्त निरुपाधिक आत्मा है। क्योंकि— आत्मा संसारमयी अवस्थामें अष्ट प्रकारके जो कर्म हैं, उन कर्मोंसे उत्पन्न आवरणोंके अप्र- कट प्रभावसे सहित हुआ उपाधिसहित गुण जो मतिआदिक ज्ञान हैं; उनसे मतिज्ञानी अर्थात् उपाधिसहित आत्मा इस नामका भागी होता है। और यहापर कारणके अभा- वसे कार्यका भी अभाव होता है, इस न्यायसे उपाधिसहित मतिज्ञानादि गुणोंके अभा- वसे उपाधिसहित गुणी आत्मा भी नहीं रहता इसलिये उपाधिसे वर्जित गुण गुणीके भेदकी भावनाकी सम्यक् प्रकारसे उत्पत्तिसे "अनुपचरितसद्भूत" यह नयका भेद सिद्ध होता है। और सूत्रमे जो "केवलआदिगुणसहित गुणी आत्मा निरुपाधिक है" इस वाक्यमे "केवल" पदके आगे "आदि' पद दिया है, वह कैसे संगत हो सकता है, क्यों कि-केवलज्ञान तो एक है? इसका उत्तर यह है, कि-यद्यपि केवलज्ञान एक ही है, तथापि केवलज्ञानसे उत्पन्न जो अनन्त सुख, अनन्त वीर्यआदि गुण हैं; उन गुणोंकी विवक्षासे "केवलादि" यहापर आदि पद दिया है, अर्थात् केवलज्ञानके सहचारी अनन्त गुण सहित निरुपाधिक आत्मा यह अभिप्राय "आदि" इस पदका है॥ अब असद्भूतव्यवहारके भी इसी प्रकार दो भेदोको प्रकट करते हुए कहते हैं॥ असद्भूत व्यवहार नय भी पूर्वोक्त सद्भूतनयके समान दो ही प्रकारका कहा गया है ॥६॥

अथैतस्यासद्भूतव्यवहारस्य भेदद्वय सोदाहरणपूर्वक प्रकटयन्नाह।

अब इस असद्भूतव्यवहारके उदाहरणसहित दोनों भेदोंको प्रकट करते हुए आचार्य इस अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

असंश्लेषितयोगेऽग्र्यो देवदत्तधनं यथा।
स्यात्संश्लेषितयोगेऽन्यो यथास्ते देहमात्मनः ॥७॥

भावार्थः—असंमिलित योगमे जहा संबन्धकी कल्पना होती है, वहापर प्रथम भेद अर्थात् उपचरितअसद्भूतव्यवहार होता है। जैसे देवदत्तका धन। और संमिलित (मिले हुए) योगमें जहा संबन्धकी कल्पना होती है, वहा द्वितीय भेद अर्थात् अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय होता है, जैसे आत्माके देह स्थित है ॥७॥

व्याख्या । अत्र द्वयोरपि भेदयोर्मध्ये अग्र्य अग्रेभवोऽग्र्यो मुख्य. प्रथमः असश्लेषितयोगे कल्पितसम्बन्धविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो भवेत् । यथा देवदत्तधनम्, इह धनेन देवदत्तस्य सबन्ध' स्वस्वामिभावरूपश्च जायते सोऽपि कल्पितत्वादुपचरित । यतो देवदत्त. पुनर्धनश्चैकद्रव्य न हि तस्माद्भि· न्नद्रव्यत्वादसद्भूतभावनाकरणेनासद्भूतव्यवहार इति । तथा द्वितीयोऽन्य सश्लेषितयोगे कर्मजसबन्धे भवति । यथा आत्मनो जीवस्य देहमित्यास्ते तिष्ठति । अत्र ह्यात्मदेहयो सबन्धे देवदत्तधनसवन्धइव कल्पन नास्ति विपरीतभावना निवर्त्यत्वाद्यावज्जीवस्थायित्वादनुपचरित तथा भिन्नविषयत्वादसद्भूतव्यवहार इति ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थः—यहा इन दोनो भेदोंके अर्थात् उपचरितअसद्भूतव्यवहार तथा अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारके मध्यमे अग्रय, आगे (प्रथम) होनेवाला मुख्य भेद अर्थात् पहिला भेद संश्लेप (संबन्ध) का योग न होनेपर अर्थात् कल्पित संबन्ध माननेपर उपचरितअसद्भूतव्यवहार होता है, जैसे "देवदत्तका धन" यहापर देवदत्तका धनके साथ स्वस्वामिभावरूपसे संबन्ध माना गया है, वह भी कल्पित होनेसे उपचरित (उपचारसे सिद्ध) है । क्योंकि-देवदत्त और धन यह दोनों एक द्रव्य नहीं हैं, इस हेतुसे अर्थात् भिन्न द्रव्य होनेसे देवदत्त तथा धनमें सद्भूत (यथार्थ) संबन्ध नही है, अतएव असद्भूतभावना करनेसे उपचरितअसद्भूतव्यवहार है । और अन्य (द्वितीय) भेद जहां मिलित योग है, अर्थात् कर्मजनितसंबन्ध है, वहां होता है । जैसे "जीवके देह स्थित है" यहांपर आत्मा तथा देहका संबन्ध देवदत्त तथा उसके धनके संबन्धके तुल्य कल्पित संबन्ध नहीं है, क्योकि-[1]विपरीतभावनासे निवर्तनीय यहांपर यह यावज्जीव स्थायी होनेसे अनुपचरित है, तथा जीव और देहके भिन्न विषयपनेसे असद्भूतव्यवहार है ॥ ७॥

अथोक्तविपयस्वामित्वमाह् ।

अब उक्तविषयके स्वामित्वका वर्णन करते हैं ।

नयाश्चोपनयाश्चैते तथामूलनयावपि ।
इत्थमेव समादिष्टा नयचक्रेऽपि तत्कृता ॥८॥

भावार्थः—नय, उपनय तथा मूलनय जैसे हमने इस ग्रंथमें निरूपण किये हैं, इसी प्रकारसे नयचक्रनामक ग्रंथमे नयचक्रकारने भी वर्णन किये हैं ॥८॥

व्याख्या । एते नया उक्तलक्षणाश्च पुनरुपनयास्तथैव द्वौ मूलनयावपि निश्चयेनेत्थममुना प्रकारेणैव नयचक्रेऽपि दिगम्बरदेवसेनकृते शास्त्रे नयचक्रेऽपि तत्कृता तस्य नयचक्रस्य कृता उत्पादकेन समादिष्टा कथिता । एतावता दिगम्बरमतानुगतनयचक्रग्रथपाठपठितनयोपनयमूलनयादिक सर्वमपि सर्वज्ञप्रणीतसदागमोक्तयुक्तियोजनासमानतन्त्रत्वमेवास्ते न किमपि विसवादितयास्तीति ॥ ८ ॥

---

१ विपरीतभावना अर्थात् जो भावना देवदत्त और उसके धनके विपयमे है, उसमे उलटी भावनासे यह सम्बन्ध रचा गया है ।

व्याख्यार्थः—यह पूर्वकथित लक्षणसहित नय, उपनय तथा दो मूलनय जैसे हमने निरूपण किये हैं, निश्चयरूपसे ऐसे ही दिगम्बर श्रीदेवसेन आचार्यकृत नयचक्र शास्त्रमें भी उस नयचक्रके उत्पादक (कर्त्ता) अर्थात् दिगम्बर देवसेनाचार्यजीने कहे हैं। इससे यह वार्ता सिद्ध हुई कि-दिगम्बरमतके अनुगत (अनुसार) नयचक्रनामक ग्रन्थमें पठित नय, उपनय तथा मूलनयआदिक सब ही श्रीसर्वज्ञप्रणीत सत्शास्त्रकथित युक्तिकी योजनाओंसे समानतन्त्र अर्थात् हमारे सिद्धान्तके समान ही हैं; उसमे किंचित् भी विसंवादपनसे कथन नहीं है ॥ ८ ॥

अथ पुनरपि श्वेताम्बरदिगम्बरयो समानतन्त्रत्वमुपदिशन्नाह ।

अब फिर भी श्वेताम्बरों तथा दिगम्बरोके मतमे समानतंत्रता (अविरुद्धशास्त्रता) है; इस बातका उपदेश देते हुये कहते हैं।

यद्यपीहार्थभेदो न तस्यास्माकमपि स्फुटम् ।
तथाप्युत्क्रमशैल्यासौ दह्यते चान्तरात्मना ॥९॥

भावार्थः—यद्यपि हमारे तथा श्रीदेवसेनजी दिगम्बरके कथनमे कुछ भी अर्थका भेद नहीं है। तथापि पाठकी शैलीको विपरीतरूपसे करने रचनेसे यह देवसेनजी ईर्षायुक्त अन्तरात्मासे संतप्त हो रहे हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या। यद्यपि तस्य देवसेनस्य दिग्वाससोऽपि तथास्माक श्वेतभिक्षूणा स्फुट प्रकट यथा स्यात्तथेह द्रव्यादिपरिज्ञानोपयोगिनि नयविचारेऽर्थभेदो विपयभेदो नास्ति। उभयोरप्यर्थदिशे विपयाभेदत्वमेव शब्दादेशे किमपि पाठान्तरत्वान्न किमपि दोपः। यथा हि-अर्थे प्रयोजनवन्तस्तार्किका शब्दस्याप्रयोजकत्वात्। तथाप्यसौ देवसेनो दिगम्बर उत्क्रमशैल्या विपरीतपरिभाषयार्थस्य तादृशत्वेन शब्दस्यातादृशत्वेन चोत्क्रमशैल्या कृत्वान्त रात्मनान्तरङ्गपरिणामेनेर्ष्यालुत्वाद्दह्यते खिद्यते। ईर्ष्यालवो ह्यन्तरुपतापपरा एव भवन्ति निष्कारणमेवेति। यतो "यद्यपि न भवति हानि परकीया चरति रासभो द्राक्षाम्। असमञ्जसं तु दृष्ट्वा तथापि परिखिद्यते चेत ।१।" इति वचनाद्यथोक्तभागवतसिद्धान्तशुद्धपरिभाषा त्यक्त्वा स्वकपोलकल्पितसस्कृतभाषया श्रीवीतरागोक्तार्थविषयमङ्गीकृत्य नवीन्थ विरचय्य प्रभाव ख्यापयतीत्यर्थं ॥९॥

व्याख्यार्थः—यद्यपि उस दिगम्बर देवसेन तथा हम श्वेतभिक्षुओ (श्वेताम्बरो) के प्रकट जैसे होय तैसे अर्थात् स्पष्टरूपसे इस द्रव्यार्थिपदार्थोंके ज्ञानमे उपयोगी नयके विचारमे अर्थका अर्थात् विषयका भेद नहीं है। अर्थात् श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनोके ही अर्थके आदेशमें विषयका अभेद ही है, शब्दादेशमे (शब्दकी रचनामे) कुछ पाठभेद है, उस पाठभेदसे कुछ भी दोष नही है, क्योंकि-नैयायिकोंका प्रयोजन अर्थमें ही है, शब्दतो नैयायिकोंकेलिये अप्रयोजक है। तथापि यह दिगम्बर देवसेनजी उत्क्रमशैली (विपरीत परिभाषा) अर्थात् अर्थकी समानता और शब्दकी असमानतारूप उत्क्रमशैलीसे अन्तरं-

गपरिणामसे ईर्ष्यायुक्त होनेके कारण संतप्त है, क्योंकि-जो ईर्ष्यायुक्त होते है, आभ्यन्त-रमें बिना कारण ही संतापमें परायण होते है। और हमारा चित्ततो देवसेनजीसे "अन्यके खेतकी दाख जब गधा चरता है, तब हमारी कोई हानि नहीं होती है; तथापि अयोग्य देखकर चित्त खेदित होता है" इन वचन (न्याय) के अनुसार दुःखित होता है। क्योकि-देवसेनजी यथोक्त श्रीजिनभगवान्के सिद्धान्तसे सिद्ध जो शुद्धपरिभाषा है, उसको त्यागकर निज कपोलकल्पित संस्कृतभापासे श्रीवीतरागकथित अर्थके विषयको ही अङ्गीकार करके और नयचक्रनामक नवीन ग्रन्थ(शास्त्र)को रचके अपना प्रभाव (प्रभुत्व) प्रसिद्ध करते है। यह इस श्लोकका अर्थ है ॥ ९ ॥

अथ बोटिकताभिमतविपरीतपरिभाषा दर्शयन्नाह ।

अब बोटिकमतके अभिमत जो विपरीत परिभाषा है, उसको दर्शाते हुये कहते है।

तत्त्वार्थेऽपि नयाः सप्त पञ्चादेशान्तरेऽपि वा ।
अन्तर्भूतौ समुद्धृत्य नवेति किमु कल्पते ॥ १० ॥

भावार्थः—तत्त्वार्थसूत्रमे भी सप्त (सात) ही नय कहे है; और मतान्तरमे भी ऋजुसूत्र और एवंभूतका शब्दनयमे अन्तर्भाव मानकर पांच ही नय माने है; और देवसेन-जी इन सातमे अन्तर्भूत जो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक है, उनको उनमेंसे अलगकर नव ९ नय कैसे कल्पते है ॥ १० ॥

व्याख्या। तत्त्वार्थसूत्रे नया सप्त उक्ता पुनरादेशान्तरे मतान्तरे तत्रैव नया पञ्च प्रतिपादिता । तथा च तत्सूत्रम् "सप्त मूलनया पचेत्यादेशान्तर" मिति शब्द समभिरूढ, एवभूतेति नयत्रिक शब्दनय इति नाम्ना सगृहीताना त्रयाणामेवैक नाम शब्दनय इति ज्ञायते। तत प्रथमै चत्वारोऽनस्तै सह पञ्चनया इति। अथैकैकस्य भेदाना शतमस्ति। तत्र च सप्तशत तथा पञ्चशतमेव मतद्वयेऽपि भेदकल्पनम्। तथोक्तमावश्यके "इक्किकोय महविहो सत्तणयसया हवनि एमेवे। अण्णोविहु आएसो पचेमे सयाण याणतु ॥ १ ॥" एतादृशी शास्त्रपरिभाषा त्यक्त्वा द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनामानावेवन्तर्भावितावेवोद्धृत्य दूरे कृत्वा नव नया कथिता इति किमु कल्पते। देवसेनेन क प्रपञ्च क्रियते ॥ १० ॥

व्याख्यार्थः—तत्त्वार्थसूत्रमे भी सात ही नय कहे हैं, और वहां ही मतान्तरमें पांच नय प्रतिपादन किये है। और पंचनयप्रतिपादक उनका सूत्र भी यह है **"सप्त मूलनयाः पञ्चे-त्यादेशान्तरम्"** अर्थात् मूलनय सात है; और मतान्तरमें पांच नय हैं ॥ शब्द, समभि-रूढ तथा एवंभूत यह जो तीन नय कहे हैं; इन तीनोंका संग्रह, करनेसे शब्दनयरूप एक ही नाम होता है ॥ इस कारण नैगम, संग्रह, व्यवहार, और ऋजुसूत्र यह पहिले चार तथा इन तीनों (शब्द, समभिरूढ, एवं भूत) का एक शब्दनय ऐसे मिलकर पांच नय होते है। और एक एक नयके सो १०० भेद हैं, उनमें जिस मतमें सात नय हैं; वहांपर सातसो

७०० भेद और जिस मतमे पांच नय माने हैं, उसमे ५०० पाचसौ भेदोंकी कल्पना है। यही विषय आवश्यकनामक ग्रन्थमे भी कहा है। उसकी गाथाका भाव यह है "एक २ नय सौ सौ भेदसहित है, इस प्रकार सप्त नय सातसौ हो जाते है, और अन्य मतके अनुसार भी पाच नय पॉच सौ हो जाते है ॥ १ ॥" इस प्रकारकी शास्त्रीयपरिभाषाको त्यागकर द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नाम दो नयोको जिनका कि-इन्ही सप्त या पंच भेदों-मे अन्तर्भाव है, उनको उन सात या पांचमेसे दूर करके देवसेनजीने नव नय कहे हैं, सो इस प्रकार देवसेनजी क्या प्रपंच करते है ॥ १० ॥

पुनश्चर्चां कथयन्नाह्।

और भी इस विषयमे विशेष चर्चा (विवाद) कहते हुए इस सूत्रको कहते हैं ॥

यदि पर्यायद्रव्यार्थनयौ भिन्नौ विलोकितौ।
अर्पितानर्पिताभ्यां तु स्युर्नैकादश तत्कथम् ॥११॥

भावार्थः—यदि द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिकनय सप्त भेदोंसे भिन्न (जुदे) देखे गये हैं, तो अर्पित तथा अनर्पित इन दोनो भेदोंसे एकादश ११ (ग्यारह) नय क्यों नहीं मानते ॥ ११ ॥

व्याख्या। यदि पर्यायार्थद्रव्यार्थनयौ भिन्नौ विलोकितौ पृथक् दृष्टौ तत्तस्मान्नव नया इति कथितम्। तत्तस्मादर्पितानर्पिताभ्यां सहैकादश नया इति कथं न स्युरपि तु स्युः। भावार्थस्त्वयं नैगमसङ्ग्रहव्यवहार-भेदाद्यो द्रव्यार्थिकस्त्रिधा, पर्यायार्थिकश्चतुर्धा-ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूतश्चेति। अर्पितानर्पितभेदावपि सामान्यविशेषपर्यायौ तौ च द्रव्यपर्याययोश्चेति। तथा हि सामान्यं द्विप्रकारमूर्द्धतासामान्यं तिर्यक्सामान्यं च। तत्रोर्ध्वतासामान्यं द्रव्यमेव, तिर्यक्सामान्यं तु प्रतिव्यक्तिसदृशपरिणतिलक्षणं व्यञ्जनपर्याय एव स्थूला कालान्तरस्थायिनः शब्दानां सङ्केतविषया व्यञ्जनपर्याया इति प्रावचनिकप्रसिद्धेः। विशेषोऽपि वैसादृश्यविवर्त-लक्षणः पर्याय एवान्तर्भवतीति नैताभ्यामधिकनयावकाशः ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थः—यदि द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नय भिन्नरूपसे अर्थात् पृथक्तासे देखे गये है, और उसी कारणसे नव ९ नयका तुमने कथन किया है, तो अर्पित और अन-र्पित भेदोंको साथ मिलाके एकादश ११ नय क्यो नहीं होवेंगे किन्तु अवश्य होवेंगे। भावार्थ यह है, कि-नैगम, संग्रह, तथा व्यवहार इन भेदोंसे प्रथम जो द्रव्यार्थिक नय है; वह तीन प्रकारका है, और ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत इन भेदोंसे पर्य्यायार्थिक चार ४ प्रकारका है। और अर्पित तथा अनर्पितरूप जो दो भेद हैं, यह भी सामान्य और वि-शेषके पर्याय हैं; और द्रव्य तथा पर्यायमे रहते है। सो ही कहते हैं, कि-सामान्य दो प्रकार-का है; एक ऊर्ध्वतासामान्य और दूसरा तिर्यक्सामान्य, इनमेसे ऊर्ध्वतासामान्य तो द्रव्य-रूप ही है, क्योंकि-वह सब पर्यायोंमे साधारणरूपसे रहता है, और तिर्यक्सामान्य प्रति-

व्यक्ति (घट पटआदि व्यक्ति) सदृश परिणाम लक्षण व्यंजन पर्यायमें ही रहता है; क्यों कि–स्थूलरूपसे कालान्तरमे ठहरनेवाले और शब्दोंके संकेत गोचर व्यंजन पर्याय है; ऐसी प्रावचनिकोंकी प्रसिद्धि है। और वैसादृश्यरूप विवर्त्त लक्षणसहित विशेष है, सो भी पर्यायमे ही अन्तर्गत होता है; इसलिये सामान्य विशेषसे अधिक नयका अवकाश नही है ॥ ११ ॥

संग्रहे व्यवहारे च यदीमौ युङ्क्थ केवलम् ।
तदाद्यन्तनयस्तोके किं न युङ्क्थ हि तावपि ॥ १२ ॥

भावार्थः—यदि संग्रह तथा व्यवहारनयमे अर्पित तथा अनर्पित युक्त होते है; अर्थात् अन्तर्भूत होते है, तो द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक यह दोनो आदिके तीन नय और अन्तके चार नय समूहमे क्यो नहीं योजित करते ? ॥ १२ ॥

व्याख्या। अथ सङग्रहे च पुनर्व्यवहारे यदीमावर्पितानर्पितौ युङ्क्थ तर्ह्याद्यन्तनयस्तोके तावपि किं न युङ्क्थ इति। यद्येव कथयथ अर्पितानर्पितसिद्धेरित्यादिसूत्रेष्वर्पिता विशेषा अनर्पिता. सामान्या तत्रार्पिता व्यवहारादिविशेषनयेष्वन्तर्भवन्ति अनर्पिता सङग्रहेऽन्तर्भवन्ति तदा आद्येषु प्रथमेष्वन्त्येषु पाश्चात्येषु नयस्तोकेष्विमौ द्रव्यपर्यायौ कथ न युञ्जीत सप्तनयसम्बन्धसिद्धेरिति विचारणीयम्। सिद्धान्ते श्रीजिनवाणी सप्तनयावतारिका एवास्ति न न्यूनाधिका। यत सेकिंत नए सत्तमूलनया पण्णत्ता त जहाणेगमे, सगहे, ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढे, एवभूए। इत्यादिसूत्रपाठोऽपि ज्ञेयोऽतस्तत्सूत्रमार्गं त्यक्त्वा "नया नव" इत्यधिकयोजना न साधीयसी। अथान्तर्भूताना पृथक्करणमपि पिष्टपेषणमेवेति ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थः—यदि इस अर्पित और अनर्पितको संग्रह तथा व्यवहारनयमें संमिलित करते हो तो उस द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नयको भी क्रमसे आदिके तीन नयस्तोकमें और अन्तके चार नय समुदायमें क्यों नही संमिलित करते। यदि आप ऐसा कहें कि–"अर्पितानर्पितसिद्धेः" इत्यादि सूत्रोंमें अर्पित विशेषरूप हैं; और जो अनर्पित है, वह, सामान्य है। इसलिये इन दोनोमेंसे अर्पित तो व्यवहारआदि विशेषनयोंमें अंतर्भूत होते है, और अनर्पित सङग्रहनयमे अन्तर्गत (शामिल) होते है; तो आदिके तीन और अन्तके चार नयोंके जो समुदाय है, उनमें इन द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिकको क्यो नहीं युक्त (शामिल) करते हो ? क्योकि–सात नयोका जो सबन्ध है, उसकी सिद्धि होती है; ऐसा विचार करना चाहिये। अर्थात् सिद्धान्त(शास्त्र)में श्रीजिनवाणी सात नयोंका ही अवतार करती है, सातसे न्यून (कम) अथवा अधिक नयोका अवतार नही करती उसकी भी सिद्धि होजायगी क्योंकि–"सिद्धान्तमे सात मूलनय कहे गये हैं, वह जैसे नैगम १ संग्रह २ व्यवहार ३ ऋजुसूत्र ४ शब्द ५ समभिरूढ ६ और एवंभूत। इत्यादिरूपसे सूत्रका पाठ भी जानना चाहिये। इसलिये उस सूत्रके मार्गको त्यागकर "नय नव है"

ऐसा कहकर जो अधिक नयोंकी योजना करते हो सो अच्छी नहीं है। तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक जो क्रमसे प्रथम तीन और अन्तके चार नयोंके स्तोकमे अन्तर्भूत हैं; इनको उनसे जुदे करना है; सो भी पिष्टपेषण ही है ॥ १२ ॥

अथ नयसप्तके द्रव्यपर्यायौ यथान्तर्भवतस्तद्दर्शयति ।

अब जिस प्रकारसे सात नयोंमें द्रव्य तथा पर्यायका अर्थात् द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंका अन्तर्भाव होता है, उस प्रकारको दर्शाते हैं।

पर्यायार्थिकनामानो नयाः स्युरन्तिमास्त्रयः ।
द्रव्यार्थिकनयास्तद्वच्चत्वारः प्रथमे पुनः ॥ १३ ॥

भावार्थः—अन्तके तीन नय पर्यायार्थिक नाम के धारक हैं। और इसी प्रकार पहिले चार ४ नय द्रव्यार्थिक नय हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या । अन्तिमास्त्रय शब्दसमभिरूढैवंभूताख्यास्त्रय पर्यायार्थिका कथ्यन्ते । तथा प्रथमे चत्वारो नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्राख्या द्रव्यार्थिकनया इति ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थः—अन्तके तीन अर्थात् शब्द, समभिरूढ और एवंभूत यह तीन नय पर्यायार्थिक कहे जाते हैं। तथा आदिके नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनामक यह चार द्रव्यार्थिक नय हैं ॥ १३ ॥

अथ य आचार्या नयावतार कुर्वन्ति तेषा नामान्याह ।

अब जो आचार्या नयोंका अवतार करते हैं, उनके नामोको कहते हैं।

इत्याह च महाभाष्ये क्षमाश्रमणपुङ्गवः ।
जिनभद्रगणिः सर्वसिद्धान्तमतपारगः ॥ १४ ॥

भावार्थः—अन्तके तीन नय पर्यायार्थिक है, तथा आदिके चार ४ नय द्रव्यार्थिक हैं, इस पूर्वोक्त कथनको महाभाष्यमें क्षमाश्रमणपुङ्गव तथा सब सिद्धान्तमतके पारंगत श्रीजिनभद्रगणि कहते है ॥ १४ ॥

व्याख्या । तत्र महाभाष्ये विशेषावश्यके क्षमाश्रमणपुङ्गव क्षमाश्रमणप्रधान श्रीजिनभद्रगणिराचार्य इत्याह । इतीति किं पूर्ववद्य आद्याश्चत्वारो नया द्रव्यार्थिका, अन्तिमास्त्रयो नया पर्यायार्थिका इत्याह ॥१४॥

व्याख्यार्थः—उस महाभाष्यमे अर्थात् विशेषावश्यकनामग्रंथमें क्षमाश्रमणपुङ्गव अर्थात् क्षमागुणधारी मुनियोमे श्रेष्ठ तथा संपूर्णसिद्धान्तमतके पारंगत अर्थात सब सिद्धान्तोंके वेत्ता श्रीजिनभद्रनामक गणि 'आचार्य' आदिके चार ४ नय तो द्रव्यार्थिक हैं; तथा अन्तके तीन नय पर्यायार्थिक है, यह जो पूर्वश्लोकमें कहा है, ऐसा ही कहते हैं ॥ १४ ॥

इत्याह सिद्धसेनोऽपि आद्या द्रव्यनयास्त्रयः ।
द्रव्यावश्यकलीनस्तदृजुसूत्रो न संभवेत् ॥१५॥

भावार्थः—और सिद्धसेनजी भी आदिके तीन नयोंको द्रव्यार्थिकनय कहते है; ओर शेष चारोंको पर्यायार्थिक कहते है; क्योंकि—द्रव्यके वर्त्तमानमात्र पर्यायके कहनेसे ऋजुसूत्र द्रव्यार्थिकनय नहीं संभव हो सकता ॥१५॥

व्याख्या । पुन सिद्धसेनोऽपि सिद्धसेनदिवाकरो मल्लवादी तार्किक प्रथमे त्रयो नैगम १ सग्रह २ व्यवहारलक्षणा. द्रव्यनया अन्तिमाश्चत्वारो नया ऋजुसूत्र १ शब्द २ समभिरूढ ३ एवभूताख्या॰ पर्यायार्थिकनया इत्याह । एवमवरेऽपि सिद्धान्तवेदिन आचार्या एनमेवार्थमाहुरिति । आद्या द्रव्यनयास्त्रय इत्यत्रर्जुसूत्र १ शब्द २ समभिरूढ ३ एवभूतवर्जिता इति । तथा च

"द्रव्यार्थिकमते सर्वे पर्यायाः खलु कल्पिताः ।
पतत्येष्वन्वयि द्रव्यं कुण्डलादिषु हेमवत् ॥१॥
पर्यायार्थमते द्रव्यं पर्यायेभ्योऽस्ति नो पृथक् ।
यत्तैरर्थक्रिया दृष्टा नित्यं कुत्रोपयुज्यते ॥२॥

इति द्रव्यार्थपर्यायार्थनयलक्षणादतीतानागतपर्यायप्रतिपेक्षी ऋजुसूत्र शुद्धमर्थपर्याय मन्यमान कथ द्रव्यार्थिक. स्यादित्येतेषामाशय । इति तेषामाचार्याणा मत ऋजुसूत्रनयो द्रव्यावश्यकविषये लीनो न समवति । तथा च "उज्जुसुयस्स एगे अणुत्र उत्तेएग दव्वावस्सय पुहुत्तणन्थि ।" इत्यनुयोगद्वारसूत्रविरोध । अय च वर्त्तमानपर्यायाधारस्वद्रव्याशपूर्वापरपरिणामसाधारणमूर्ध्वतासामान्य द्रव्याश १ सादृश्यास्तित्वरूपतिर्यक्सामान्य द्रव्याश । एषु चैकमपि पर्यायनयो न मनुते तदा ऋजुसूत्र, पर्याय इति कथयत एतत्सूत्र कथ मिलति । तत॰ कारणात्क्षणिकद्रव्यवादी सूक्ष्मर्जुसूत्रम्, तत्ताद्वर्त्तमानपर्यायापन्नद्रव्यवादी स्थूलर्जुसूत्र द्रव्यनय इति कथनीयमिति सिद्धान्तवादिना मतम् । अनुपयोगद्रव्याशमेव सूत्रपरिभाषिनमादायोत्सूत्रतार्किकमते नोपर्याय-पदमप्युपपद्यत इत्यस्मदेकपरिशीलित यथेति ॥१५॥

व्याख्यार्थः—पुनः मल्लवादी और तार्किक जो सिद्धसेनजी दिवाकर हैं, वह प्रथमके नैगम १ संग्रह २ तथा व्यवहार ३ रूप तीनों नयोंको द्रव्यार्थिकनय कहते हैं, और अन्तके ऋजुसूत्र १ शब्द २ समभिरूढ ३ तथा एवंभूत ४ इन चार ४ नयोंको पर्यायार्थिक-कनय कहते हैं। और इसी अर्थको सिद्धान्तके जाननेवाले अन्य आचार्य भी कहते हैं, अर्थात् सिद्धसेनजी और उनके अनुगामी अन्य आचार्योंके मतमें भी ऋजुसूत्र १ शब्द २ समभिरूढ ३ और एवंभूत ४ इन चार नयोंसे वर्जित आदिके तीन नय द्रव्यार्थिक हैं । और "द्रव्यार्थिकनयके मतमे सब पर्याय निश्चयरूपसे कल्पित हैं, क्योंकि-सब पर्यायोंमें अन्वयी (अनुगामी) द्रव्य समाविष्ट होता है; जैसे कुण्डलआदिपर्यायोंमे सुवर्ण द्रव्य ॥१॥

और पर्यायार्थिकके मतमें द्रव्य पर्यायोंसे भिन्न नहीं है । क्योंकि—पर्यायोंसे जो अर्थक्रिया दृढ है; उस अर्थक्रियाका नित्य उपयोग कहां होता है । अर्थात् सुवर्णके कुण्डलआदि तथा मृत्तिकाके घटआदि पर्यायोंसे जो आभूपण तथा जलधारणआदिरूप अर्थक्रिया दृढ है; वह नित्य नहीं है, क्योंकि—पर्यायोंके नष्ट होनेके पश्चात वही सुवर्ण तथा मृत्तिका रूपद्रव्य शेप रहता है ॥ २ ॥" यह द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिकनयका लक्षण है; इस लिये अतीत (भूत) तथा अनागत (भविष्य) पर्यायोंका प्रतिक्षेपी (दूर फेंकनेवाला) शुद्ध अर्थ पर्यायको मानता हुआ ऋजुसूत्रनय द्रव्यार्थिक किस रीतिसे होवे ऐसा इन आचार्योंका अभिप्राय है । इस कारण उन आचार्योंके मतमे ऋजुसूत्रनय द्रव्यावश्यक के विषयमे लीन नहीं होता है; और उस प्रकार " **उज्जुसुयस्स एगे अणुव उत्ते एगं दव्वास्सयं पुहुत्त णत्थि**" इस अनुयोगद्वारसूत्रका विरोध होगा । और वर्त्तमान पर्यायका आधारभूत तथा निजद्रव्यके पूर्वापरपरिणाममें साधारण ऊर्द्धतासामान्य द्रव्यांश है ।१। सादृश्य सव व्यक्तियोंमे समानताके अस्तित्वरूप तिर्यक्सामान्य भी द्रव्यांश ही है ॥ २ ॥ और इनमेंसे एकको भी पर्यायनय नहीं मानता तव ऋजुसूत्र पर्यायार्थिक है; ऐसा कहनेवालोंके यह सूत्र कैसे संगत होता है । इस कारण क्षणिक द्रव्यको कहनेवाला तो सूक्ष्म ऋजुसूत्र है; और उस उस वर्त्तमानपर्यायको प्राप्त हुए द्रव्यको कहनेवाला स्थूलऋजुसूत्र है, ऐसे ऋजुसूत्रको द्रव्यार्थिकनय कहना चाहिये यह सिद्धान्तवादियोंका मत है । और सूत्रपरिभाषित (सूत्रोक्त) अनुपयोग द्रव्यांशको लेकर सूत्रविरुद्ध चलनेवाले तार्किक (नैयायिक) के मतसे नोपर्यायपद भी सिद्ध होता है । यह हमारा मुख्यरूपसे निर्धारित सिद्धान्त है ॥ १५ ॥

एवमन्तर्गतानां स्यादुपदेशः कथं पृथक् ।
पञ्चभ्यो हि यथा सप्तस्वर्थभेदो मनाङ् न हि ॥१६॥

भावार्थ—इस प्रकारसे अन्तर्भूत द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयोंका पृथक् रूपसे उपदेश कैसे हो सकता है ? और यदि ऐसा कहो कि—मतान्तरमें पांच नय हैं, उनमें दो मिलाकर जैसे सात नय मानते हैं; उसी प्रकार हमारे इन नयोंका भी भिन्न उपदेश होगा सो नहीं क्योंकि—हम जो पांचसे भिन्न दो मानते हैं, उनमे विषयभेद है, और तुम्हारे दो नयोंमें किंचित् भी विषयभेद नहीं अतः भिन्न उपदेश नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

व्याख्या । एवमन्तर्गतानामन्तर्भाविताना द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाना नयानां पृथग्भिन्न उपदेश कथ कृतः स्यात् । यद्येव कथयत मतान्तरे पञ्च नया सन्ति तेषु द्वाविमौ मिलितौ सन्तौ नयसप्तकमिति व्यवहारो जायते तेन द्वयो. पृथगुपदेशस्तद्वदस्माकमपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयो पृथगुपदेशो भविष्यतीति चेन्न वक्तव्यम् । [illegible] यथा विषयभेदोऽस्ति तथैव द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोरपि सप्तनयेभ्यो भिन्नविषयत्व दर्शयत ।

किञ्च त्रयाणा नयानामेका सञ्ज्ञा सङ्गृह्य नयपञ्चक कथितमस्ति परन्तु विषयो भिन्नो वर्त्तते अत्र तु विषयो भिन्नो न वर्त्तते । पुनर्ये द्रव्यार्थिकनयस्य दश १० भेदा दर्शितास्ते सर्वेऽपि शुद्धाशुद्धसङ्ग्रहादिष्वन्तर्भवन्ति, ये च षड्भेदा पर्यायार्थिकनयस्य दर्शितास्ते सर्वेऽप्युपचरितानुपचरितव्यवहारशुद्धाशुद्धर्जुसूत्रादिष्वन्तर्भवन्ति । गोबलीवर्दन्यायेन विषयभेदे भिन्ननयत्व कथ्यते तर्हि स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव, इत्यादिसप्तभङ्गीमध्ये कोटि-प्रकारैरर्प्यर्पिता नर्पितसत्त्वासत्त्वग्राहकनयभेदेन भिन्नभिन्ननयवादेन च सप्तमूलनयप्रक्रिया बम्भज्यते । एतत्सुधीभिर्विमृश्यम् ॥१६॥

व्याख्यार्थः—पूर्वोक्त रीतिसे सात अथवा मत भेदसे पाँच नयोंमें अन्तर्भाव किये गये ऐसे द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नयोंका भिन्नरूपसे उपदेश (निरूपण) कैसे किया जावे ? अर्थात् सप्त या पंच नयसे भिन्न इनका कथन अयुक्त है; क्योंकि—उन्ही नैगम, संग्रहआदिमे इनका अन्तर्भाव है । कदाचित् ऐसा कहो कि—अन्यमतमें पाँच ही नय हैं; उन पाचमे समभिरूढ और एवंभूत इन दोनोको मिला देनेसे "सात नय" ऐसा व्यवहार होता है; जिससे समभिरूढ और एवंभूतका पृथक् उपदेश किया गया है, ऐसे ही हमारे भी द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक इन दोनो नयोंका भिन्नरूपतासे उपदेश होगा । सो ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि—जैसे शब्द समभिरूढ और एवंभूत नयोंके विषयभेद है, ऐसे ही आप भी द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिकके सातो नयोंसे विषयका भेद दिखलाओ ? और शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत इन तीनोंकी एक संज्ञाका संग्रह करके पंच नयका कथन किया है; परन्तु विषय भिन्न २ है, और द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिकका विषय सप्त नयसे भिन्न नहीं है, अर्थात् अभिन्न ही है । और शब्दआदिक नय तो भिन्नविषयक है, और जो द्रव्यार्थिकनयके दश १० भेद कहे गये है, वह सब भी शुद्धसंग्रह अशुद्धसंग्रहआदि-में अन्तर्गत हो जाते है; तथा जो पर्यायार्थिकनयके षट् ६ भेद दर्शाये गये है; वह भी सब उपचरितव्यवहार और अनुपचरितव्यवहार तथा शुद्ध और अशुद्ध ऋजुसूत्रनयमें अन्तर्भूत हो जाते हैं; और यदि "गोबलीवर्दन्याय (जो गो है, वही बलीवर्द (बैल) है, इस न्याय) से भिन्न विषय मानकर भिन्न नय कहते हो तो "स्यादस्त्येव" कथंचित् है; ही "स्यान्नास्त्येव" कथंचित् नही ही है; इत्यादि सप्तभंगीके मध्यमें कोटि (करोडों) प्रकारोंसे अर्पित, अनर्पित, सत्त्व तथा असत्त्वको ग्रहण करनेवाले नयोंके भेदोंसे और भिन्न २ नयके वाद (कथन) से जो सप्त मूलनय माने गये हैं, उनकी प्रक्रियाका सर्वथा भंग हो जायगा अर्थात् मूलनय सात हैं; यह सिद्धान्त न रहेगा यह विषय बुद्धिमानोंको विचारना चाहिये । तात्पर्य यह कि—गतार्थ विषयको भी यदि भिन्न मानकर नयके भेदकी कल्पना करते हो तो मूल नय सात ७ ही हैं; यह प्रक्रिया सर्वथा टूट जायगी ॥ १६ ॥

अब यदि विषयभेदेन नयभेदमङ्गीकरिष्यथ तदा सामान्यनैगमसंग्रहमध्ये, विशेष-

नैगमव्यवहारमध्ये, योजयता युष्माक षडेव नया निष्पत्स्यन्त इत्येतादृशीं पक्षकर्तुराशङ्का स्फोटयितु-श्लोकमाह ।

अब यदि विषयके भेदसे ही नयके भेदको अङ्गीकार करते हो तो सामान्य नैगमको संग्रहके मध्यमे और विशेष नैगमको व्यवहारनयके मध्यमे योजित करनेवाले तुम्हारे मतमें षट् ६ ही नय सिद्ध होते हैं; अर्थात् नैगमके सामान्य और विशेप यह दोनों भेद जब क्रमशः संग्रह तथा व्यवहारमे अन्तर्भूत हो जायेंगे तब नैगमनयका अभाव हो जानेसे छ (६) ही नय रह जायेंगे इस प्रकार पक्षकर्त्ताकी शंकाको दूर करनेकेलिये यह अग्रिम श्लोक कहते हैं ।

संग्रहाद्व्यवहाराच्च नैगमोऽपि पृथक्क्वचित् ।
तस्मादलग्नकस्ताभ्यां स एतौ तु पृथंग हि ॥१७॥

भावार्थः—संग्रह और व्यवहारनयसे तो नैगमनय कहीं भिन्न भी देखा जाता है, इसलिये संग्रह तथा व्यवहारसे असंलग्न विषयको धारण करनेवाला नैगम इन दोनोंसे पृथक् है, और द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक यह दोनों सप्त नयसे सर्वथा कहीं भी भिन्नविषयक नहीं है ॥ १७ ॥

व्याख्या । सग्रहेति-यद्यपि सग्रहनये व्यवहारनये च नैगमनयस्य सामान्यविशेषपर्यायावन्तर्भवतस्त-थापि सग्रहाद् व्यवहाराच्च क्वचित्प्रदेशादिदृष्टान्तस्थाने नैगमो भिन्नोऽपि भवति उक्त च-छण्ह तह पचण्ह पचविह तहय होइ भयाणिज्जो । तम्मिय सोयण्णसो सोचेव पायेव सत्तण्ह । १ । इत्यादि । तस्मात् क्वापि भिन्नविषयत्वान्नैगमनयोऽपि ताभ्या भिन्न प्रतिपादित । तु पुन एतौ द्वौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ पृथक् भिन्नौ स्थितौ नैगमादिनयेभ्यो न हि सभवत । अभिन्नविषयत्वात् तेभ्यो वियोज्य नवभेदादेशान्तर' किमु कथ्यत इति ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थः—यद्यपि संग्रहनय तथा व्यवहारनयमे नैगमके सामान्य और विशेष यह दोनों पर्याय अन्तर्भूत हो जाते हैं, तथापि कहीं कहीं प्रदेशादि दृष्टान्त स्थानमे संग्रह तथा व्यवहार नयसे नैगम भिन्नविषयक भी होता है । ऐसा कहा भी है ॥

इस कारणसे कहीं भिन्न विषय होनेसे नैगमनयका भी उन दोनों संग्रह और व्यवहारनयोंसे भिंन्न प्रतिपादन किया गया है । और यह द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक तो नैगमसंग्रहआदि नयोंसे भिन्न विषयके धारक नहीं सभव होते क्योंकि-यह सप्त नयोंसे अभिन्नविषय है; अतः उन सातोंसे भिन्नकरके सप्त नय भेदके स्थानमे नयोंके नौ ९ भेद हैं, ऐसा भिन्न आदेश कैसे कहते हो ॥ १७ ॥

पुनरेनमर्थं प्रतिदिशन्नाह ।

अब पुनः इस अर्थका उपदेश करते हुए कहते हैं ।

कुर्वन्नेवं समाप्नोति विभक्तस्य विभाजनम् ।
जीवादिवन्न चैवात्र प्रयोजननियोजनम् ॥ १८ ॥

भावार्थः—इस प्रकारसे विभाग किये हुये पदार्थका पुनः विभाग प्राप्त होता है, परन्तु यहां जीवआदिके सदृश विभागके प्रयोजनकी नियोजना नहीं है ॥ १८ ॥

व्याख्या। एवमनया रीत्या नव ९ नयान् कुर्वन् रचयन् विभक्तस्य विभागीकृतस्य विभाजन विभागकरण समाप्नोति। विभक्ताना विभागो जायत इत्यर्थ। तदा जीवादिवत् जीवा द्विधा समारिणो मुक्ताश्च ससारिण पृथिवीकयिकादिषड्भेदा, सिद्धा पञ्चदशभेदा एतद्वन्नया अपि द्विधा द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकभेदा द्रव्यार्थिकस्त्रिधा नैगमादिभेदात्, ऋजुसूत्रादिभेदाच्चतुर्धा पर्यायार्थिका इत्थ कथयितु युक्त परन्तु नव नया इत्येकवाक्यताया विभागो विहित स तु सर्वथापि मिथ्या ज्ञातव्य। अन्यथा तु जीवा ससारिण सिद्धा इत्यादि विभागवाक्यमपि भवितुमर्हति। तथैव द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ नयावित्यपि कथयता अन्ये नया आगता स्युस्तथापि वय स्वप्रक्रियानयेन नव नया इति कथयिष्याम इतीत्थ वा दिनामेव प्रतीपादनीयम् यथा—अत्र प्रयोजननियोजन जीवा जीवादिवन्नास्ति भिन्नानि भिन्नानि तत्त्वानि व्यवहारमात्रेण साध्यानि तानि च तथैव सम्भवन्ति अत्र त्वितरव्यावृत्तिसाध्यानि तत्र च हेतुकोटिना अनपेक्षितभेदप्रवेशेन वैयर्थ्यदोषो जायते तत्त्वप्रक्रियया इद प्रयोजनमस्ति जीवस्तथा अजीवश्चैतौ द्वौ मुख्यौ ज्ञेयौ पदार्थौ कथनीयौ बन्धमोक्षौ मुख्यतया हेयोपादेयौ च कथनीयौ तस्माद्बन्धकारणत हेय आस्रव, तथा मोक्षो मुख्यपदार्थोऽस्ति। ततस्तस्य च द्वे कारणे सवरनिर्जराख्ये कथनीये इति सप्ततत्त्वकथनप्रयोजनप्रक्रिया। पुण्यपापरूपशुभाशुभ—बन्धभेदव्यक्तिं दूरे कृत्वा अनयैव प्रक्रियया नवतत्त्वानीति ध्येयम्। अत्र तु द्रव्यार्थिकनयेन भिन्नोपदेशस्य किमपि प्रयोजन नास्तीति ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थः—इस पूर्वोक्त रीतिसे नव ९ नयोंको रचना करते हुये आपको विभक्त अर्थात् एक वार विभाग कियेहुये पदार्थोंका पुनः विभाग करना प्राप्त होता है; तब जीवा—दिके सदृश अर्थात् जैसे प्रथम द्रव्यके जीव तथा अजीव इस प्रकार दो विभाग करके पुनः जीवके संसारी और मुक्त ऐसे दो भेद किये और फिर संसारी पृथिवीकायिक आदि छ भेदके धारक तथा सिद्ध पन्दरह भेदवाले द्योतित किये इसी प्रकारसे यह भी द्रव्या—र्थिक और पर्यायार्थिक भेदसे दो प्रकारके हैं, उनमें नैगमआदि भेदोंसे द्रव्यार्थिक तीन प्रकारका है; और ऋजुसूत्रआदि भेदोसे चार प्रकारका पर्यायार्थिक है, ऐसा कहना योग्य है; परन्तु नय नव हैं; इस प्रकार जो एकवाक्यतामें विभाग किया है; वह विभाग तो सर्वथा मिथ्या जानना चाहिये। और यदि ऐसा ही विभाग करो तब तो जीव, संसारी सिद्ध इत्यादि रीतिसे भी विभागवाक्य हो सकता है; अर्थात् जैसे द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकके भेदोंमें द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकको मिलाकर नव नयोंका कथन किया इसी प्रकार जीवके संसारी और मुक्त इन दोनों भेदोंमें जीवको भी योजित करके जीव, संसारी, सिद्ध ऐसे

तीन भेद कहने चाहिये "जैसे जीव और अजीवके कहनेसे आस्रवआदि तत्त्वोंका ग्रहण सिद्ध है, वैसे ही द्रव्यार्थिक ओर पर्यायार्थिक इन दोनोंके कथनसे अन्य नैगमादि सब नयोंका ग्रहण हो जावे परन्तु तो भी जैसे आस्रवआदिक भिन्न कहे हैं; उसी प्रकार हम हमारी नय प्रक्रियासे नय नव ९ है ऐसा कहेंगे" इस प्रकार कहनेवालोंके प्रति ऐसा कहना चाहिये कि—यहांपर जीव अजीवआदिके समान तुम्हारे प्रयोजनकी नियोजना नहीं है; क्योंकि—व्यवहारमात्रसे भिन्न २ तत्त्व साध्य होते हैं, ओर जो आश्रवादिक भिन्न तत्त्व कहे गये हैं, वह भी व्यवहारमात्रसे ही कहे हैं, ओर नयके विषयमें तो एक नयसे दूसरेका किसी प्रकार भेद सिद्ध हो तब भिन्न नयकी सिद्धि हो उसमे यदि हेतुकोटिसे अनपेक्षित भेदका प्रवेश हो तो वैयर्थ्य दोष होता है, तात्पर्य यह कि—जिस भेदमे प्रबल हेतु न दिया जाय तो वह भेद व्यर्थ ही है; और तत्त्वप्रक्रियामे जो जीव, अजीव इन दोनोंमे ही सब तत्त्वोके गतार्थ होनेपर जो सप्त तत्त्व निरूपण किये हैं, उनमे तो यह निम्नलिखित प्रयोजन है, कि—जीव और अजीव यह दो ही मुख्य द्रव्य हैं, अर्थात् इन्हीं दोनोंको मुख्य पदार्थ कहना तथा समझना चाहिये और बन्धको हेय (त्याग करने योग्य) तथा मोक्षको उपादेय (ग्रहण करने योग्य) रूपसे कहना चाहिये ओर आश्रव है, सो बन्धका कारण है, इसलिये आश्रवको भी हेयरूपसे कहना चाहिये और मोक्ष मुख्य पदार्थ है, क्योंकि—उसीकेलिये सब पदार्थोंका निरूपण है, और वही उपादेय है, इस कारण उस मोक्षके संवर और निर्जरा इन दोनों कारणोंका कथन करना चाहिये इस रीतिसे जीव अजीव आश्रव बध संवर निर्जरा और मोक्ष इन सप्ततत्त्वोंके कथनकी प्रयोजनवाली प्रक्रिया है, और इसी प्रक्रियासे शुभ अशुभ बंधके कारण पुण्य पापको भी भिन्न करके कहनेसे नव तत्त्व हो जाते हैं, ऐसा समझना चाहिये। ओर यहाँ द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नयसे नैगम-आदिको भिन्न उपदेश करनेका कोई भी प्रयोजन नहीं है ॥ १८ ॥

अभिन्नकारणाः सूत्रे नयाः सप्तैव कीर्त्तिताः ।
उच्यते तत्कथं वाक्यमधिकं सूत्रवर्ज्जितम् ॥ १९ ॥

भावार्थः—सूत्रमे अभिन्नकारण सात ही नय दर्शाये गये है; इसलिये तुम सूत्रवर्जित अधिक वाक्य कैसे कहते हो ॥ १९ ॥

व्याख्या । तस्मात्कारणात्सूत्रे नया अभिन्नकारणा सप्तैव कथिता. तद्यथ सूत्रम् "सत्तमूल नया पणत्ता" एतादृशसूत्रे कथितमस्ति तद्वाक्य सूत्रसदृशमुल्लङ्घ्याधिक नव नया इति वाक्य कथमुच्यते स्वसूत्रपरिरक्षणार्थं यथोक्तमेव न्याय्यम् । इत्थ परिचिंत्य केषाचिद्वाक्यसङ्कुलनामनादृत्य श्रीवीतरागभाषितवचनरचनापवित्रे सूत्रे बुद्धिरारोपणीया स्वसम्यक्त्वशुद्धिससिद्धिवृद्धये ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थः—इस कारण भिन्नकारणशून्य सात ही नय सूत्रमे कहे गये हैं; वह

सूत्र यह है; जैसे "मूलनय सात ही हैं" इस प्रकार सूत्रमें स्पष्टरूपसे कहा गया है; सो उस सूत्र जैसे वाक्यका उल्लंघन करके सप्तसे अधिक अर्थात् नय नव हैं; ऐसा वाक्य कैसे अथवा किस आधारसे कहते हो। इसलिये अपने सूत्रकी रक्षाकेलिये यथोक्त (सप्तनय)का ही कथन करना योग्य है, ऐसा विचार करके जिस किसीकी वाक्य रचनाका अनादर कर बुद्धिमान् पुरुषोंको अपने शुद्ध सम्यक्त्वकी सिद्धिके अर्थ अथवा सम्यक्त्वकी वृद्धिकेलिये श्रीवीतरागभाषित वचनोंकी रचनासे पवित्र ऐसा जो सूत्र है; उसीमे बुद्धिको लगाना चाहिये ॥ १९ ॥

अथ साक्षिण दर्शयति ।

अब साक्षीको दिखलाते हैं।

दश भेदादिकाश्चात्र सन्ति युक्तोपलक्षणाः ।
न चेदन्तर्भवेत्कुत्र प्रदेशार्थनयो वद ॥ २० ॥

भावार्थः—और द्रव्यार्थिकआदिके जो दश भेद वगैरह देवसेनजीने कहे हैं; वह भी उपलक्षणमात्र है। यदि उपलक्षणमात्र न माने तो कहो प्रदेशार्थनयका किसमें अन्तर्भाव होवे ॥ २० ॥

व्याख्या। अत्र देवसेनरचितनयचक्रग्रन्थे द्रव्यार्थिकादिदश १० भेदा उपदिष्टास्ते चोपलक्षणत्वेन ज्ञातव्या। यद्येवं न क्रियते तर्हि प्रदेशार्थनय कस्मिन् स्थाने चरितार्थो भवेदित्य विचारणीयम्। दशभेदादिका अत्र देवसेनीये ग्रन्थे युक्तोपलक्षणा, उपलक्षणमात्रपरा. सन्ति चेद्येव ते कुत्र न तर्हि प्रदेशार्थनयोऽपि कुत्रान्तर्भवेदिति वद। उक्त च सूत्रे "दट्ठियाए पदेसट्ठियाए दव्वट्ठय पदेसट्ठय" इत्यादि। तथा कर्मोपाधिसापेक्षजीवभावग्राहकद्रव्यार्थिको यथोपदिष्टस्तथा जीवसयोगसापेक्षपुद्गलभावग्राहकनयोऽपि भिन्नतया कथयितु योग्य एव। एवं मत्यनेके भेदा भवन्ति तथा प्रस्थकादिदृष्टान्तेन नैगमादीनामशुद्ध १ अशुद्धतर २ अशुद्धतम ३ शुद्ध ४ शुद्धतर ५ शुद्धतमादिभेदा भवन्ति ते भेदा कुत्र संगृह्यन्ते। तेषा सङ्ग्रहार्थमुपचारो विहितस्तत उपचारेण ते उपनया भवन्तीति यदि कथ्यते तदापसिद्धान्तो भवेत्। अनुयोगद्वारे ते नयभेदा प्रदर्शिता सन्ति तत एतदेव दृढीक्रियते उपनयाः कथिता ये सन्ति ते व्यवहार-नैगमादिभ्य पृथग् न सन्ति उक्त च तत्त्वार्थसूत्रे व्यवहारलक्षण "उपचारबहुलो विस्तृतार्थो लौकिकप्रायो व्यवहार" इति ॥ २० ॥

व्याख्यार्थः—इस देवसेनजीरचित नयचक्रनामक ग्रन्थमें जो द्रव्यार्थिकआदि दश भेद द्रव्यार्थिक नयके कहे हैं; उनको उप[1]लक्षणपनेसे जानने चाहियें अर्थात् यह भेद

[1] निजका तथा निजके समीपस्थ तथा अपने सबन्धीका भी बोध करनेवाला शब्द, जैसे "काकेभ्यो दधि रक्षताम्" यहांपर काकपद दधिके उपघातक (नाश करनेवाले) श्वान मार्जारआदिका उपलक्षण है, न कि यह कि काकोंसे दधिकी रक्षाकरो और विल्ली कुत्ते आवें तो खानें दो।

दिग्दर्शनमात्र है, इनसे अधिक और भी भेद होते हैं। और यदि उन दशको उपलक्षणमात्र नहीं करे तो प्रदेशार्थनय किस स्थानमे चरितार्थ (अन्तर्भूत) हो यह विचारना चाहिये तथा यदि इस देवसेनजीके ग्रन्थमे दश भेद उपलक्षणसहित न हों तो प्रदेशार्थनयका किस नयमे अन्तर्भाव होता है, यह कहो। पुनः इस प्रदेशार्थनयका वर्णन सूत्रमे भी है, जैसे "द्रव्यार्थिकप्रदेशार्थनय" इत्यादि। तथा जैसे कर्मरूप उपाधिकी अपेक्षा रखनेवाले जीवभावको ग्रहण करानेवाला द्रव्यार्थिकनयका उपदेश किया है, इसी रीतिसे जीवके संयोगकी अपेक्षाका धारक जो पुद्गलभाव है, उसका ग्रहण करानेवाला नय भी भिन्नरूपतासे कथन करनेके योग्य ही है, और जब जीवसयोगापेक्षपुद्गलभावग्राहक नय माना जायगा तब इसी प्रकार अन्य भी अनेक नय होंगे। और प्रस्थकआदि दृष्टान्तसे नैगमआदि नयोंके अशुद्ध १ अशुद्धतर २ अशुद्धतम ३ शुद्ध ४ शुद्धतर ५ और शुद्धतमआदि जो अनेक भेद होते है, उन भेदोंका संग्रह कहा किया जायगा अर्थात् तुमको उपलक्षणमात्र ही इन दश भेदोको मानना चाहिये अन्यथा पूर्वोक्त भेदोंका संग्रह न होगा। अब यदि ऐसा कहो कि—"इन पूर्वोक्त भेदोंके संग्रहके अर्थ हमने उपचार किया है, और इसी कारण उपचारसे वह उपनय होते हैं" तो अपसिद्धान्त होगा अर्थात् सिद्धान्तकी हानि होगी। क्योंकि—अनुयोगद्वारमे उनको नयोंके भेद दिखलाये गये है। इसलिये यही पक्ष दृढ किया जाता है, कि—जो उपनय कहे गये हैं; वह नहीं हैं, अर्थात् व्यवहार नैगमआदि नयोंसे जुदे नहीं हैं, और तत्वार्थसूत्रमें व्यवहारका लक्षण भी यही कहा है, कि–जो बहुधा उपचारसे पूर्ण हो अर्थात् जिसमे उपचार अधिक हो वह तथा संक्षिप्त अक्षरोंमे विस्तारसहित अर्थका धारक हो और प्रायः लौकिक हो वह व्यवहार है ॥२०॥

व्यवहारे समायान्ति तथैवोपनया अपि ।
न चेत्प्रमाणमप्यत्रोपप्रमाणत्वमाश्रयेत् ॥२१॥

भावार्थः—और वह उपनय भी व्यवहारमे ही गर्भित हो जाते हैं। यदि ऐसा न हो तो प्रमाण भी उपप्रमाणताका आश्रय करे ॥२१॥

व्याख्या। एव सति नयभेदान् यद्युपनयान् कृत्वा मनुते तर्हि स्वपरव्यवसायिज्ञान प्रमाणमित्येतल्लक्षणेन लक्षितस्य ज्ञानरूपप्रमाणस्याप्येकदेशो मत्यादिरथवा तद्देशोऽवग्रहादिः सोऽप्युपप्रमाणमिति पृथग्भेदो भविष्यति। तस्मान्नयोपनयप्रक्रिया शिष्याणा बुद्धिप्रबन्धनमात्रेव ज्ञातव्या ॥ २१ ॥

निश्चयाद्व्यवहारेण कोपचारविशेषता ।
मुख्यवृत्तिर्यदेकस्य तदान्यस्योपचारता ॥२२॥

भावार्थः—निश्चयनयसे व्यवहारनयमें उपचारकी विशेषता क्या है ? इसका उत्तर यह है; कि-जब एककी मुख्यता होती है, तब अन्य (दूसरे) की उपचारता होती है ॥२२॥

व्याख्या । निश्चयात् निश्चयनयात् व्यवहारेण सहोपचारविशेषता कास्ति । व्यवहारविषय उपचारोऽस्ति निश्चय उपचारो नास्त्येतावद्विशेषता । यदैकनयस्य मुख्यवृत्तिर्गृह्यते तदा परनयस्योपचारवृत्तिरायाति । रत्नाकरवाक्ये स्याद्वादरत्नाकरे च प्रसिद्धमस्ति "स्वस्वार्थसत्यत्वस्याभिमानोऽखिलनयानामन्योन्य वर्त्तते फलात्सत्यत्व तु सम्यग्दर्शनयोग एवास्ति" । एव च प्रकृतमर्थं व्याख्यायते । निश्चयनयाद् व्यवहार-नयेन सहोपचारविशेषता कास्ति योपचारविशेषता वर्त्तते ता दर्शयति । यदैकस्य कस्यचिन्नयस्य मुख्यता मुख्यभावो वर्त्तते तदान्यस्यान्यनयस्य उपचारता गौणत्व भवतीति ज्ञेयम् । यथा हि निश्चयेनात्मेति शब्द एतस्य निश्चयार्थस्तु "असख्यातप्रदेशी निरञ्जनोऽनन्तज्ञानादिगुणोपेतो नित्यो विभु कर्मदोषैरसङ्कृत सिद्ध इव देह उपलभ्यते" तदास्य व्यवहारेणौपाधिकस्य जडशरीरादे सङ्कृनस्यौदयिकादिभावोपगतनरनैरयकादिभावस्पर्शतोऽपि गौणत्वं भासते । —अथ च "अतति सातत्येन गच्छति तास्तान्पर्यायानित्यात्मा" ससारस्थो देहादिसङ्कृतो जन्ममरणजरायौवनादिक्लेशमनुभवमान प्रत्यक्षप्रमाणेन व्यवहारादेशाद्देवो मनुष्यो नारकस्तिर्यङ् च कथ्यते तत्र सिद्धत्वस्य गौणत्वम् ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थः—निश्चयनयसे व्यवहारनयके साथ उपचारकी विशेषता क्या है ? इस जिज्ञासा(जाननेकी इच्छा)में कहते है, कि—व्यवहारनयके विशेष उपचार है, और निश्चय-नयमे उपचार नहीं है, इतनी ही विशेषता है; अर्थात् जब एक नयकी मुख्य अर्थमें शक्ति रहती है तब अन्यनयकी उपचारवृत्ति स्वयं आती है। और यह वार्त्ता रत्नाकरवाक्यमें तथा स्याद्वादरत्नाकरमे प्रसिद्ध है। जैसे "अपने २ अर्थकी सत्यताका अभिमान सब नयोके परस्पर रहता है; और उन नयोके फलसे सत्यता तो सम्यग्दर्शनके संयोगके होनेपर ही होती है;" जब ऐसा सिद्धान्त है; तब इस प्रकृत अर्थका इस प्रकार व्याख्यान होता है; कि-"निश्चयनयसे व्यवहारनयके साथ उपचार विशेषता क्या है ? जो उपचारविशेषपना है, उसको दिखाते है। जब किसी एक नय की मुख्यता रहती है, तब अन्य (दूसरे) नयकी उपचारता रहती है, तात्पर्य यह कि-एक नय प्रधानभावसे जब रहेगा तब अन्य गौणत्व (अप्रधानपने) रूपसे आप ही रहेगा, यह गौणत्ववृत्ति होना ही उपचारता है; ऐसा समझना चाहिये। उदाहरणकेलिये जैसे निश्चयनयसे "आत्मा" यह शब्द है; तब इस आत्माका निश्चयनयसे अर्थ असंख्यात-प्रदेशोंका धारक, निरंजन, अनंत ज्ञानआदि गुणोंसे सहित, नित्य, विभु (व्यापक) और कर्मोंसे उत्पन्न जो दोष हैं; उनसे रहित सिद्धके सदृश आत्मा ही देहमे जाना जाता है। उन निश्चयार्थदशामें यद्यपि व्यवहारसे औपाधिक जो जड़ पदार्थ शरीरआदि है, उनके

सहित तथा औदयिकआदि भावोंसे प्राप्त जो नर नारकी, और तिर्यञ्चआदिपना है; उसको स्पर्शताहुआ भी जो आत्मा है; उसका गौणत्व भासता है। और जब "अतति इति आत्मा" अर्थात् जो निरन्तर उन उन पर्यायोंके प्रति गमन करता है; अथवा निरन्तर उन उन पर्यायोको प्राप्त होता है; वह आत्मा है; ऐसा व्यवहारसे अर्थ करते हैं, तब यह आत्मा संसारी है, देहआदिकसे सहित है, जन्म, मरण, वृद्धावस्था, और यौवनआदिक दशाओंमे जो दुःख होता है, उसको प्रत्यक्ष प्रमाणसे अनुभवकरताहुआ देव है, मनुष्य है, नारकी है, और तिर्यञ्च है, इत्यादिरूपसे कहा जाता है। उस व्यवहारदशामे इसका निश्चयोक्त अनन्त गुणादिसहित जो सिद्धपना है, उसकी गौणता भासती है ॥२२॥

अथ पुनस्तदेव प्रतिपादयति।

अब फिर उसी विषयका प्रतिपादन करते हैं।

तेनेदं भाष्यसंदिष्टं गृहीतव्यं विनिश्चयम्।
तत्त्वार्थं निश्चयो वक्ति व्यवहारो जनोदितम् ॥२३॥

भावार्थः—इस कारण भाष्यमें कहाहुआ जो यह विनिश्चय है,—"निश्चियनय तत्त्वार्थको कहता है, और व्यवहारनय केवल मनुष्योंसे कहेहुएको ही कहता है" इसको स्वीकार करना चाहिये ॥ २३ ॥

व्याख्या। तेन कारणेनेद विनिश्चय निश्चयव्यवहारयोर्लक्षण भाष्यसंदिष्ट विशेपावश्यक निरूपितं गृहीतव्यमवधारणीयम्। अथ निश्चयव्यवहारयोर्लक्षणमाह। निश्चयो निश्चयनय. तत्त्वार्थ युक्तिसिद्धमर्थं वक्ति कथयति। पुनर्व्यवहारो व्यवहारनयो जनोदित लोकाभिग्राहित्व वक्ति यतो लोकाभिमतमेव व्यवहारस्तस्य ग्राहक प्रमाण न भवति। प्रमाण तु तत्त्वार्थग्राहकमेवास्ति तथापि प्रमाणस्य सकलतत्त्वार्थग्राही निश्चयनय, एकदेशतत्त्वार्थग्राही व्यवहारश्चाय विवेक। निश्चयनयस्य विपयत्वमथ च व्यवहारनयस्य विपयत्वमनुभवसिद्ध भिन्नमेवास्ते। असता न निष्ठेति। यथा सविकल्पकज्ञान नष्टप्रकारतादिकमन्यवादिनो भिन्नमेवामनन्तीति हृदये विमर्शनीयम् ॥२३॥

व्याख्यार्थः—इस कारणसे भाष्य अर्थात् विशेपावश्यकमे कहा हुआ जो यह विनिश्चय अर्थात् निश्चय और व्यवहारका लक्षण है, उसको निश्चित करना चाहिये। अब जो निश्चय और व्यवहारका लक्षण भाष्यमे कहाहुआ है; उसका कथन करते हैं, कि—निश्चय नय जो है, वह तो तत्त्वार्थ अर्थात् युक्तिसे सिद्ध अर्थको कहता है, और व्यवहारनय जो है, वह जनोदित अर्थात् लोकके इष्ट जो ग्रहण है, उसको कहता है, क्योंकि—लोकके ही जो अभिमत होता है, वह व्यवहार है। इसलिये उस व्यवहारका जो ग्राहक (ग्रहण करनेवाला है; वह प्रमाण नहीं होता, किन्तु जो तत्त्वार्थका ग्राहक होता है, वही प्रमाण होता है, तथापि प्रमाणके संपूर्ण तत्त्वार्थको ग्रहण करानेवाला निश्चयनय है, और प्रमा-

णके एकदेश तत्त्वार्थको जो ग्रहण करता है, वह व्यवहार कहलाता है, यह निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयोंका विवेक है। और निश्चयनयका विषय तथा व्यवहारनयका विषय तो भिन्न ही हैं, यह अनुभवसे सिद्ध है। और व्यवहारग्राहक प्रमाण असत् है, इससे उसकी निष्ठा (उत्पत्ति) नही है, ऐसा नहीं क्योकि-जैसे अन्यवादी सविकल्पक ज्ञानको और निर्विकल्पकको भिन्न ही मानते हैं, उसी प्रकार निश्चय और व्यवहार है, ऐसा हृदयमे विचारना चाहिये ॥ २३ ॥

अथोपचार निर्दिशति ।

अब उपचारका निर्देश करते हैं।

बाह्यस्याभ्यन्तरत्वं यद्बहुव्यक्तेरभेदता ।
यच्च द्रव्यस्य नैर्मल्यमिति निश्चयगोचराः ॥ २४ ॥

भावार्थः—जो बाह्य पदार्थका अन्तरंगत्व है, जो अनेकव्यक्तिगत अभेदता है, और जो द्रव्यकी निर्मलता है, सो सब निश्चयनयका विषय है ॥ २४ ॥

व्याख्या। यद्बाह्यस्य बाह्यार्थस्याभ्यन्तरत्वमन्तरङ्गत्व वर्त्तते तदपि गोचर निश्चयविषयमित्यर्थ यथा "समाधिर्नन्दन धैर्यो दम्भोलि समता सभा। ज्ञान महाविमान च वासरश्रीरिय पुन ॥ १ ॥" इत्यादि पुण्डरीकाध्ययनाद्यर्थोऽप्येव भावनीय । अथ पुनर्बहुव्यक्तेरनेकविशेषस्याभेदता भेदराहित्य तदपि निश्चयविषय यथा "एगे आया" इत्यादिसूत्रम्, तथा वेदान्तदर्शनमपि शुद्धसङ्ग्रहनयादेशरूप शुद्धनिश्चयनयार्थं सम्मतिग्रन्थे कथित । तथा पुनर्द्रव्यस्य पदार्थस्य नैर्मल्य तदपि निश्चयविषयम् । नैर्मल्य तु विमलपरिणतिर्बाह्यनिर–पेक्षपरिणामस्सोऽपि निश्चयनयार्थो बोद्धव्य । यथा "आयासामाइए आयासामाइयस्स अट्ठे" एवमेतेऽभ्यन्तर–त्वादयो निश्चयगोचरा एव यथा यया रीत्या लोकातिक्रान्तोऽर्थोऽवाप्यते तथा तया रीत्या निश्चयनयस्य भेदा भवन्ति तस्माच्च लोकोत्तरार्थभावना समायातीति ज्ञेयम् ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थः—जो बाह्य पदार्थका आभ्यन्तरत्व अर्थात् अन्तरंगपना है, वह निश्चय नयका विषय है, जेसे समाधि, नंदनवन, दंभोलि (वज्र) समता सभाज्ञान महाविमान और यह वासरश्री अर्थात् दिनकी शोभा । १ । इत्यादि पुण्डरीकाध्ययनार्थ भी इसी प्रकार विचारना चाहिये। और बहुव्यक्तिगत जो अनेक विशेष हैं, उनकी अभेदता (भेद–रहितपना) जो है, वह भी निश्चयनयका विषय है, जैसे "एगे आया" इत्यादि सूत्र है। इसी प्रकार वेदान्तदर्शन भी शुद्धसङ्ग्रहनयका आदेशरूप होनेसे शुद्धनिश्चयनयका अर्थरूप संमति ग्रन्थमे कहा है। और जो द्रव्य अर्थात् पदार्थकी निर्मलता है, वह भी निश्चयनयका विषय है, यहाँपर नैर्मल्य शब्दका अर्थ निर्मल परिणाम अर्थात् बाह्य निरपेक्षा न रखनेवाला जो द्रव्यका परिणाम है, वह भी निश्चयनयका ही अर्थ (विषय) समझना चाहिये, जैसे "**आया सामाइय आया सामाइयस्स अट्ठे**" इत्यादि । इस

प्रकार यह पूर्वोक्त अभ्यन्तरत्वआदि निश्चयनयके ही विषय हैं। और जिस रीतिसे लोकोत्तर अर्थ प्राप्त होता है; उसी प्रकारसे निश्चयनयके भेद होते हैं, और इस हेतुसे लोकोत्तर अर्थकी भावना प्राप्त होती है। ऐसा जानना चाहिये ॥ २४ ॥

अथ व्यवहारविषयं दर्शयति ।

अब व्यवहारनयके विषयको दर्शाते हैं।

यो हि भेदो भवेद्व्यक्तेर्यश्चैवोत्कटपर्ययः ।
कार्यकारणयोरैक्यमिति व्यवहृतेर्विधाः ॥ २५ ॥

भावार्थः—जो व्यक्तिका भेद होता है, जो उत्कट पर्याय है, तथा जो कार्य और कारणकी एकता है; सो सब व्यवहारके भेद हैं ॥ २५ ॥

व्याख्या । हि निश्चित यो भेदो व्यक्तेर्भवेद् स च व्यवहारभेदो ज्ञेय । यथा अनेकानि द्रव्याणि, अनेके जीवा, इत्यादि प्रकारेण व्यवहारनयार्थं । तथा च पुनरेव निश्चयनय उत्कटपर्यव उद्धतपर्याय सोऽपि व्यवहारनयस्य भेद । अत एव "निच्छयणण्ण पचवण्णे भमरे वयहारणएण कालवण्णे" इत्यादिसिद्धान्ते प्रसिद्ध उत्कटपर्यायोऽपि व्यवहार । तथा च कार्यकारणयोर्निमित्ती निमित्तश्च एतयोरथैक्य यद्भवति तदेवापि व्यवहारविषयम् । यथा हि आयुर्घृतमित्यादि, यथा व गिरिर्दह्यते, यथा वा कुण्डिका स्रवति, मञ्चाः क्रोशन्ति, कुन्ता प्रविशन्ति, गङ्गाया घोष इत्यादिव्यवहारभाषा अनेकरूपा वर्त्तते। सा च सर्वापि व्यवहारनयविषयिणी ज्ञेया। इति किं यो व्यक्तेर्भेद, य पुनरुत्कटपर्यंव यदपि कार्यकारणयोरैक्यम , इत्यादि व्यवहृतेर्व्यवहारस्य विधा प्रकारा इत्यर्थ ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थः—जो व्यक्तिका भेद होता है; उसको निश्चयरूपसे व्यवहारका भेद जानना चाहिये, जैसे अनेक द्रव्य है, अनेक जीव है, इत्यादि रीतिसे व्यवहारनयका अर्थ है, और फिर जो निश्चयनयमे उद्धत पर्याय है, सो भी व्यवहारनयका भेद है। इसी हेतुसे ऐसा कहा भी है, कि–निश्चयनयसे भ्रमर (भवरा) पंचवर्ण अर्थात् पाच रंगका है, और व्यवहारनयसे केवल कृष्णवर्ण (काले रगका)ही है, इत्यादि रीतिसे सिद्धान्तमे प्रसिद्ध जो उत्कट पर्याय है, वह भी व्यवहारनयका भेद है। और फिर कार्य कारण अर्थात् निमित्ती और निमित्तकी जो एकता है, वह भी व्यवहारनयका विषय है, जैसे आयु घृत है, यहा घृतरूप जो आयुका कारण है, उसमें आयुरूपता मानी है, अथवा जैसे पर्वत जलता है, 'कुंडी करती है' 'मंच (माचे) शब्द करते हैं' 'भाले घुसते हैं' 'गंगामें घोष (अहीरोका ग्राम) है' इत्यादि जो अनेकरूप व्यवहारभाषा (व्यवहारमें कहनेकी परिपाटी) है, वह व्यवहारनयके विषयको धारण करनेवाली ही जाननी चाहिये। तात्पर्य यह है, कि–जो व्यक्तिका भेद है, और जो उत्कट पर्याय है, तथा जो कार्य कारणकी एकता है, इत्यादि यह सब व्यवहारनयके भेद हैं ॥ २५ ॥

अत्र प्रपञ्चितस्य संक्षेपमाह ।

अब जो पूर्वोक्त प्रपंच है, उसको संक्षेपसे कहते हैं।

इत्याद्यनेकविषयांश्च नयान्विहाय
संक्षिप्य तांश्च वचसाप्यधिकान्विधाय ।
बालावबोधनकृते किल देवसेन-
स्तत्प्रपञ्चनमचीकरदाप्तशून्यम् ॥ २६ ॥

भावार्थः—इत्यादि अनेक विषयोंको धारण करनेवाले निश्चय व्यवहारआदि नयोंको त्यागकर और फिर उनको ही उपचारसे संक्षिप्तकर और सूत्रवाक्यसे भी अधिक नयोंको अपनी बुद्धिसे करके मंदबुद्धियोंको वंचने(ठगने)केलिये देवसेनजीने आप्त-शून्य इस प्रपंचको किया है ॥ २६ ॥

व्याख्या । इत्याद्यनेकविषयान् अनेके भूयासो विषया गोचरा अर्था वा एषान्तेऽनेकविषयास्तान-नेकविषयान् नयान् न्यायान् निश्चयव्यवहारात्मकान् विहाय त्यक्त्वा च पुनस्तानेव नयान् सक्षिप्य सक्षेपं कृत्वा उपचारपदेन संकोचयित्वा अपि पुनर्वचमा वचनान्तरेण अधिकान् अतिरेकान् विधाय रचयित्वा सूत्रे सप्त नया आदेशान्तरेण पञ्च नयास्तत्र च 'नव नया' इत्याधिक्य कृत्वा बालावबोधनकृते बालाना मन्दमतिनामवबोधन प्रतारण "अववोधन प्रतारणे वचने शिक्षणे चेत्यनेकार्थात्" मंदमतिवञ्चनकृते प्रतार-णार्थाय किल इत्यसत्ये "सत्येऽलीके भावनाया निश्चयेऽपि किल स्मृतमिति" देवसेनो नयचक्रग्रन्थनिर्मायको दिगम्बरमताग्रणी एतत् प्रागुक्तं प्रपञ्चनं नयविस्तारण अचीकरत् चकार। कीदृगचीकरत् आप्तशून्यं आप्तोवीतरागस्तस्य वाक्य सिद्धान्तस्तेन शून्यं वर्जितम्, आप्तशून्यमिति मध्यमपदलोपी समास. आप्तवाक्येन शून्यमाप्तशून्यं स्वमत्या असंभावित विरचय्य लोके ग्रन्थगौरवो दर्शित इति ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थः—इत्यादि बहुतसे गोचर अथवा अर्थोंके धारक निश्चय और व्यवहार स्वरूप नयोंको छोडकर और फिर उन्ही नयोका संक्षेप करके अर्थात् उपचारपदसे संकोच करके पुनः वचनान्तरसे अधिक नयोकी रचना करके अर्थात् सूत्रमें सप्त नय हैं; और मतातरसे पाच नय हैं; वहापर अर्थात् सात तथा पॉच नयोके स्थानमे "नय नव हैं" ऐसी अधिकता करके मंदबुद्धियोंको वंचनेकेलिये अवबोधन शब्द प्रतारण वंचन तथा शिक्षणआदि अनेकार्थका वाची है, इसलिये सूत्रमें जो अवबोधन शब्द है, उसका यहाँ वंचनरूप अर्थ लियागया है" इसलिये उन मंदबुद्धियोको धोखा देनेके 'अर्थ मिथ्या ही "सूत्रमें जो किल शब्द है; वह सत्य, झूंठ, संभावना और निश्चय इन चार अर्थोंमे 'वर्त्तता है; इस कारण यहॉ झूंठरूप अर्थका 'ग्रहण कियागया है" दिगम्बरमतके अग्रेसर नय चक्रग्रन्थके बनानेवाले देवसेनजीने श्रीवीतरागके सिद्धान्तसे रहित इस पूर्वोक्त प्रपंचन अ-

र्थात् नयके विस्तारको किया तात्पर्य यह कि-देवसेनजीने अपनी बुद्धिसे सर्वज्ञमतके विरुद्ध असंभावितको रचकर लोकमे ग्रन्थका गौरव दिखाया है ॥ २६ ॥

इत्थं नयानां बहुभङ्गजालैरेकं पदार्थं च त्रिधा परीक्ष्य ।
अर्हत्क्रमाम्भोजयुगोपयोगि चेतः कुरुष्वात्मसुखं लभस्व ॥ २७ ॥

भावार्थः—हे भव्य ! इस प्रकार नैगम संग्रहआदि नयोंके अनेक भेद समूहोंके द्वारा एक पदार्थको द्रव्य, गुण पर्यायरूप निश्चय करके श्रीजिनेन्द्रके चरणकमलयुगलमें लीन चित्तको कर और आत्मसुख प्राप्त हो ॥ २७ ॥

व्याख्या। इत्थं अमुना प्रकारेण श्रीजिनदेवभाषितसूत्रप्रक्रमेण नयानां नैगमादीनां सप्तानां तथापि पञ्चानां बहुभङ्गजालैः बहवोऽनेके भङ्गा भेदास्तेषां जालैः समूहैः एकं कमपि स्वेप्सितं पदार्थं जीवादिपदार्थं त्रिधा द्रव्यगुणपर्यायरूपं परीक्ष्य निश्चित्य अर्हत्क्रमाम्भोजयुगोपयोगि अर्हतां वीतरागाणां क्रमाश्चरणास्त एवाम्भोजानि कमलानि तेषु उपयोगि लीनं एतादृशं चेतः चित्तं कुरुष्व भोभव्य ! त्वमित्यध्याहारादित्यवन्ध्य' पुनर्भो भव्यप्राणिन् ? त्वमात्मसुखमात्मनो जीवस्य सुखं निराबाधानुभवं लभस्व प्राप्नुहि। नयज्ञानाज्जीवादीन्परीक्ष्य कर्मभ्य आत्मानं वियोज्यानन्तसुखभाग्भवेत्यर्थः ॥ २७ ॥

इति श्रीकृतिभोजसागरनिर्मितायां द्रव्यानुयोगतर्कणायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थः—इस प्रकार श्रीजिनदेवभाषित सूत्रोंके क्रमसे नैगमआदि सप्त नय अथवा पंच नयोके भेद समूहोंसे इच्छानुसार किसी भी एक जीवआदिक पदार्थको द्रव्य, गुण तथा पर्यायरूप निश्चित करके श्रीवीतरागोंके चरण कमलोंमे आसक्त ऐसे चित्तको कर 'हेभव्य ? तू यह अध्याहारसे लगा लेना चाहिये" और हेभव्यजीव ? तू जीवका जो बाधारहित अनुभवस्वरूप सुख है, उसको प्राप्त हो। तात्पर्य यह है, कि-भोभव्य ? नयोंके ज्ञानसे जीवआदि पदार्थोंका निश्चय कर कर्मोंसे आत्माको भिन्न कर अनंत सुखका भागी हो ॥ २७ ॥

इति श्रीआचार्योपाधिधारिद्विवेदिपण्डितठाकुरप्रसादविरचितभाषाटीकासमलङ्कृत-
द्रव्यानुयोगतर्कणायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमाध्याये द्रव्यगुणपर्यायाणामेकं स्वरूपं कथयन्नाह ।

अब नवम अध्यायमे द्रव्य, गुण तथा पर्यायोंकी एकरूपता कहतेहुये यह सूत्र कहते हैं ।

लक्षणैस्त्रिभिरेकोऽर्थः सहितः कथ्यते जिनैः ।
यथार्थार्थमन्विच्छन्प्राप्नोति सकलेप्सितम् ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे श्रीजिनभगवान् एक पदार्थको तीन लक्षणोंसे युक्त कहते हैं; उसी रीतिसे पदार्थको चाहताहुआ भव्य सव अभिलषित वस्तुको प्राप्त होता है ॥१॥

व्याख्या । एकोऽद्वितीयोऽर्थो जीवपुद्गलादिर्घटपटादिर्वा यथा येन प्रकारेण त्रिभिर्लक्षणैरुत्पादव्ययध्रौव्याख्यैं सहितो युक्त श्रीजिनैं परमेश्वरैं कथ्यते भण्यते वाक्यप्रबन्धेन । तत—"उत्पन्ने इवा १ धुवे इवा २ विगमे इवा ३' इति त्रिपदीमूलात्पदार्थ सर्वोऽपि त्रिविध इत्यर्थ । तथेति उक्तप्रकारेण अर्थं पदार्थमन्विच्छन् वाञ्छन् धारयन् सकलेप्सित सर्ववाञ्छित सम्यक्त्वादिसिद्धिपर्यन्त काम प्राप्नोति भव्य इति पद्यार्थ । भावार्थस्तत्वयम्-एतस्या त्रिपद्या सर्वेपामर्थाना व्यापकत्वमवधारणीयम् । जिनमते केचित्पदार्था नित्या, केचिदनित्या इत्थ नैयायिकादय कथयन्ति तद्वन्नास्ति । नित्यैकान्तानित्यैकान्तपक्षयोरपि लोकयुक्त्यापि विरोधो दृश्यते । ततो दीपादारभ्याकाशपर्यन्तमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षण प्रमाणयितव्यम् । तदुक्त श्रीहेमाचार्यै— "आदीपमाव्योम समस्वभाव स्याद्वादमुद्रानतिभेदिवस्तु । तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषता प्रलाप" ॥ १ ॥

व्याख्यार्थः—एक अर्थात् दूसरेसे रहित केवल एक जीव पुद्गलआदि तथा घट पटआदि पदार्थ जिस रीतिसे उत्पत्ति, नाश और ध्रौव्यरूप तीनों लक्षणोंसे संयुक्त श्रीजिन परमेश्वर वाक्यप्रबंधसे कहते है; अर्थात् कथंचित् उत्पन्न होता है; कथंचित् नष्ट होता है; और कथंचित् ध्रौव्य है, इस प्रकार जो तीन पदोका मूलसूत्र है, उससे सव पदार्थ तीन प्रकारका है । उसी श्रीजिनेन्द्रके कहे हुए प्रकारसे पदार्थको चाहता हुआ अर्थात् अन्तःकरणमें धारण करता हुआ भव्यप्राणी संपूर्ण अभीष्टको अर्थात् सम्यग्दर्शनको आदि ले मुक्तिपर्यन्त कामनाको प्राप्त होता है, वस यही श्लोकका अर्थ है । आशय तो यह है; कि-इस त्रिपदीमें संपूर्ण पदार्थोंकी व्यापकताका निश्चय करना चाहिये । क्योंकि-कोई पदार्थ नित्य है; कोई पदार्थ अनित्य है; ऐसा जो नैयायिकआदि कहते हैं; उसके समान जिन मतमे कोई पदार्थ नहीं है । और नैयायिकआदिके अभिमत जो एकान्त नित्य तथा एकान्त अनित्य पक्ष हैं, इन दोनोमें ही लोकयुक्तिसे भी विरोध देखा जाता है । इसलिये दीपसे लेकर आकाशपर्यन्त संपूर्ण पदार्थ पूर्वोक्त उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यरूप त्रिविध लक्षणसहित प्रमाणभूत करना चाहिये । वही विपय श्रीहेमाचार्यजीने कहा है; कि—दीपकसे लेकर आकाशपर्यन्त समस्त पदार्थ एक स्वभावके धारक हैं; और स्याद्वादमुद्राका उल्लंघन नहीं करते हैं; इसलिये उनमे एक नित्य ही है, दूसरा अनित्य ही है, इस प्रकार जो कथन है सो आपकी आज्ञासे विरोध रखनेवालोंका प्रलाप है ॥१॥

अथैनमेवार्थं विवृत्य कथयन्नाह ।

अब इसी त्रिविधलक्षणतारूप अर्थका विवरण करके निरूपण करते हैं ।

उत्पादध्रुवनिर्णाशैः परिणामः क्षणे क्षणे ।
द्रव्याणामविरोधाच्च प्रत्यक्षादिह दृश्यते ॥२॥

भावार्थः—उत्पाद ध्रौव्य तथा नाशरूप त्रिविध लक्षणोंसे द्रव्योंका परिणाम क्षण क्षणमे परस्पर विरोधरहितपनेसे ओर प्रत्यक्षसे दीख पडता है ॥ २ ॥

व्याख्या । उत्पादव्ययनिर्णाशैर्लक्षणैस्त्रिभिर्द्रव्यस्य क्षणे क्षणे समये समये परिणामोऽस्ति । अत्र कश्चिदाह । यत्रोत्पादव्ययौ भवतस्तत्र ध्रौव्य नास्ति यत्र च ध्रौव्य तत्रोत्पादव्ययौ न स्यातामिति विरोधस्तिष्ठति तदा एकत्र लक्षणत्रयं कथ समवेत् । यथा—छायातपावेकत्र न स्यातां तद्वदेतावेकत्र न भवेतां चेति । तत्रोत्तर—यथोष्णाशीतस्पर्शौ क्रमेणानलजलयो परस्परपरिहारेण दृष्टौ तयोरेकत्र स्थान उपसहारेण विरोधोऽप्यस्ति । परमत्र तु सर्वलक्षणान्येकत्र प्रत्यक्ष विलोक्यन्ते । परस्परपरिहारेण कुत्रापि प्रत्यक्षसिद्धत्वं नास्ति । तदा कथमेतद्विरोधस्थान भवेत् । अनादिकालीनैकान्तवासनया मोहिता प्राणिन एतेषा विरोध पश्यन्ति, परतु परमार्थतो विचार्यमाणो विरोधो न ह्यस्ति । समयनैयत्येन प्रत्यय एव विरोधनाशहेतुरिति ॥२॥

व्याख्यार्थः—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों लक्षणोंसे संसारके द्रव्योंका परिणाम (परिवर्त्तन) क्षण क्षण (समय २) मे होता है। अब यहांपर कोई कहता है; कि—जहाँपर उत्पाद तथा नाश है, वहापर ध्रौव्य नहीं है, और इसी प्रकार जहाँपर ध्रौव्य है, वहा उत्पत्ति तथा नाश नहीं रह सकते। इस प्रकार विरोध रहता है, तब एक वस्तुमे उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप तीनो लक्षण कैसे संभव होते है। जैसे छाया और आतप (धूप) यह दोनो एक जगह नहीं रह सकते वैसे ही उत्पाद व्यय और ध्रौव्य यह दोनों भी एक पदार्थमे नहीं रह सकते हैं ? अब इस शंकाका उत्तर कहते हैं, कि-जैसे उष्ण और शीत स्पर्श परस्परके परिहारसे क्रमसे अग्नि तथा जलमे दृष्ट हैं; अर्थात् परस्परके परिहारसे उष्णस्पर्श अग्निमे और शीतस्पर्श जलमे देखाजाता हैं; और उन दोनों स्पर्शोंका किसी एक स्थानमे अर्थात् केवल अग्नि अथवा जलमे उपसंहार (ग्रहण)करो तो विरोध भी है, परन्तु यहां तो सब लक्षण (उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप तीनों लक्षण) एक वस्तुमे प्रत्यक्ष रूपसे देख पडते है, और परस्परके परिहारसे अर्थात् एक दूसरेको दूर करके (उत्पादके विना व्यय, व्ययके विना उत्पाद) कहीं भी प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं हैं, अर्थात् किसी एक भी पदार्थमे केवल उत्पाद व्यय अथवा ध्रौव्य प्रत्यक्ष प्रमाणसे नहीं देखा जाता है, तब यह विरोधका स्थान कैसे है ? अनादि काल की जो एकान्तकी वासना है, उससे मोहित होकर प्राणी इनके परस्परविरोध देखते हैं; परन्तु परमार्थसे विचार किया जावे तो कोई विरोध नहीं है, क्योंकि—समयकी नियततासे जो विश्वास हुआ वही विरोधके नाश करनेमे कारण है ॥ २ ॥

पुनस्तदेव कथयन्नाह ।

पुनः उसी प्रस्तुत त्रिविध लक्षण का विस्तार करते हैं।

कुम्भमौलिसुवर्णेषु व्ययोत्पत्तिस्थिरात्मसु ।
दुःखहर्षोपयुक्तेषु हेमत्वं निश्चलं त्रिषु ॥३॥

भावार्थः—नाश, उत्पत्ति तथा स्थिरतायुक्त और दुःख तथा हर्षसे उपयुक्त सुवर्णमयघट सुवर्णमयमुकुट तथा सुवर्ण इन तीनोमें सुवर्णरूपता स्थिरतासे है ॥३॥

व्याख्या । कुम्भो घटो हेमघटहेममौलिहेमसु नाशोत्पत्तिध्रुवरूपेषु दुःखहर्षाभ्यामुपयुक्तेषु हेमत्व सुवर्णत्व तिष्ठति । द्रव्ये चैकस्मिन्नेव घटाकारनाशान्मुकुटाकारोत्पत्तिः, पुनर्हेमाकारेण स्थिरत्वमित्येनल्लक्षणत्रयं प्रकटाकारेण दृश्यते । तस्माद्धेमघट भङ्क्त्वा हेममुकुट निष्पाद्यते उभयत्र हेमत्व स्थिरम् । हेमघटार्थी दुःखवान् भवति घटाकारहेमव्ययमत्त्वात् । हेममुकुटार्थी हर्षवानस्ति हेममुकुटाकारेण सत्यत्वात् । पुनर्हेममात्रार्थस्तु तदा दुःखवानपि सुखवानपि न, स्थितिपरिणामेन विद्यमानत्वात्, ध्रुवत्वाच्च । तस्माद्धेमसामान्यस्थिति सत्या इति । एव सर्वत्रोत्पादव्ययध्रौव्यपर्याया द्रव्यरूपेण ज्ञेया । अत्रोत्पादव्ययभाग् भिन्न द्रव्यं तथा स्थितिभाक् द्रव्य भिन्न किमपि न दृश्यते ततो घटमुकुटाद्याकारस्पर्शिहेमैव केवल द्रव्यम् । न हि युद्धेव भवेत् ध्रुवत्वस्य प्रतीतिरप्यस्ति ततश्च "तद्भावाव्यय नित्य" इति लक्षणेन परिणामेन च ध्रुवमपरमध्रुवमपि । सर्वमपीत्थ भावनीयम् ॥३॥

व्याख्यार्थः—नाश उत्पत्ति तथा ध्रुवतारूप लक्षणसंयुक्त और दुःख तथा हर्षसे उपयुक्त सुवर्णके घट, सुवर्णके मुकुट सुवर्ण इन तीनोमे सुवर्णपना स्थिर है, अर्थात् सुवर्णत्व सबमे है; जैसे एक ही सुवर्णरूप द्रव्यमें घटके आकारका नाश मुकुटके आकारकी उत्पत्ति और सुवर्णरूप आकारकी स्थिति है । और सुवर्णरूप द्रव्यमें घटके आकारके नाशसे मुकुटके आकारकी उत्पत्ति होती है; और सुवर्ण आकारसे उसमे स्थिरता (ध्रौव्य) है; इस प्रकार यह तीनो लक्षण एक ही द्रव्यमें प्रकटता से दीखते हैं । इस कारण सुवर्णके घटको तोडकर सुवर्णका मुकुट बनाया जाता है । ओर सुवर्णपना घट तथा मुकुट इन दोनोंमे स्थिर है । अब जिस समय सुवर्णघटको तोड़कर उसका मुकुट बनता है, तब सुवर्णके घटको चाहनेवाला पुरुष दुःखी होता है; क्योंकि—घटके आकारका जो सुवर्ण था उसका व्यय (नाश) होता है, और जो पुरुष हेमके मुकुटको चाहनेवाला है, वह प्रसन्न है; क्योंकि-वह सुवर्ण हेम मुकुटके आकारसे विद्यमान है, ओर जो केवल सुवर्णको ही चाहनेवाला है; वह उस समयमे न दुःखी है, ओर न सुखी है, क्योंकि—स्थितिरूप परिणामसे जो सुवर्ण घटमें था वही मुकुटमे भी विद्यमान है, और नित्य है । इसलिये सुवर्णकी सामान्यस्थिति सत्य है । इस प्रकार सर्वत्र उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य पर्याय द्रव्यरूपसे जानने चाहिये । यहापर उत्पाद और व्ययको धारण करनेवाला द्रव्य भिन्न है; तथा स्थिति (नित्यता) का भागी द्रव्य भिन्न है; ऐसा कुछ भी नहीं दीख पड़ता है; अर्थात् उत्पाद व्यय और स्थितिका धारक एक ही द्रव्य है । इस कारण घट मुकुट

इत्यादि आकारको धारण करनेवाला सुवर्ण ही केवल द्रव्य है। और वह केवल ध्रुव ही है; किन्तु उसमें ध्रुवताकी प्रतीति भी है, इसीलिये "उसके भावका जो नाश न होना सो नित्य है" इस प्रकारके लक्षणसे द्रव्यरूप ध्रुव है; और अन्य सब पर्यायआदि अध्रुव हैं। इसी प्रकार सब ही विचारने चाहिये अर्थात् सर्वत्र ऐसा ही विचार करना चाहिये ॥३॥

अथोत्पादव्ययध्रौव्यानामभेदसंबद्धं भेदं च दर्शयन्नाह।

अब उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य इन तीनोंका अभेद संबद्ध भेदको भी दिखाते हुये सूत्र कहते हैं।

घटव्ययो हि सोत्पत्तिर्मौलेर्ध्रौव्यं च भर्मणः।
इत्येकस्मिन्दलेऽनेका युगपत्कार्यशक्तयः ॥४॥

भावार्थः—घटका जो नाश है; वही मुकुटकी उत्पत्ति है, और सुवर्णकी नित्यता है; इसी प्रकार एक पदार्थमे एक ही कालमे अनेक कार्योंकी शक्तियें हैं ॥४॥

व्याख्या। यो हि हेमघटव्ययः सा च मौलेर्मुकुटस्योत्पत्तिः, एककारणजन्यत्वात्। यतो यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमिति। ततो विभागपर्यायोत्पत्तिसन्तानादेव घटनाशव्यवहारोऽपि समभवेद्, उत्तरपर्यायोत्पत्तेश्च पूर्वपर्यायनाशोऽपि समाख्यश्च। काञ्चनस्य ध्रौव्यमपि तथैव भावनीयम् प्रतीत्य पर्यायोत्पादेनैकसन्तानत्व तदेव द्रव्यस्य लक्षणतो ध्रौव्यमस्ति। इत्येकस्मिन्निति—लक्षणत्रयात्मके एकस्मिन् दले एतल्लक्षणत्रयमेकदा यद्यपि वर्त्तते तथापि शोकप्रमोदमाध्यस्थरूपा अनेका कार्यशक्तयो दृश्यन्त इत्यनेकत्वेन च भिन्नत्वमपि ज्ञेयम्। सामान्यरूपेण ध्रौव्यं विशेषरूपेणोत्पादव्ययौ चेत्य प्रमाणयता विरोधोऽपि नास्ति। व्यवहारतः सर्वत्र स्यादर्थानुप्रवेशेनैव स्यात्, विशेषपरतापि व्युत्पत्तिविशेषेण स्यात्। अत एव स्यादुत्पद्यते, स्यान्नश्यति, स्याद् ध्रुवम्, इत्यमेव वाक्यप्रयोगोऽपि। "उप्पन्नेइ वा" इत्यादौ वा शब्दो व्यवस्थाया स च स्याच्छब्दसमानार्थः। अत एव "कृष्णः सर्पः" एतल्लौकिकवाक्यमपि स्याच्छब्द गृहीत्वैवास्ति। तत सर्पस्य पृष्ठावच्छेदेन श्यामत्व वर्त्तते परन्तु उदरावच्छेदेन नास्ति। तथैव सर्पमात्रेणापि कृष्णत्व न दृश्यते शेषाख्यो नाग शुक्ल एवास्ति। तस्माद्विशेषणविशेष्यनियमार्थो यदि स्याच्छब्दप्रयोगोऽस्ति तदा त्रिपदीमहावाक्यमपि स्यात्कारमजनया सम्भवेदिति ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थः—जो सुवर्णघटका व्यय है; वही सुवर्णमुकुटकी उत्पत्ति है; क्योंकि—घटका नाश और मुकुटकी उत्पत्ति यह दोनो कार्य एक ही कारणसे जन्य हैं। कारण कि—न्यायका सिद्धान्त है, कि—जो द्रव्य जिस द्रव्यके नाशसे उत्पन्न होता है, वह उसी (नश्यमान) द्रव्यके उपादान कारणसे उपादेय है, भावार्थ—जैसे यहा सुवर्णघटके नाशसे मुकुट उत्पन्न हुआ है, तो घटद्रव्य नाशका जो उपादान कारण सुवर्ण है, वही मुकुटका भी उपादान कारण है, इस रीतिसे घटका नाश तथा मुकुटकी उत्पत्ति एक ही सुवर्णरूप कारणसे जन्य (पैदा हुई) है। और इसीसे विभाग पर्य्याय (मुकुट पर्य्याय)की

उत्पत्तिके संतानसे ही घटके नाशरूप व्यवहारकी संभावना होती है। और उत्तर पर्याय जो यहांपर मुकुटरूप पर्याय है, उसकी उत्पत्तिसे पूर्व घटरूप पर्यायका नाश भी विचारने योग्य है। और उसी प्रकारसे सुवर्णका ध्रौव्य भी विचारना चाहिये क्योंकि—जिसको निमित्त मानकर पूर्वपर्यायका नाश और उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति है उसका निरवच्छिन्न एक संतानत्व (सुवर्णका स्थिरत्व) जो है, वही द्रव्यके लक्षणसे उसका ध्रौव्य है। इस प्रकार त्रिविधलक्षणसहित एक दल (वस्तु) में यद्यपि तीनों ही लक्षण एक समयमे हैं, तथापि शोक, प्रमोद और माध्यस्थरूप अनेक कार्योंकी शक्तिये दीख पडती हैं, इस रीतिसे अनेकत्व होनेसे भिन्नता भी समझनी चाहिये। इस प्रकार सामान्यरूपसे तो ध्रौव्य तथा विशेषरूपसे उत्पाद और व्ययको प्रत्येक वस्तुमे प्रमाणीभूत न करनेवालोंके कोई विरोध भी नहीं है, क्योकि—व्यवहारसे सर्वत्र स्यात् (कथंचित्) इस अर्थके अनुप्रवेशसे सामान्यपरता भी है, और व्युत्पत्तिविशेषसे विशेषपरता भी है। इसी कारणसे स्यात् उत्पन्न होता है, स्यात् नष्ट होता है, स्यात् (कथचित्) ध्रुव है, ऐसे वाक्यका प्रयोग भी होता है। और **उप्पन्नेइ वा** इत्यादिक मूलपाठमे जो वा शब्द है; वह व्यवस्था अर्थमें है, और वह अर्थ स्यात् इस शब्दके समान है। इसी कारण 'कृष्णसर्प' (काला सांप) यह लौकिकवाक्य भी **'स्यात्'** इस शब्दको गृहण करके ही वर्त्तता है, क्योकि—सर्पके पृष्ठ (पीठ) देशमे श्यामता (कालापन) है; परन्तु उसके उदर देशमे (पेटमे) नहीं है। और वैसे ही सर्पमात्रमें भी श्यामता नहीं है; क्योकि 'शेप'—इस नामका धारक जो नाग है, वह शुक्ल (सफेद) ही है। इसलिये विशेषण विशेष्यके नियमार्थ 'स्यात्' शब्दका प्रयोग है; तो त्रिपदीमहावाक्य भी स्यात्कारका भागी हो सकता है ॥४॥

द्रव्यस्वभाव आख्यातो बहुकार्यैककारणः ।
तदा ऋते हेतुभेदात्कार्यभेदः कथं भवेत् ॥५॥

भावार्थः—पूर्व प्रसंगमें "एक कारणरूप अनेक कार्योंका जनक द्रव्य है" यह द्रव्यका स्वभाव वर्णन किया है, तब हेतु (कारण) के भेदके विना कार्योंका भेद कैसे हो सकता है ॥ ५ ॥

व्याख्या। अथ यद्येव कथ्यते द्रव्यस्वभावो बहुकार्यैककारणोऽस्ति। यथा हेमद्रव्यमेवाविकृतमस्ति विकारो मिथ्यास्ति। शोकादिकार्यत्रयजननैकशक्तिस्वभाव यत्तदेव द्रव्य ततो द्रव्याच्छोकादिकार्यत्रय जायते तदा कारणभेद विना कार्यस्य भेद कथ भवेत्। श्रेय साधन यत्तत्प्रमोदजनकम्, अनिष्टसाधन यच्छोकजनकम्, तदुभयाभिन्न माध्यस्थजनकमित्येतत्त्रिविध कार्यमेकस्मादेकरूपात्कथ भवेत्। शक्तिरपि दृष्टान्तानुसारिण्येव कल्पनीया। न चेदेव तर्ह्यग्निसामीप्याज्जल दाहजनकस्वभावमित्यादिक प्रकल्पनमप्यनिवार्यम्। तस्माच्छक्तिभेद कारण भेद कार्यभेदानुसारेणावश्यमनुसर्त्तव्य.। अनेकजननैकशक्ति शब्द एव एकत्वानेकत्वस्याद्वाद सूचयतीत्यर्थ. ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थः—अब यदि ऐसा कहते हो कि—एक कारणरूप अनेक कार्योंका जनक यही द्रव्यका स्वभाव है। जैसे सुवर्णद्रव्य एक ही अविकृतरूप है, मुकुटआदि जो उसका विकार है, वह मिथ्या है। शोक, प्रमोद और माध्यस्थरूप तीन कार्योंको उत्पन्न करनेवाला जो शक्तिस्वभाव है, वही द्रव्य है, उस द्रव्यसे शोकआदिरूप तीन कार्य होते हैं, तब कारणके भेदके विना कार्यभेद कैसे हो सकता है। क्योंकि—जो कल्याणका साधन है, वह प्रमोदका जनक है, जो अनिष्टका साधन है वह शोक (खेद) को उत्पन्न करनेवाला है; और दोनोंसे भिन्न अर्थात् श्रेयस्त्व तथा अनिष्टतासे भिन्न जो साधन है, वह न हर्षको उत्पन्न करता है, और न खेदको, इसलिये यह तीन प्रकारके कार्य एकरूप कारणद्रव्यसे कैसे उत्पन्न होते हैं, कार्यगत दृष्टान्तके अनुसार ही कारणगत शक्तिकी भी कल्पना करनी चाहिये। यदि ऐसा न माना तो "अग्निकी समीपता से जल है; सो दाहको उत्पन्न करनेवाले स्वभावका धारक है" इत्यादि कल्पना भी अनिर्वारणीय होगी। इसलिये शक्तिभेदरूप जो कारण है, उसका भेद कार्यभेदके अनुसार अवश्य अनुसरण करना चाहिये अर्थात् कार्यभेद होनेपर कारणका भेद अवश्य मानना पड़ेगा। और अनेक कार्योंको उत्पन्न करनेवाली शक्ति हैं, यह शब्द ही एकत्व अनेकत्वरूप स्याद्वादको सूचित करता है। यह श्लोकका अर्थ है ॥५॥

अथ बौद्धमतमाह।

अब इस विषयमे बौद्धका मत कहते हैं।

शोकादिजननं लोकवासनाभेदतो भवेत्।
वस्तुभेदो नेति बौद्धो निर्निमित्तोऽशुचिः स्मयी ॥६॥

भावार्थः—द्रव्यमे शोकादिका जो उत्पाद है, वह लोकवासनाके भेदसे होता है; और शोकादिके जननमें कोई वस्तुका भेद नहीं है। ऐसा कहनेवाला बौद्ध निमित्त शून्य है, और अपवित्र तथा स्मयी है ॥६॥

व्याख्या। यत्तु लानमनोन्नमनवदुत्पादव्ययावेकदा भवत क्षणिकस्वलक्षणस्य ध्रौव्य नास्त्येव तच्छोकादिकार्यजननमपि भिन्नभिन्नलोकवासनातो भिन्नभिन्नभेदोपकारकमस्ति। यत एक किमपि वस्तु वासनाभेदात् कस्यापीष्ट कस्याप्यनिष्टं स्यात्, यथेक्षु मनुष्याणामिष्टम्, करमाणामनिष्टम्, परन्तु तत्रेक्षुभेदो नास्त्येव। तद्वदिहापि बोध्यमिति वदन् बौद्धो निर्निमित्तो निमित्तभेद बिना वासनारूपमनस्कारस्य भिन्नत्व कथ जहाति। अत एवाशुचि॰ कलुषचित्त पुन स्वीकारेण स्मयीति। वस्तुतस्तु शोकादिकानामुपादान यथा भिन्न तथा निमित्तमपि भिन्नमवश्यं मतव्यम्। एकस्य वस्तुन प्रमातृभेदेनेष्टानिष्टत्वमस्ति तत्राप्येकस्य द्रव्यस्येष्टानिष्टज्ञानजननशक्तिरूपा पर्यायभेदा अप्यनुमरणीया एवेति ॥६॥

व्याख्यार्थः—जैसे तुला (तराजू) एक कालमे ऊंची नीची हो जाती है, उसी

प्रकार वस्तुके उत्पाद तथा नाश एक कालमें ही होते हैं। क्योंकि—क्षणिकस्वरूप अपने लक्षणको धारण करनेवाला जो पदार्थ है, उसके ध्रुवता (नित्यपना) है; ही नहीं। इसलिये शोकआदिका उत्पाद है; सो भी भिन्न भिन्न लोककी वासनासे होता है; और भिन्न भिन्न भेदका उपकार करता है। क्योकि—एक ही कोई भी वस्तु वासनाके भेदसे किसीको इष्ट है और किसीको अनिष्ट है जैसे—इक्षु (ऊख वा ईख अथवा गन्ना) मनुष्योंको इष्ट (प्यारा) है, और ऊंटोको अनिष्ट है; परन्तु यहापर ईखका भेद नहीं है, अर्थात् वही इक्षु है । परंतु मनुष्योके इष्ट और ऊंटोंके अनिष्ट है। ऐसे ही यहा घट मुकुटआदिमें भी जानना चाहिये ऐसा कहताहुआ बौद्ध निमित्त (कारण) के भेदके विना वासनारूप मनस्कार (मनके व्यापार)से जो चित्तकी सुखादि परकतारूप भेद है, उसको कैसे छोडता है। इसी कथनसे अशुचि अर्थात मलिनचित्त है, पुनः इस मतके स्वीकारसे गर्वयुक्त भी है। यथार्थमे तो जैसे शोकआदिके उपादान भिन्न भिन्न है, वैसे ही उनके निमित्त भी अवश्य ही भिन्न भिन्न मानने चाहिये। जहाँ प्रमाता (इष्ट अनिष्टको अनुभव करनेवाले)के भेदसे एक पदार्थके इष्टता तथा अनिष्टता है; वहा भी एक द्रव्यका इष्ट तथा अनिष्ट ज्ञानको पैदा करनेमे शक्तिरूप ऐसे पर्याय भेदोंका ही अनुसरण करना चाहिये अर्थात उस पदार्थमें ऐसे शक्तिभेद है; कि—जो किसीके इष्ट ज्ञानजनक है; और किसीके अनिष्ट ज्ञानके जनक हैं ॥ ६ ॥

चेन्निमित्तं विना ज्ञानाच्छक्तिसंकल्पकल्पना ।
तदा बहिर्वस्तुलोपाद् घटते न घटादिकम् ॥ ७ ॥

भावार्थः—यदि निमित्तके विना ही वासनाविशेषरूप ज्ञानसे शक्तिरूप संकल्पकी कल्पना होती है; तो बाह्य वस्तुके लोपसे घटआदि आकारकी कल्पना केवल वासनासे क्यों नहीं होती ॥ ७ ॥

व्याख्या। अथ चेद्यदि निमित्त निमित्तभेद विना ज्ञानात् वासनाविशेषजनितज्ञानस्वभावाच्छक्ति-सकलरकल्पना भवति। शोकप्रमोदादिकसकलविकल्पना जायते तदा बहिर्वस्तुलोपाद्वासनाविशेषेण घटपटा-दिनिमित्त विनैव वासनाविशेषेण घटपटाद्याकारज्ञान भवेत् । बाह्यवस्तु सर्वं विलुप्यत इत्यर्थं । अथ च निष्कारण तत्तदाकारज्ञानमपि न सम्भवेत्, अन्तर्बहिराकारविरोधेन बाह्याकारो मिथ्याप्रजल्पमानश्चित्रवस्तु-विषयनीलपीताद्याकारज्ञानमपि मिथ्यैव जायते। तथा उभाद्याकारनीलाद्याकारावपि विरुद्धावेव भवत । तदा सर्वशून्यवादिनो माध्यमिकबौद्धस्य मतमायाति। उक्त च-किं स्यात्सा चेत्र तैं किं स्यान्न स्यात्त-स्यान्मतावपि। यदिद स्वयमर्थाना रोचने तत्र के वयम् ॥ १ ॥ शून्यवादोऽपि प्रमाणमिद्धपसिद्धिभ्या व्याहतोऽस्ति। तत सर्वे नया शुद्धस्याद्वादरीतरागप्रणीता आदर्तव्या ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थः—अथ यदि निमित्त (कारण) भेदके विना ही वासनाविशेषसे उत्पन्न

जो ज्ञान स्वभाव है; उससे शक्ति अर्थात् शोक प्रमोदआदिके संकल्पकी कल्पना होती है; ऐसा कहो तो बाह्य वस्तुका नाश हो जाने से घट पटआदि निमित्तके विना केवल वासनाविशेषसे घट पटआदि आकाररूप परिणाम नहीं उत्पन्न होता है, और घट पटादि निमित्त विना ही वासनाविशेषसे घटपटादिके आकारका ज्ञान होवे तो समस्त बाह्य वस्तुका नाश हो जायगा। यह तात्पर्य है, और कारणके विना घटपटादिके आकारका ज्ञान भी नहीं हो सकता। तथा आन्तरंगिक और बाह्य आकारके विरोधसे बाह्य आकारको मिथ्या कहनेवाले बौद्धके मतसे चित्र (चित्राम)के पदार्थ (तसवीर वगैरह)में रहनेवाला नील, पीत (पीला)आदि वर्णोंके आकारका ज्ञान भी मिथ्या ही होता है। एवं उषा (दिन) आदि आकार तथा नीलआदिका आकार भी विरुद्ध ही होता है। तत्र अर्थात् वासनाके ही विशेषसे आकारका परिणाम तथा आकारका ज्ञान होता है, बाह्य निमित्तकी उसमे कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा माननेसे सबको शून्य कहनेवाला जो माध्यमिक बौद्ध है, उसका मत आता है, क्षणिकवादीका मत नहीं रहता। और कहा है, कि—यदि वासना है, तो क्या नहीं होगा अर्थात् सब कुछ हो जायगा और जो बाह्य पदार्थ तो है; और वासना नही है, तो उन बाह्य पदार्थोंसे क्या हो सकता है, अर्थात् कुछ भी नहीं हो सकता। क्योंकि—वासनाके विना वह बाह्य पदार्थ बुद्धिमे ही नहीं आसकते हैं, इसलिये जो वासना पदार्थोंको स्वयं रच रही है, उसको दूर करनेवाले हम कौन हैं ॥ १ ॥ और शून्यवाद भी प्रमाणकी सिद्धि तथा असिद्धिरूप जो दो पक्ष हैं, उनसे खंडित है। इस कारण सर्वज्ञवीतरागप्रणीत शुद्धस्याद्वादके धारक सपूर्ण नयोका आदर करना चाहिये ॥ ७ ॥

पुनस्तदेव कारणमिति।

पुनः "कारणं" इत्यादि सूत्रसे उसी विषयको कहते हैं।

कारणं घटनाशस्य मौल्युत्पत्तेर्घटः स्वयम्।
एकान्तवासनां तत्र दत्ते नैयायिकः कथम् ॥ ८ ॥

भावार्थः—घटके नाश तथा मुकुटकी उत्पत्तिमे स्वयम् घट ही कारण हैं, जब ऐसा है; तब नाश तथा उत्पत्तिमे एकान्त (सर्वथा)भेदकी वासना नैयायिक कैसे देता है, अर्थात् उत्पत्ति और नाशका सर्वथा भेद क्यो मानता है ॥ ८ ॥

व्याख्या। एव शोकादिकार्यत्रयस्य भेदेनोत्पादव्ययध्रौव्याणि साधितानि, अत एव घटनाशस्य हेमघटनाशस्य हेममुकुटोत्पत्तश्च कारण हेतुरेक स्वय घट एव। हेमघटनाशाभिन्नहेममुकुटोत्पत्तिविषये हेमघटावयवविभागादिको हेतुरेव। अत एव महापटनाशाभिन्नखण्डपटोत्पत्तिविषयेऽप्येकादितन्तुसयोगापगमहेतुरेवास्ति। "खण्डपटे महापटनाशस्य हेतुताभ-

कल्पना महागौरवाय स्यात्" इत्थं जानन्नपि लाघवप्रियो नैयायिको नाशोत्पत्तिकस्यैकान्तभेदवासना कथ दत्ते। तथा च तन्मतम्-"कल्पनागौरवं यत्र त पक्ष न सहामहे। कल्पनालाघव यत्र त पक्ष तु सहामहे १ ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थः—इस प्रकार शोकादि कार्यत्रयके भेदसे उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य लक्षण सिद्ध कियेगये, इसीसे (लक्षणत्रययुक्त होनेसे) सुवर्णघटके नाशका तथा सुवर्णके मुकुटकी उत्पत्तिका कारण केवल स्वयं घट द्रव्य ही है। क्योंकि—सुवर्णघटके नाशसे अभिन्नरूप सुवर्णमुकुटकी उत्पत्तिके विषयमें सुवर्णघटके अवयवोके विभागआदि हेतु ही है। इसी कारणसे महापटके नाशसे अभिन्न खण्डपट (बड़े थानसे छोटे टुकड़े टुकड़े होने)की उत्पत्तिके विषयमे भी एक दो आदि तन्तुओंके संयोगका नाश ही कारण है; और खंडपटकी उत्पत्तिके विषयमें महापटका नाश कारण है, यह कल्पना तो अति गौरवकेलिये होगी इस प्रकार जानताहुआ भी लाघवप्रिय नैयायिक एकको आदि लेकर जितने तन्तुओंके संयोगके नाशके वह खडपट उत्पन्न है; उन सब तंतुवोंके नाश और उत्पत्तिके सर्वथा भेदवासना कैसे देता है। क्योकि—उस नैयायिक मतका यह वचन है कि "जिस पक्षमे कल्पनाका गौरव है; उसको हम नहीं सहन करते (मानते) और जिस पक्षमें कल्पनाका लाघव है; उसको सहन करते हैं ॥ ८ ॥

पुनस्तदेव कथयन्नाह।

पुनः उसी विषयका प्रतिपादन करते हैं।

पयोव्रतो न दध्यद्यान्नैव दुग्धं दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तेन स्याल्लक्षणत्रयम् ॥९॥

भावार्थः—केवल दुग्धको खानेवाला दही नहीं खा सकता और दहीमात्रको खानेवाला दूध नहीं पीता तथा जो गोरसमात्रका त्यागी है, वह दुग्ध तथा दही इन दोनोंको नहीं खाता है; इस रीतिसे भी उत्पत्तिआदि त्रिविधलक्षणयुक्त वस्तु सिद्ध होता है ॥ ८ ॥

व्याख्या। पयोव्रतो दुग्धास्वादी दुग्धमेव व्रतनीय भोक्तव्यमिति प्रतिज्ञापरः स पयोव्रत उच्यते। तत पयोव्रतो दधि नाद्याद्दधि न भुङ्क्ते, दधिव्रत पुनर्दुग्धं नाद्यात्, तस्य दधिभक्षण एव प्रतिज्ञारूपो धर्म एवास्ति। वस्तुतस्तु "दुग्धपरिणाम्येव दध्यस्ति" इत्थ यद्यभेदकता कथ्यते तदा तु पयोव्रतस्य दध्यदनेऽपि व्रतभङ्गो न जात पुनश्च दुग्ध दधि न भवति परिणामिद्रव्यत्वाद्भिन्नद्रव्यमेव। अभेदविवक्षया दुग्धमास्वादयत' दधिव्रतभङ्गो न जायते, दधि भुञ्जानस्य दुग्धव्रतभङ्गोऽपि नैव सपद्यत इति। अथ गोरसत्वेन द्वयोरप्यभेदोऽस्ति। अत्र दधित्वेनोत्पत्ति दुग्धत्वेन नाशो गोरसत्वेन ध्रुवत्व च प्रत्यक्षम्। एतद्दृष्टान्तेन सर्वजगद्वर्तिभावानां लक्षणत्रययुक्तत्व कथनीयम्। उक्त च "पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति

दधिव्रत । अगोरसव्रतो नोभे तस्माद्वस्तुत्रयात्मकम् ॥१॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्रव्यपर्यायौ सिद्धान्ताविरोधिनौ सर्वत्रावतारणीयाविति । लक्षणत्रयं कथनीयम् । केचन भावा अन्वयिनः, केचन भावा व्यतिरेकिणः, एवमन्यदर्शनिनः कथयन्ति, तत्र त्वन्येषामपि भावानां निदर्शनं स्याद्वादव्युत्पत्त्या समञ्जसं स्यादिति । अन्यच्च वस्तुतः सत्ता त्रिलक्षणरूपैवास्ति "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति तत्त्वार्थसूत्रवचनात् । ततः सत्ताप्रत्यक्षं तदेव त्रिलक्षणं साक्षादस्ति । तयारूपेण सद्व्यवहारसाध्यानुमानादिकप्रमाणान्यप्यनुष्ठीयन्ते ॥९॥

व्याख्यार्थः—दूध ही सेवन करना चाहिये इस प्रकारकी प्रतिज्ञामें जो तत्पर हो उसे पयोव्रत कहते हैं; वह पयोव्रत अर्थात् दूधको खानेवाला पुरुष दही नहीं खाता है; और जो दहीको ही सेवन करनेवाला है, वह दुग्ध नहीं पीता है क्योंकि—उसको दहीका खाना ही प्रतिज्ञारूप धर्म है। अब यहां "परमार्थमें तो दूधका परिणामरूप ही दही है" इस प्रकार यदि दुग्ध दधिका अभेद कहते हो अर्थात् दूध दही एक ही है, ऐसा मानते हो तब तो दूध पीनेवालेके दहीके खानेसे भी व्रतका भंग नहीं होगा। और यदि परिणामी द्रव्य होनेसे दही दूध नहीं हो सकता ऐसा कहो तो इस भेद विवक्षासे दही दूधसे भिन्न द्रव्य है। भावार्थ—अभेदविवक्षासे दूध पीतेहुयेके दहीके व्रतका भंग नहीं होता है, और दही खातेहुये मनुष्यके दुग्धके व्रतका नाश भी नहीं होता है। और गोरसपनेसे दूध और दही इन दोनोंमें अभेद ही है, इसलिये जिसके गोरसका त्याग है, वह दूध और दही दोनोंका सेवन नहीं करता है। यहाँपर दहीपनेसे उत्पत्ति (उत्पाद) है, और दुग्धत्वरूपसे नाश है, तथा गोरसत्वरूपसे ध्रुवत्व प्रत्यक्षसे सिद्ध है। इसी प्रकार इस दृष्टान्तसे संपूर्ण संसारके पदार्थोंमे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप त्रिलक्षण सहितता कहनी चाहिये। ऐसा कहा भी है, "पयोव्रत दधिका भोजन नहीं करता, दधिव्रत दुग्धका भोजन नहीं करता और गोरसका त्यागी दुग्ध दधि इन दोनोंको नहीं खाता इसलिये समस्त वस्तु तीन लक्षणोंका धारक है ॥१॥ और अन्वय तथा व्यतिरेकसे सिद्धान्तके अविरोधी द्रव्य तथा पर्यायकी अवतारण सर्वत्र करनी चाहिये इसलिये जहां द्रव्य पर्याय है, वहां उत्पत्तिआदि तीनों लक्षण कहने चाहिये। कितने ही पदार्थ अन्वयी हैं, और कितने ही पदार्थ व्यतिरेकके धारक हैं, ऐसा अन्य दर्शनवाले कहते हैं। और इस सिद्धान्तमे तो अन्य भी पदार्थोंका दृष्टान्त स्याद्वादकी व्युत्पत्तिसे ठीक हो सकता है। और वस्तुकी सत्ता भी त्रिलक्षण रूप ही है, क्योकि—उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यसे सहित जो होय सो सत् है; ऐसा तत्त्वार्थसूत्रका वचन है, इसलिये जो सत्ताका प्रत्यक्ष है; वही साक्षात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप त्रिलक्षण है। ऐसी दशामे सद् इस व्यवहारसे साध्य अनुमानआदिक प्रमाणोंका भी अनुष्ठान किया जाता है ॥९॥

उत्पन्नकलशे स्वार्थस्योत्पत्तिविगमौ कथम् ।
शृण्वाद्यौ मिश्रितौ ध्रौव्ये शक्त्या चानुगमाख्यया ॥१०॥

भावार्थः—उत्पन्न घटमें निजद्रव्यसंबन्धकी उत्पत्ति तथा नाश कैसे हो सकते है ? इस प्रश्नका उत्तर सुनो कि—उत्पत्ति तथा नाश यह दोनों एकतारूपशक्तिसे ध्रौव्यमें मिले हैं ॥ १० ॥

व्याख्या । उत्पत्तिर्जाता यस्येत्युत्पन्नो घटस्तस्मिन्नुत्पन्नघटे द्वितीयादिक्षणे स्वार्थस्य स्वद्रव्यसबद्धस्योत्पत्तिनाशौ कथ भवतो यतो हेतो प्रथमक्षणसबन्धरूपोत्तरपर्यायोत्पत्तिरस्ति सैव पूर्वपर्यायनाशता इत्थं युष्माभि पुरा स्थापितमस्ति ? इत्येतत्प्रश्न शिष्येण कृतस्तदा गुरु कथयति । हे शिष्य ? शृणु । तद्यथा—प्रथमक्षणे जातावुत्पत्तिविनाशौ ध्रौव्ये मिश्रितौ मिलितावनुगमाख्यया शक्यैकतालक्षणया शक्त्या नित्यौ स्त । असत्यप्याद्ये क्षण उपलक्षणीभूय आगामिनि क्षणे द्रव्यरूपेण तत्सबन्धतामनुभवत । उत्पन्नो घटो नष्टो घट इति सर्वप्रयोगात् । अथ चेदानीमुत्पन्नो नष्ट इत्येव प्रतिपाद्यते तदा त्वेतत्क्षणविशिष्टता उत्पत्तिनाशयोरेवास्ति तच्च द्वितीयादिक्षणे नास्ति । अतो द्वितीयादिक्षण इदमुत्पन्नमित्यादिप्रयोगोऽपि न स्यात् । घट इति शब्देनेह द्रव्यार्थादेशेन मृद्द्रव्य ग्राह्यम् । तत उत्पत्तिनाशाधारता सामान्यरूपेण तत्प्रतियोगिता विशेषरूपेण च कथनीयेति भाव ॥ १० ॥

व्याख्यार्थः—जिसकी उत्पत्ति होगई है; ऐसा जो घट है, उस उत्पन्न घटमे उत्पत्ति के द्वितीयआदि क्षणमे स्वार्थके अर्थात् निजघटरूप द्रव्यके संबन्धके उत्पत्ति नाश कैसे होते हैं; क्योंकि-प्रथमक्षणसंबन्धरूप उत्तर पर्यायकी जो उत्पत्ति हैं; वही पूर्वपर्यायकी नाशता हैं; ऐसा आप पूर्व प्रसंगमे स्थापित कर चुके हैं ? ऐसा प्रश्न शिष्यने किया उसपर गुरु उत्तर देते है; कि-हेशिष्य ? उत्तर सुनो-वह उत्तर इस प्रकार हैं, कि-प्रथम क्षणमें जो उत्पत्ति विनाश हुये हैं; वह अनुगमानामिका अर्थात् एकतास्वरूप शक्तिसे ध्रौव्यमे मिले हुये हैं, ओर नित्य है, तथा प्रथम क्षणके न होनेपर भी उत्पत्ति और नाश दोको उपलक्षणीभूत होकर आगामी क्षणमें द्रव्यरूपसे उसकी संबन्धताका अनुभव करते हैं। क्योंकि—**"उत्पन्नो घटः, नष्टो घटः"** "घट उत्पन्न हुआ, घट नष्ट हुआ" इत्यादि प्रयोग सर्वत्र देखा हैं। और यदि ऐसा कहते हो कि-'इस समय घट उत्पन्न हुआ, इस समय नष्ट हुआ तब तो उत्पत्ति और नाशके इस (प्रथम) क्षणकी विशिष्टता ही होगई क्योंकि-वह उत्पत्ति नाशकी विशिष्टता द्वितीयआदि क्षणमे नहीं है; इसलिये द्वितीयआदि क्षणमे "यह उत्पन्न हुआ" इत्यादि प्रयोग भी न होगा. तथा घट इस शब्दसे यहापर द्रव्यार्थके आदेशसे मृत्तिकारूप द्रव्यका ग्रहण करना योग्य हे। इससे मृत्तिका सामान्यरूपसे घटकी उत्पत्ति तथा नाशका आधार हैं; और विशेष (घट)रूपसे उत्पन्न हुआ तथा नष्ट हुआ ऐसा प्रयोग भी होता है, ऐसा कथन करना योग्य है ॥ १० ॥

उत्पत्तेरपि नाशस्यानुगमे पर्ययार्थतः ।
भूतादिप्रत्ययोद्भान घटते समयप्रमम् ॥ ११ ॥

भावार्थ—उत्पत्ति तथा नाशकी ऋजुसूत्रादि पर्यायार्थिकनयसे एकता माननेपर भूतआदि प्रत्ययका भान समयप्रमाण निश्चयनयसे घटित होता है ॥ ११ ॥

व्याख्या । उत्पत्तेरपि पुनर्नाशस्य चानुगमे एकताया पर्ययार्थत ऋजुसूत्रादे सकाशाद् भूतादिप्रत्ययोद्भान समयप्रम घटत इति यतो निश्चयनयात् "कज्जमाणेकडे" एतद्वचनमनुसृत्योत्पद्यमान उत्पन्न एव यदि कथ्यते परन्तु व्यवहारनयादुत्पद्यते, उत्पन्न, उत्पत्स्यते, नश्यति, नष्ट, नङ्क्षयति । एतद्विभक्त्या कालत्रयप्रयोगोऽस्ति । स प्रतिक्षणपर्यायोत्पत्तिनाशनयवादी ऋजुसूत्रनयस्तेनानुगृहीतो यो व्यवहारनयस्तमनुगृह्य कथ्यते । कथ तदृजुसूत्रनयस्तु समयप्रमाण वस्तु मनुते तत्र यौ पर्यायस्य वर्त्तमानावुत्पत्तिनाशौ विवक्षितौ तावेव गृहीत्वोत्पद्यते नश्यतीति कथनीयम् । वर्त्तमाने यदतीतत्व तद्गृहीत्वोत्पन्ननष्ट इति कथ्यते । अत्रैव तदतीत तदनागतमिव विचिन्त्योत्पत्स्यते नङ्क्षयत्येव कथ्यते । इतीयमनागते व्यवस्था सर्वापि स्याच्छब्दप्रयोगेण समवेदिति ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थः—उत्पत्ति तथा नाश इन दोनोकी एकतामे पर्यायार्थिक जो ऋजुसूत्र आदि नय हैं; उनसे भूतआदि प्रतीतिका ज्ञान समयप्रमाण घटता है, क्योंकि—निश्चयनयसे "कज्जमाणे कडे" (जो भविष्यत्में कट अर्थात् चटाई बनेगी उसमें) इस वचनका अनुसरण करके उत्पन्न होनेवाले घटमे उत्पन्न हुआ ऐसा यद्यपि कहा जाता है, परन्तु व्यवहारनयसे "उत्पन्न होता है, उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होगा तथा नष्ट होता है, नष्ट हुआ और नष्ट होगा इस विभक्तिसे जो कालत्रय(तीनकाल)का प्रयोग है, वह प्रयोग प्रतिक्षणमे पर्यायोंकी उत्पत्ति तथा नाशरूप मतको कहनेवाला जो ऋजुसूत्र नय है, उससे अनुगृहीत (प्राप्त) जो व्यवहार है, उस व्यवहारनयको ग्रहण करके कहा जाता है, यह कैसे कि—ऋजुसूत्रनय तो समय प्रमाण वस्तुको मानता है, उसमे जो पर्यायके वर्त्तमान उत्पत्ति तथा नाश विवक्षित हैं, उन्हींको लेके उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, ऐसा कथन करना योग्य है । और वर्त्तमान पर्यायमें जो भूतत्व है; उसको लेकर उत्पन्न हुआ नष्ट हुआ ऐसा कथन होता है, और उसीमे जो भूतत्व है, उसको अनागत (भविष्य)की तरह विचार कर उत्पन्न होगा नष्ट होगा ऐसा कथन किया जाता है, तात्पर्य यह कि—वर्त्तमानकाल ही भूतकी अपेक्षासे भविष्य है; आगामी कालकी अपेक्षासे वही भूत है, और वर्त्तमान तो वह स्वयं है, एवं एक कालमे ही सर्वत्र तीनों कालका भी व्यवहार हो सकता है । इसी प्रकारसे अनागत कालमे भी यह सब व्यवस्था स्यात् शब्दके प्रयोगसे संभवती है, अर्थात् कथंचित् (किसी अपेक्षासे) भूतकाल इत्यादि कथन युक्त है, क्योंकि—सभी कालमे सब कालका व्यवहार हो सकता है ॥ ११ ॥

यद्युत्पत्तिविशिष्टस्य व्यवहारो व्ययस्य चेत् ।
नाशनिष्ठोद्भवं तत्र व्यवहारेऽप्युरीकुरु ॥१२॥

भावार्थः—यदि उत्पत्तिसहित नाशका व्यवहार होता है, तो उस व्यवहारमें नाशनिष्ठ उत्पत्ति होती है; ऐसा मानो ॥१२॥

व्याख्या । यद्युत्पत्तिविशिष्टस्य व्ययस्य व्यवहारोऽस्ति चेत्तदा व्यवहारेऽपि तत्र नाशनिष्ठोद्भवम–सद्विशिष्टमुत्पत्तित्वमुरीकुरु इति । भावार्थस्त्वय यद्युत्पत्तिधारानाशविषये भूतादिप्रत्ययो न कथ्यते अथ च नश्धातोरर्थे नाशोत्पत्तिद्वय गृहीत्वा तदुत्पत्तिकालत्रयस्यान्वयसमवश्च कथ्यते । एव च कथयता नश्यत्समयेन नष्ट इत्यय प्रयोगो नो जायते तत्कथ तस्मिन्काले नाशोत्पत्त्योरतीतत्व नास्तीत्येत्र समर्थता व्यवहारस्य यदि क्रियते भवद्भिस्तदा व्यवहार उत्पत्तिक्षणसबधमात्रमेव कथयत । तत्र प्रागभावध्वंसताकालत्रयरूपात् कालत्रय-स्यान्वयसमर्थन कुरुत । अथ च यद्येव विचारयिष्यथ घटस्य वर्त्तमानत्वादिकेऽपि नाशवर्त्तमानत्वादिकेऽपि नाशवर्त्तमानादि व्यवहारो न जायते । किञ्च क्रियानिष्ठापरिणामरूपवर्त्तमानत्वमतीत गृहीत्वा नश्यति नष्ट उत्पन्न एतद्विभक्तिव्यवहारसमर्थन करणीयम् । अतएव क्रियाकालयौगपद्यविवक्षया उत्पद्यमान उत्पन्न विगच्छद्विगतमित्यनया दिशा सैद्धान्तिकप्रयोग सभवेत् । परमते त्विदानी ध्वस्तो घट इति आद्यक्षणो व्यवहार सर्वथा न घटमाटीकते, नयभेदे तु सभवेत, यथात्रास्मक समति । स्वाधिकरणक्षणत्वव्यापकस्वा–धिकरणक्षणध्वसाधिकरणादिकत्वमनुत्पन्नत्वम्, "उपज्जमाणकाल उप्पणति विगय विगच्छ । भेदविय पन्नवतो तिकालविसय विसेसेइ ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थः—यदि उत्पत्तिसहित नाशका व्यवहार होता है; तो उसी व्यवहारमें नाशनिष्ठ जो उद्भव (उत्पत्ति) है, अर्थात् असद्विशिष्ट जो उत्पत्ति है, उसको स्वीकार करो । भावार्थ यह है, कि–उत्पत्ति धारारूप नाशविषयमें भूतकालादि प्रत्यय (अनुभव) नहीं कहते हो और नश धातुके अर्थमें नाश तथा उत्पत्ति दोनोका ग्रहण करके उस नाशकी उत्पत्ति कालत्रयके साथ अन्वय (सत्व) का संभव कहते हो तब ऐसा कहने-वालोंको नाश होते हुये समयके साथ नष्ट हुआ ऐसा प्रयोग नहीं होता । क्योंकि-उस कालमें नाश तथा उत्पत्तिकी अतीतकालता नहीं है; ऐसी समर्थता यदि आप व्यवहारकी करते हो तो व्यवहारमें उत्पत्ति क्षणकी संबन्धमात्रा ही कहो । तब वहांपर प्रागभावध्वंसता कालत्रयरूपसे कालत्रयके अन्वय (सत्व) का समर्थन करते हो । और यदि ऐसा विचार करते हो कि–घटके वर्त्तमानत्वादिमें नाशके वर्त्तमानत्वादिका व्यवहार नहीं होता किन्तु क्रियानिष्ठ जो अपरिणामरूप वर्त्तमानत्व तथा अतीतत्व है उसको लेकर नष्ट होता है, नष्ट हुआ, तथा उत्पन्न होता है; उत्पन्न हुआ इस रीतिसे इस नश धातुके आगे वर्त्तमानके तथा भूत कालके प्रत्ययोंको व्यवहारका समर्थन करना चाहिये । इसीसे अर्थात् एक कालमें दूसरे कालकी अपेक्षासे भूतकालादि मान कर

ही क्रियामें कालके एक ही समयमे विवक्षासे उत्पन्न हो रहा है, उत्पन्न हुआ, नष्ट हो रहा है, तथा नष्ट हुआ इत्यादि व्यवहार है, इसी पूर्वोक्त रीतिसे सिद्धान्त मतमे भूतकालादि प्रयोगकी संभावना हो सकती है। और अन्यके मतमे तो इस समय यह घट नष्ट हुआ यह व्यवहार प्रथम क्षणमे सर्वथा नहीं हो सकता क्योंकि—अभी (प्रथम क्षणमें) नश्यमान क्रिया हो रही है, तब उस नाशानुकूल क्रियाका भूतकाल कैसे बोधित हो सकता है। और नयका भेद माननेसे तो हो सकता है; अर्थात् भविष्य कालकी अपेक्षासे उसीमें भूतत्वके आरोपसे नश धातुके भूतकालके प्रयोगमे कोई अनुपपत्ति नहीं है। यहांपर हमारी संमति ऐसी है, कि—स्वकीय अधिकरणीभूत जो क्षण उस क्षणका व्यापक तथा स्वके अधिकरणमे जो ध्वंसक्षणकी अधिकरणता तादृश अधिकरणत्वरूप ही अनुत्पन्नत्व है। यहांपर स्वशब्दसे नश्यमानानुकूल क्रियाका ग्रहण है; अतः जिस समयमे नश्यमानरूप क्रिया हो रही है, उस क्षणकी तो अनुत्पत्तिव्यापिका है, और उसी क्रियाका अधिकरणीभूत जो ध्वंस है, उसके अधिकरणका भी क्षण है, क्योंकि—उसी क्षणमे ध्वंसानुकूल क्रिया भी हो रही है, अत एव स्वाधिकरणक्षणत्वव्यापक तथा स्वाधिकरणीभूत ध्वंसाधिकरणत्व स्वरूपता अनुत्पन्नत्वमे चली गई। यही विषय इस गाथामे कहा है, जैसे उत्पद्यमान कालमे उत्पन्न होता है, उत्पन्न हुआ नष्ट होता है, ऐसे दो भेद कहे हुये त्रिकाल विषयको विशेषित करते हैं ॥ १२ ॥

उत्पत्तिर्न भवेदग्रे तदोत्पन्नं च तद्भवेत्।
यथा नाशं विना नष्टं प्रथमं किं न रोचते ॥ १३ ॥

भावार्थः—प्रथम द्वितीयआदि क्षणमे उत्पत्ति नहीं हुई और उत्पन्न हुआ ऐसा व्यवहार यदि तुम भविष्यकी अपेक्षासे मानते हो तो नाशके विना भी नष्ट हुआ यह व्यवहार तुमको क्यों नहीं रुचता ॥ १३ ॥

व्याख्या। उत्पत्तीति-यदा अग्रे द्वितीयादिक्षणे उत्पत्तिर्न भवेत्तदा तद्घटादिक द्वितीयादिक्षणेऽनुत्पन्नत्व भवेत्। यथा च प्रथमध्वंसेन नाशेन विना अनष्टमविनष्टं यदि कथ्यते। इत्यय तर्कस्तव किं न रोचते। यस्मात्प्रतिक्षणोत्पादनाशौ परिणामद्वारा माननीयौ। अथ च द्रव्यार्थादेशेन द्वितीयादिक्षणे यद्युत्पत्तिव्यवहारं कथ्यते तदा नाशव्यवहारोऽपि तथा भवितु युज्यते। तथा च क्षणान्तर्भाविन द्वितीयादिक्षण उत्पत्तिरपि प्रापयितुं युक्ता भवेत्, अकल्पिता अनुत्पन्नता न भवेत्। तथापि प्रतिक्षणमुत्पत्ति विना परमार्थतोऽनुत्पन्नतार्थता युज्यत इत्यर्थ ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थः—यदि द्वितीयादि क्षणमे उत्पत्ति नहीं होती तो वह घटआदि उस द्वितीयआदि क्षणमे अनुत्पन्न होते हैं, और जैसे नाशके विना अनष्ट हुआ ऐसा यदि कहा जाय तो यह तर्क तुमको क्यों नहीं रुचता। क्योकि—प्रतिक्षणमें उत्पाद नाश परि-

णामके द्वारा मानने योग्य है। और यदि द्वितीयआदि क्षणमें द्रव्यार्थादेशकी अपेक्षासे उत्पत्तिके विना ही उत्पत्तिका व्यवहार तुम कहते हो तब नाशके विना नाश व्यवहार भी होना योग्य है, और उसी रीतिसे क्षणके अन्तर्भावसे द्वितीयआदि क्षण में उत्पत्ति भी प्राप्त करने योग्य है; और कल्पनारहित अनुत्पन्नता भी नहीं हो सकती। यद्यपि यह कल्पनासे अनुत्पत्तिदशामे भी क्षणकी अपेक्षासे उत्पन्नता मानी है। तथापि प्रतिक्षण उत्पत्तिके विना परमार्थमें तो अनुत्पन्नता ही युक्त है ॥ १३ ॥

संमतौ संहननादि भवभावाच्च केवलम् ।
प्रयाति सिद्ध्यतो ज्ञानं मोक्षसंप्राप्तिजे क्षणे ॥१४॥

भावार्थः—संमति ग्रन्थमे भी यही उपदेश है, कि–संहननआदिभवस्थ भावसे अष्ट कर्मोंका नाश करते हुए जीवके मोक्ष प्राप्त होनेके समयमें केवलज्ञान चला जाता है; अर्थात् भवस्थ केवलपर्यायसे केवलका नाश हो जाता है ॥ १४ ॥

व्याख्या। एव परिणामत' सर्वद्रव्याणा त्रिलक्षणयोग समर्थित इत्यनेनैवाभिप्रायेण समतिग्रन्थमध्येऽय भाव उपदिष्ट, यत सहननादिभवभावात् सिद्ध्यत कर्माष्टक क्षपयतो जन्तोर्मोक्षसमये केवलज्ञान प्रयाति भवस्थकेवलपर्यायेण केवलस्य नाश स्यात्। अयमर्थ मानस्तस्मिन् सिद्धत्वे सिद्धकेवलज्ञानत्व उत्पद्यते सैव केवलज्ञानत्वे ध्रुवोऽस्ति भाव। यतो मोक्षगमनसमयेऽपि ये व्ययोत्पत्ती जायेते तत्परिणतसिद्धद्रव्यानुगमतः शिवेऽपि लक्षणत्रयमाविर्भवति। तथा च तस्य भावस्य भावार्थज्ञानाय गाथामाह। "तेस घपणाईया भवच्छकेवलविशेशपज्जाया। ते सिज्जमाणसमयेण होइ विगयतउ होइ। १। सिद्धत्तणेणय पुणो उप्पण्णा एस अत्थपज्जाओ। केवलभाव तु पडुच्चकेवलदाइय सुत्ते। २।" एतद्भावापेक्षयैव "केवलनाणे पुवि हे पन्नत्ते भवच्छकेवलनाणेय सिद्धकेवलनाणेय" इत्यादिसूत्र उपदेशोऽस्ति। इत्थं च स्थूलव्यवहारनयेन सिद्धविषयेऽप्यागतम्, परन्तु सूक्ष्मनयेन नागत यत कारणात् सूक्ष्मनया ऋजुसूत्रादय' समय समयमुत्पादव्ययशालिन. सन्ति ततस्तान् गृहीत्वा तथा द्रव्यार्थादेशस्यानुगम च गृहीत्वा यत्सिद्धकेवलज्ञानमध्ये त्रैलक्षण्य समस्ति तदेव सूक्ष्म ज्ञेयमित्येव विचार्य पक्षान्तर द्योतयति किं तर्हि मोक्षे त्रिलक्षणता भवति या सा सिद्धद्रव्यानुगमात्, यत्कैवल्य पुरा भवस्थभावेस्थित तदेव सिद्धत्वे कैवल्यमस्ति भवस्थपर्यायव्ययस्तत्सन्निधानान्मोक्षसज्ञोत्पत्तिरुभयत्र कर्मवियोगजन्य केवल ध्रुवम्, एतल्लक्षणत्रय मोक्षेऽपि ज्ञेयमिति। भावार्थस्त्वयम् ये च सहननादयो भवस्थकेवलविशेषपर्यायास्ते च पर्याया. सिद्ध्यतो भगवतस्तत्समये सिद्ध्यमानसमये न भवन्त्यतस्तेषा विगमे व्ययो भवति। तथा पुन' सिद्धत्वेन यो मोक्षलक्षणोऽर्थपर्याय उत्पन्नोऽतस्तदुत्पत्ती सत्यामुत्पत्तिर्भवति। पुनश्च केवलभाव प्रतीत्योभयत्र ध्रुवत्वमव्याहतम्। कथ तद्भवस्थजन्तो घातिकर्मापगमे केवलज्ञानमुत्पन्न तस्मिश्च सति सिद्ध्यत सहननादि विगत तदपेक्षो व्यय, सिद्धत्वमुत्पन्न तदपेक्षोत्पत्तिः, पूर्वप्रसूतकेवलपर्यायस्य ध्रुवत्वाद् ध्रौव्यम्। इत्थ लक्षणत्रय मोक्षेऽपि समस्तीति ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थः--इस प्रकार प्रतिक्षणके परिणामसे संपूर्ण द्रव्योंमें त्रिविध लक्षणका योग सिद्ध किया गया, इसी अभिप्रायसे संमति ग्रंथमे भी इसी भावका उपदेश किया गया है। क्योकि-संहननआदि भवके भावसे सिद्ध होते हुए अर्थात् अष्टविध कर्मोंका क्षय करते हुये जीवके मोक्षसमयमे केवल (केवलज्ञान) जाता है, अर्थात् भवस्थ जो केवल पर्याय है, उससे केवलज्ञानका नाश होता है, यह अर्थ मान अर्थात् प्रमाण है, इसके सिद्ध होनेपर सिद्ध केवलज्ञान उत्पन्न होता है, और केवलज्ञानपनेमे वही ध्रुवभाव अर्थात् नित्यपना है। क्योंकि-मोक्ष जानेके समयमे भी व्यय तथा उत्पाद होते हैं, ओर उस असिद्ध द्रव्यसे परिणत सिद्ध द्रव्यका जो अनुगम (ज्ञान) होता है, इससे मोक्षमे भी तीन लक्षण प्रकट होते हैं। और इसी भावके भावार्थ बोधनकेलिये गाथाको कहते हैं। जैसे "जो संहननआदि भवस्थ केवल विशेषके पर्याय हैं, वह सिद्धदशाको प्राप्त होते हुये जीवके नहीं होते इसलिये उसका व्यय होता है, और सिद्धत्वसे जो यह अर्थ पर्याय उत्पन्न हुआ है, उससे सिद्ध केवलज्ञानकी उत्पत्ति है; क्योंकि-सूत्रमे कहा है, कि-केवल भाव तो नष्ट होकर बदलेमे केवलज्ञानको ही देता है; अर्थात् उत्पन्न करता है ॥ २ ॥" और इसी भावकी अपेक्षासे 'केवलज्ञान दो प्रकारके जानने एक भवस्थ केवलज्ञान और एक सिद्ध केवलज्ञान" इत्यादि सूत्रमे उपदेश है। और इस प्रकार स्थूलव्यवहारनयसे सिद्धोंमे भी त्रिविधलक्षणयुक्तता का आगमन हुआ परन्तु सूक्ष्म नयसे सिद्ध पर्यायमे त्रैलक्षण्य नहीं आया क्योंकि-ऋजुसूत्रआदि जो सूक्ष्मनय हैं, वह समय समयमे उत्पाद तथा व्ययको धारण करते हैं, इसलिये उन प्रतिक्षणके उत्पादादिको लेकर तथा द्रव्यार्थिकनयसे पूर्वोत्तर पर्यायमे द्रव्यत्वरूपसे उत्पत्ति तथा नाशकी एकताको ग्रहण करके जो सिद्ध पर्यायके साथ केवलज्ञान है, उसमें त्रिविध लक्षणकी संगति भले प्रकार होती है और इसीको सूक्ष्मता जानना चाहिये ऐसा विचारकर अब दूसरे पक्षको प्रकट करते हैं, वह क्या है, सो निरूपण करते है, कि-मोक्षमे जो उत्पत्तिआदि त्रिविध लक्षणता होती है, वह सिद्ध द्रव्यकी एकताके अनुगमसे होती है, जो कैवल्य पहले भवस्थ भावमे स्थित था वही सिद्धत्वदशामे कैवल्य है, भवस्थ पर्यायका तो नाश होता है, और उस भवस्थ पर्यायके नाशके सन्निधानसे मोक्षसंज्ञक पर्यायकी उत्पत्ति होती है, और पूर्व भवस्थपर्याय तथा उत्तर सिद्ध पर्याय इन दोनो दशाओमें कर्मोंके वियोगसे उत्पन्न जो केवलज्ञान है, वह ध्रुव है, इस कारण यह तीनों लक्षण मोक्षमें भी जानने चाहिये। भावार्थ तो यह है, कि-जो संहननादि भवस्थ केवल विशेषके पर्याय हैं, वह पर्याय सिद्ध दशाको प्राप्त होते हुए जो भगवान् हैं, उनके सिद्धयमान समयमें नहीं होते हैं, इसलिये उनके चले जानेसे तो व्यय होता है, और सिद्धत्वरूपसे जो मोक्षलक्षण अर्थ पर्याय उत्पन्न हुआ है, इस कारण उसकी उत्पत्ति होनेपर सिद्धत्वपर्यायकी उत्पत्ति होती

है, और दोनों दशामें केवलज्ञानपना प्रतीत होता है; इसलिये ध्रुवत्व अन्याहत है। वह किस प्रकारसे ? कि—मोक्षके पूर्वभवस्थ जीवके चार घातिया कर्मोंका नाश होनेपर जो केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, उससे उत्पन्न होनेपर सिद्ध दशाको प्राप्त हुये जीवके संहननादिका अभाव होगया उसकी अपेक्षा तो व्यय है, और सिद्धत्व उत्पन्न हुआ उसकी अपेक्षासे उत्पाद है; तथा पूर्व संसारदशामे उत्पन्न जो केवल पर्याय है, उसका नाश न होनेसे ध्रौव्य है। इस प्रकार उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्यस्वरूप तीनों लक्षण मोक्षदशामें भी पूर्णतया है ॥ १४ ॥

तदुपरि श्लोकमाह ।

इसी विपयको आगेके श्लोकसे सिद्ध करते है ।

तत्सिद्धत्वे पुनश्चेति कैवल्यं यत्पुरास्थितम् ।
व्ययोत्पत्त्यैकतो नित्यं पक्षे स्याल्लक्षणत्रयम् ॥ १५ ॥

भावार्थः—पूर्व भवमें जो कैवल्य स्थित था वह पूर्वभवस्थ पर्यायकी अपेक्षासे सिद्ध अवस्थामे भी होता है; इसलिये व्यय तथा उत्पाद है; और व्ययोत्पत्तिकी एकतासे नित्य है; ऐसे मोक्षमे तीन लक्षण होते हैं ॥ १५ ॥

व्याख्या । यत्पुरास्थित कैवल्य भवस्थपर्यायापेक्षि तत्सिद्धत्वेऽपि सिद्धावस्थायामपि । क्षीणे भवस्थ उत्पन्ने सिद्धत्वे व्ययोत्पत्ती स्याताम् । पुनर्नित्य ध्रौव्य कुतो व्ययोत्पत्त्यैकतो व्ययश्चोत्पत्तिश्च व्ययोत्पत्ती तयोरैक्य ध्रौव्य तस्माद्व्ययोत्पत्त्यैकतो नित्य ध्रौव्य केवलम् । एव मोक्षे लक्षणत्रयं स्यात्काल्पनिकमेवेद भावाना विमर्शना बहुप्रकारा । अत एव "उप्पण्णे वा विगमे वा ध्रुवे वा इति योजना ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थः—जो भवस्थपर्यायकी अपेक्षाका धारक केवलज्ञान पहले भवस्थ दशामें स्थित था वह सिद्धावस्थामें भी होता है। यहां भवस्थके क्षीण होनेपर तथा सिद्धत्वके उत्पन्न होनेपर व्यय तथा उत्पाद होता है। और नित्य अर्थात् ध्रुवपना कहांसे हुआ ? इसका उत्तर यह है; कि—व्यय और उत्पत्ति इन दोनोंकी जो एकता है; उससे केवल ज्ञान ध्रुव है; इस रीतिसे मोक्षमें लक्षणत्रय संगत होते हैं; परन्तु यह लक्षणत्रय काल्पनिक ही हैं; क्योंकि—पदार्थोंके विचार करनेके अनेक प्रकार है। इसी कारण "उप्पन्ने वा, विगमे वा ध्रुवे वा" कथंचित् उत्पन्न होता है, कथंचित् नष्ट होता है, और कथंचित् ध्रुव है; इत्यादि वाक्योंकी योजना होती है; अर्थात् यह उत्पादआदि किसी अपेक्षासे निरूपित होते हैं ॥ १५ ॥

ज्ञानाद्या निजपर्याया ज्ञेयाकारेण ये स्थिताः ।
व्यतिरेकेण ते चैवं सिद्धस्य स्युस्त्रिलक्षणाः ॥ १६ ॥

भावार्थः—जो केवलज्ञान केवलदर्शनआदि निजपर्याय ज्ञेयके आकारसे

स्थित हैं, वह प्रतिक्षण सिद्धके अन्य अन्य होते रहते हैं, इस हेतुसे तीन लक्षणोंके धारक हैं ॥ १६ ॥

व्याख्या। ज्ञानाद्या केवलज्ञानकेवलदर्शनादयो निजपर्याया ज्ञेयाकारेण वर्त्तमानादिविषयाकारेण स्थिता परिणता सन्ति। ते च निजपर्याया व्यतिरेकेण प्रतिक्षणमन्योऽन्यत्वेन सिद्धस्य मुक्तस्य एवमनया दिशापि त्रिलक्षणा लक्षणत्रयवन्त स्युर्भवन्ति। तद्यथा प्रथमादिसमयेषु वर्त्तमानाकारेण सन्ति ये पर्यायास्तेषां पुनर्द्वितीयादिसमयेषु नाश. पुनरतीताकारेणोत्पादाकारभावो भवेदिति। पुन केवलज्ञानदर्शनमात्रेणाथवा केवलमात्रभावेन ध्रुवत्वमित्थ भावत्रयभावना कर्त्तव्या। इत्यमेव ज्ञेयदृश्याकारसम्बन्धेन केवलस्य त्रैलक्षण्य कथितम् ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थः—जो केवलज्ञान केवलदर्शनआदि निजपर्याय ज्ञेयाकारसे अर्थात् वर्त्तमानआदि विषयोंके आकारसे परिणत हैं; वह निजपर्याय व्यतिरेकसे अर्थात् प्रतिक्षणमें अन्य २ पनेसे सिद्ध अर्थात् मुक्त जीवके हैं। इस प्रकारसे भी वह ज्ञानादि पर्याय तीन लक्षणोके धारक हैं, वह इस प्रकार कि प्रथमआदि क्षणमे जो पर्याय वर्त्तमान आकारसे स्थित है, उनका फिर द्वितीयआदि क्षणोंमे नाश होगा और भूत आकारसे उत्पादका आकारत्व होगा। और केवलज्ञान तथा केवलदर्शनरूपसे अथवा केवलमात्र भाव से उनमे ध्रुवत्व है, इस प्रकार केवलज्ञानादि पर्यायोंमे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीनों भावोंका विचार करना चाहिये। ऐसे ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थ) और दृश्य (देखने योग्य पदार्थ) के आकारके संबंधसे केवलके त्रिलक्षणताका कथन किया है ॥ १६ ॥

तथा सिद्धादिशुद्धद्रव्यस्य कालसवधात्त्रैलक्षण्य कथयन्नाह।

अब इसी प्रकार सिद्धआदि शुद्ध द्रव्यके भी कालके सवन्धसे त्रिविधलक्षणता दर्शाते हुए यह सूत्र कहते हैं।

एवं ये क्षणसंवन्धे वर्त्तयन्ति पदार्थकाः।
तेभ्यस्त्रिलक्षणत्वं च, अन्यथा स्युरभावकाः ॥१७॥

भावार्थः—ऐसे ही जो पदार्थ क्षणके संबंधसे पर्यायोंको प्रवर्त्तित करते हैं, वह उन्हीं भावोंसे त्रिविधलक्षणयुक्त हैं, यदि ऐसा न माना जाय तो वह अभावरूप ही होंगे ॥ १७ ॥

व्याख्या। एव ये पदार्थका भावा क्षणसबन्धेऽपि पर्यायतो वर्त्तयन्ति परिणामयन्ति। तेभ्यो भावेभ्यस्त्रिलक्षणत्व समवेत्। अन्यथा वैपरीत्येन अभावका अभावा. स्युरित्यर्थं। यथा हि द्वितीयक्षणे इति भावे इति। आद्यक्षणे सबधपरिणामनाशो प्राप्त, द्वितीयक्षणसबन्धेन परिणामादुत्पन्न, क्षणसबन्धमात्रेण ध्रुवस्तत कालसबन्धात्त्रैलक्षण्यासमव उक्त। न चेदेव तर्हि वस्तु अवस्तु भवेत्। उत्पादव्ययध्रौव्ययोगजभावलक्षणमस्ति तद्राहित्ये शशविषाणादिवदभावरूपतामासादयेत् ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थः—इस प्रकारसे जो पदार्थ अर्थात् भाव क्षणके संबन्धमे भी पर्यायसे परिणमनको प्राप्त होते है, वह उन्हीं भावोसे त्रिविधलक्षणसहित संभवे हैं। और यदि इसके विपरीत मानो अर्थात् उक्त सिद्धादि भावोंको त्रिविधलक्षणसपन्न न मानो तो वह अभावस्वरूप ही हो जायेंगे। यह श्लोकका अक्षरार्थ है। अब इसका विशेष निरूपण इस प्रकार है, जैसे श्लोकमें क्षण यह जो पद है, उससे द्वितीयआदि क्षणका ग्रहण है। प्रथम क्षणमें भावोंके साथ संबन्धसे परिणामका नाश प्राप्त हुआ और द्वितीय क्षणके संबन्धसे परिणाम उत्पन्न हुआ और दोनों क्षणके सबंधमात्रसे ध्रुवत्व है। इस प्रकार कालके संबंधसे त्रिविधलक्षणका संभव कहा गया। और यदि ऐसा न हो तो वस्तु (पदार्थ) अवस्तु हो जायगा, क्योंकि—उत्पाद व्यय और ध्रौव्य संबन्धजन्यता ही भाव (पदार्थ)का लक्षण है, और उस त्रिविधलक्षण संबंधके अभावमे तो पदार्थ शशविषाण (खरगोशके सींग)आदिके समान अभावरूपताको प्राप्त होगा ॥ १७ ॥

एकदा निजपर्याये बहुसंबंधरूपता ।
उत्पत्तिनाशयोरेवं संभवेन्नियता ध्रुवे ॥ १८ ॥

भावार्थः—एक कालमें निजपर्यायमे उत्पत्ति, नाश तथा ध्रुवके विपयमे अनेक संबन्धाकारता निश्चित रूपसे संभवती है ॥ १८ ॥

व्याख्या। एकस्मिन्काल एवमनया दिशा निजपर्याये जीवपुद्गलयोस्तथा परपर्याये आकाशधर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायानामेतेषा द्रव्याणामुत्पत्तिनाशयोर्ध्रुवे बहुसबन्धरूपता अनेकयोगाकारता नियता निश्चिता सभवेत्। यतश्च यावन्तो जिनपर्याया स्वपर्यायास्तावन्त उत्पत्तिनाशाश्च जायन्ते। ततश्च नियता नियामकता ध्रुवे ध्रौव्यस्वरूपे यावन्तो ध्रुवस्वभावास्तावन्तो नियताकारा सन्ति। तथा च पूर्वापरपर्यायानुगत आधाराशस्तावन्मात्र एव भवेत्। तस्मादत्र समति। तथा च तद्गाथा – एगसमयमि एगो दवियस्स-बहुयावि होति उप्पाया उप्पापसम विगमा ठिइयउस्सुगाओ नियमा। १। एकस्मिन्समये एकैकस्य द्रव्यस्य बहवोऽनेके उत्पादा उत्पत्तयो भवन्ति। तथा पुनरुत्पादसमानास्तत्तुल्यानाशपर्याया अपि ज्ञेया। इति व्यवहारमार्गं। उत्सर्गतो विशेषभावत स्थिति स्थैर्यं नियता निश्चिता अस्ति। ध्रुवत्व नियतमित्यर्थं। उन्मज्जननिमज्जनभावशालिनो जलकल्लोला बहवो भवन्ति जल तु तावन्मिताकारस्थित्या परिणमति। तत एव तेपा समवादाविर्भावतिरोभावता भवतीति ज्ञेयम् ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थः—एक कालमे इसी पूर्वोक्त मार्गसे निजपर्याय अर्थात् जीव पुद्गलके तथा परपर्याय अर्थात आकाश, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय इनके ऐसे इन पाचों द्रव्योंके उत्पत्ति नाश तथा ध्रौव्यके विपयमे अनेक प्रकारके संबंधके आकार निश्चित रूपमे संभवते है। क्योंकि—जितने अपने पर्याय हैं; उतने ही उत्पत्ति तथा नाश भी होते

है, और उत्पत्ति विनाशमे अनेकाकार होनेसे ध्रौव्यमें भी वही नियत हैं; अर्थात् जितने ध्रुव स्वभाव हैं; उतने ही उनके आकार नियत हैं। और पूर्वपरपर्यायोंमें अनुगत जो आधारांश है, वह भी उतना ही होगा जितने कि—उत्पत्ति तथा नाश हैं। इसीलिये यहांपर संमतिग्रंथका प्रमाण है। और ग्रंथकी गाथा यह है, गाथार्थ—एक समयमे एक एक द्रव्यके अनेक उत्पाद होते हैं, और उत्पादके तुल्य ही उनके नाश पर्याय भी जानने चाहियें यह कथन व्यवहारमार्ग से है। और उत्सर्गमार्ग अर्थात् विशेषतासे स्थिरता निश्चित है; अर्थात् ध्रुवत्व नियत है। भावार्थ--उन्मज्जन निमज्जन भावशाली (क्षण क्षणमें) विनाश तथा उत्पत्तियुक्त जलके कल्लोल (तरंग) अनेक होते हैं, और जल उसी अपने परिमित आकारकी स्थितिसे परिणत है। उसीसे उन (जलकल्लोलों)के संभवसे उनकी प्रकटता तथा अप्रकटता होती रहती है, ऐसा जानना चाहिये ॥ १८ ॥

अथोत्पादस्य भेदान्कथयन्नाह।

अब उत्पादके भेदोंका कथन करते हुये कहते हैं।

प्रयोगविश्रसाभ्या स्यादुत्पादो द्विविधस्तयोः।
आद्योऽविशुद्धो नियमात्समुदायविवादजः ॥ १९ ॥

भावार्थः--नैमित्तिक तथा स्वाभाविक भेदसे उत्पाद दो प्रकारका होता है; उनमेंसे प्रथम प्रयोगजनित नैमित्तिक उत्पाद अविशुद्ध होता है, क्योंकि--नियमसे वह समुदाय विवादसे उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

व्याख्या। उत्पादो द्विविधो द्विप्रकारोऽस्ति, काभ्या द्विविध प्रयोगविश्रसाभ्या, एक प्रयोगजनित उत्पाद।१। अपरो विश्रसाजनित उत्पाद।२। पुनस्तयोर्द्वयोर्मध्ये आद्योऽविशुद्धो व्यवहारोत्पन्नत्वात्। स च निर्धारणनियमात्समुदायवादजनितो यत्नेन कृत्वा अवयवसयोगेन सिद्ध कथित। तथा चात्र समतिगाथा—उप्पाओ दुवियप्पो पओगजणिओ य वीससाचेव। तत्थयपओगजणिओ समुदयवाओ अपरिसुद्धो।१। उत्पादो द्विविकल्पो द्विविधस्तत्राद्य प्रयोगजनितोऽपरो विश्रसाजनितस्तत्र च प्रयोगजनित समुदायवादादपरिशुद्ध कथितो व्यावहारिकत्वात् ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थः--उत्पाद दो प्रकारका है, किनसे दो प्रकारका है? प्रयोग और विश्रसासे अर्थात् एक तो प्रयोग (निमित्त) जनित उत्पाद है, और दूसरा (विश्रसा) स्वभाव जनित उत्पाद है, और उन दोनोंके मध्यमे प्रथम प्रयोगजनित उत्पाद व्यवहारसे उत्पन्न होनेसे अविशुद्ध है, तथा वह निर्धारित नियमसे समुदायके विवादसे उत्पन्न होता है, अतएव यत्नसे अवयवोंके संयोगसे सिद्ध कहा गया है। और इस विषयमे संमतिग्रंथकी गाथा भी है; गाथार्थ—"उत्पादके दो विकल्प अर्थात् दो भेद हैं, एक प्रयोगजनित

दूसरा विश्रसाजनित उनमेसे प्रयोगजनित उत्पाद समुदायवादसे व्यावहारिक होनेसे अपरिशुद्ध कहा गया है ॥ १ ॥" ॥ १९ ॥

अथोत्पादस्य द्वितीयभेदं कथयन्नाह ।

विश्रसा हि विना यत्नं जायते द्विविधः स च ।
तत्राद्यचेतनस्कंधजन्यः समुदयोऽग्रिमः ॥ २० ॥

भावार्थः—विश्रसाजनित उत्पाद वह है; जो विना यत्न उत्पन्न होता है, वह विश्रसाजनित उत्पाद भी दो प्रकारका है, उनमेंसे प्रथम अचेतन स्कंधसे उत्पन्न समुदय नामसे कहा गया है ॥ २० ॥

व्याख्या । विश्रसाख्यो द्वितीय उत्पाद, विश्रसाशब्दस्य कोऽर्थ, सहज विना यत्नमुत्पद्यते य. स विश्रसोत्पाद सोऽपि पुनर्द्विविधो द्विप्रकार, एकस्तत्र समुदयजनित, द्वितीय एकत्विक । उक्त च साहाविओवि समुदयकउव्वगुणत्ति ओत्थहोजाहि । तत्रापि तयोर्द्वयोर्मध्ये आद्य समुदयजनितो विश्रसोत्पाद· अचेतनस्कधजन्य समुदय कथित । अभ्रादीना समुदयपुद्गलाना यथोत्पाद ॥ २० ॥

व्याख्यार्थः—विश्रसानामक द्वितीय उत्पादका भेद है। "विश्रसा" इस शब्दका अर्थ क्या है ? जो विना यत्नके सहज स्वभावसे उत्पन्न हो वह विश्रसाउत्पाद है। वह भी दो प्रकारका है, एक समुदयजनित है, द्वितीय एकत्विक है। ऐसा ही गाथामें कहा है, कि—"विश्रसाउत्पाद भी समुदय तथा एकत्विक भेदसे दो प्रकारका है" उन दोनोमेंसे अचेतन स्कंधसे उत्पन्न समुदयज प्रथम विश्रसाउत्पाद है। जैसे अचेतन मेघादिके समुदय पुद्गलोंका उत्पाद होता है ॥ २० ॥

सचित्तमिश्रजश्चान्यः स्यादेकत्वप्रकारकः ।
शरीराणां च वर्णादिसुनिर्धारो भवत्यतः ॥ २१ ॥

भावार्थः—सचित्त मिश्रसे उत्पन्न, दूसरा एकत्विक विश्रसोत्पाद है। शरीरके वर्णादिकोका सुनिर्धार इसीसे होता है ॥ २१ ॥

व्याख्या । तथा पुनर्द्वितीय सचित्तमिश्रज शरीरवर्णादिकाना निर्धारो ज्ञेय । सचित्ता· पुद्गला वर्णादीना तथा तथाकारवर्णादिपुद्गलाना परिणत्या परिणतानामेकत्वप्रकारक एकतारूपेण परिणत अनेकपा वर्णादीना संगताना परस्परमुत्पादधारया पिण्डीभूतानामवयवानामवयविधर्मत्वेन देहद्रव्याकारभूतानामणूना शरीरादिसुनिर्धारो भवति । देहादिपिण्डाना "सु" अतिशयेन निर्धारो वपुर्भावस्यस्व सारो । तथा च प्रज्ञापनाया स्थानाङ्गे च—तिविहा पुद्गलापन्नत्ता, त जहा पओगपरिणता १ मीसापरिणता २ वीससापरिणता ३ तत्र च प्रथम प्रयोगपरिणता पुद्गला ये भवन्ति ते जीवप्रयोगेण सयुक्ता. शरारादय.

सचित्ता १ तथा मिश्रपरिणताश्च ते ये जीवेन पुद्गला मुक्ताः कलेवरादय २ पुनश्च विश्रसापरिणताः स्वभावेन परिणता । यथाभ्रेन्द्रधनुरादय ३ एवं च सत्यत्र विश्रसाख्यस्य भेदस्य स्वभावजनितस्य द्वैविध्य प्रदर्शितम् । अचेतनस्कन्धजन्यसमुदायाख्य प्रथमस्तत्र सचित्तमिश्रजन्यैकत्वप्रकारकशरीरादिवर्णादिसुनिर्धारसंज्ञो द्वितीय । अत्राय विशेषः स्वाभाविके परिणमनेऽचित्तपुद्गलैरेवायत्नसाध्यव्यवहार उपदिष्ट इह तु द्वयमपि ॥२१॥

व्याख्यार्थ.—दूसरा सचित्तमिश्रसे उत्पन्न हुआ विश्रसाउत्पाद है; शरीरवर्णादिका निर्धार इसीसे समझना चाहिये । वर्णादिकोंके जो पुद्गल हैं, वह सचित्त हैं । परिणतिसे परिणमनको प्राप्त हुए उन उन आकारके वर्णादिरूप पुद्गलोंका एकत्व प्रकार अर्थात् एकतारूपसहित सुनिर्धार होता है; अर्थात् अनेक प्रकारके वर्णआदिरूप मिले हुए तथा उत्पादकी धारासे परस्पर पिण्डरूप हुए अवयव स्वरूप और अवयवीके धर्मसे देह रूप देखनेमें आने योग्य आकारके धारक परमाणवोंके, जो शरीरआदि पिण्डोंका अतिशयरूपसे निर्धार अर्थात् शरीरके रूपकी अवस्था होती है; सो सचित्तमिश्रसे उत्पन्न एकत्व प्रकारक दूसरा विश्रसाउत्पाद है । यही विषय प्रज्ञापना और स्थानाङ्ग शास्त्रमें कहा गया है; वह पुद्गल तीन प्रकारसे परिणत हैं, जैसे—प्रयोगपरिणत १ विश्रपरिणत २ विश्रसापरिणत ३ इन तीनोंमें प्रथम जो प्रयोगपरिणत पुद्गल हैं; वह जीवके प्रयोगसे अर्थात् जीवके व्यापारसे संयुक्त शरीरादि सचित्त हैं । मिश्रपरिणत वह हैं; कि—जो पुद्गल जीवसे मुक्त हैं, जैसे कलेवरआदि । और विश्रसा परिणत पुद्गल वह हैं, जो स्वभावसे ही परिणत हैं, जैसे इन्द्रके धनुषआदि । इस प्रकारका सिद्धान्त होनेसे यहांपर स्वभावसे उत्पन्न होनेवाला जो विश्रसानामक भेद है; उसके दो प्रकार दिखाये । उनमें अचेतन स्कंध(अचेतन पुद्गलोंके समुदाय)से उत्पन्न समुदयनामक तो प्रथम भेद है, और सचित्तमिश्रसे उत्पन्न अर्थात् चेतनसहित पुद्गलोंसे मिलेहुए पुद्गलोंसे उत्पन्न एकत्व प्रकारका धारक शरीरआदिके वर्णआदिका निर्धारसंज्ञक द्वितीय भेद है । इन दोनोंमें यह विशेषता है, कि—स्वाभाविक परिणमनमें अचित्त (चेतनरहित) पुद्गलोंसे ही अयत्नसाध्य व्यवहारका उपदेश किया गया है, और एकत्विक विश्रसोत्पादमें सचित्त अचित्त दोनों प्रकारके पुद्गलोंसे साध्य व्यवहारका उपदेश है ॥ २१ ॥

पुनर्भेदं दर्शयन्नाह ।

फिर भी उत्पादके ही भेदको दिखाते हुए अग्रिम सूत्र कहते हैं ।

यत्संयोगं विनैकत्वन्तद्द्रव्यांशेन सिद्धता ।

यथा स्कन्धविभागाणोः सिद्धस्यावरणक्षये ॥ २२ ॥

भावार्थः—जो संयोगके विना ही विश्रसाउत्पाद है, वह एकत्व है, और उसीको द्रव्यांशसे उत्पाद जानना चाहिये । जैसे द्विप्रदेशस्कंधके विभागसे अणुका उत्पाद होता है, और कर्मोंके विभागसे जीवके सिद्धता उत्पन्न होती है ॥ २२ ॥

व्याख्या। संयोग विना विश्रसोत्पादो यद्भवेत्तदेकत्व ज्ञेयम्। तदेवैकत्व द्रव्यांशेन द्रव्यविभागेन सिद्धता नाम उत्पन्नत्व ज्ञेयम्। यथा द्विप्रदेशादिस्कन्धविभागेनाणो परमाणोर्द्रव्यस्योत्पाद, तथा आवरणक्षये कर्मविभागे जाते सति सिद्धस्य सिद्धपर्यायस्योत्पाद इति। "अवयवसंयोगेनैव द्रव्यस्योत्पत्तिर्भवति परन्तु विभागेन द्रव्यस्योत्पत्तिर्न भवति" इत्यमेकेनैयायिकादय कथयन्ति। तेषा मत एकतन्त्वादिविभागेन खण्डपटोत्पत्ति कथ जाघटीति प्रतिबन्धककालभावस्यावस्थितावयवसंयोगस्य हेतुताकल्पने महागौरवात्। तस्मात् कुत्रचित्संयोगात् कुत्रचिद्विभागाद्द्रव्योत्पादकता मन्तव्या। तदा विभागजपरमाणूत्पादोऽप्यर्थत सिद्ध स्यात्। समतिशास्त्र इत्थ सूचितमस्ति। तदुक्तम् "दव्वतरसंयोगादि केईदवियस्सबिति उप्पायत्था। कुशलविभागजायण इच्छति अणुहुणुएहिं दव्वे आ।१। द्वेत्ति अणुयत्ति दविए मोततो असुणविभत्तो। त पिहु विभागजाणिओ अणुत्तिजाओ अणू होइ।२।" आभ्यांगाथाभ्यां भावार्थोऽवधार्य। यथा परमाणोरुत्पाद एकत्वजन्यस्तथा येन संयोगेन स्कन्धो न निष्पद्यते एतादृशो धर्मास्तिकायादीना जीवपुद्गलयोस्संयोगस्तद्द्वारा यश्च संयुक्तद्रव्योत्पादोऽसंयुक्तावस्थविनाशपूर्वक, तथा ऋजुसूत्रनयाभिमतो यश्च क्षणिकपर्यायप्रथमद्वितीयसमयादिव्यवहारहेतुस्तद्द्वारा यश्चोत्पादश्च तत्सर्वमेकत्वं ज्ञेयम्॥ २१॥

व्याख्यार्थः—संयोगके विना जो विश्रसानामक उत्पाद है, वही एकत्व है। और उसी एकत्वको द्रव्यांशसे अर्थात् द्रव्यके विभागसे सिद्धता अर्थात् उत्पन्नत्व जानना चाहिये। जैसे दो प्रदेशआदि स्कंधके विभागसे परमाणु द्रव्यका उत्पाद है, तथा आवरणक्षय अर्थात् कर्मोंका विभाग (नाश) हो जानेपर सिद्ध पर्यायका उत्पाद है। अवयवोंके संयोगसे ही द्रव्यकी उत्पत्ति होती है; परन्तु विभागसे उत्पत्ति नही होती" इस प्रकार कोई कोई नैयायिकआदि कहते है। उनके मतमे एक तंतुआदिके विभागसे खंडपटकी उत्पत्ति कैसे घटित हो सकती है। प्रतिबंधक काल भावको अथवा शेष अवस्थित अवयवसंयोगको कारणता माननेसे अतिगौरव है। इसलिये कहीं संयोगको कही विभागको द्रव्यकी उत्पत्तिमे कारणता माननी चाहिये। इससे विभागसे परमाणुकी उत्पत्ति भी अर्थसे सिद्ध हो गई। और संमतिशास्त्रमें भी इसी प्रकार सूचित किया है, जैसे "कोई कोई द्रव्यान्तरके संयोगसे ही द्रव्यकी उत्पत्ति मानते हैं; और तर्कमें कुशल विद्वान् तो विभागसे भी द्रव्यकी उत्पत्ति चाहते हैं।१। क्योंकि-अणु तथा द्व्यणुक द्रव्योंसे भी अणु द्रव्योमें उत्पत्ति मानी गई है। अतएव द्विप्रदेश अणु स्कंधके विभागसे अणुपरिमाण द्रव्यकी उत्पत्ति होनेसे अणुजन्य अणु होता है। २।" इन दोनों गाथाओंसे यह भावार्थ मनमें धारण करना योग्य है; कि-जैसे परमाणुकी उत्पत्ति एकत्व अर्थात् द्विप्रदेश स्कंधके विभागसे जन्य है; वैसे ही जिस संयोगसे स्कंध नही सिद्ध होता है; ऐसा जो धर्मास्तिकायादिकोंका और जीव तथा पुद्गलका संयोग है; और उसके द्वारा जो संयुक्त द्रव्यकी उत्पत्ति है, वह असंयुक्त अवस्थाके विनाशपूर्वक है, तथा ऋजुसूत्र

नयके अभिमत जो क्षणिक पर्याय प्रथम द्वितीय समयआदिके व्यवहारका कारण है; उसके द्वारा जो उत्पाद है, वह सब एकत्वउत्पाद समझना चाहिये ॥२२॥

अत्र न किंचिद्विवादस्तत्र श्लोकमाह।

यहा कुछ विवाद नहीं है, इस विषयमे श्लोक कहते हैं।

स्कन्धहेतुं विना योगः परयोगेण चोद्भवः।
क्षणे क्षणे च पर्यायाद्यस्तदैकत्वमुच्यते ॥२३॥

भावार्थः—स्कंध हेतुके विना जो संयोगे है, परके योगसे जो उत्पत्ति है, तथा क्षणिक पर्यायसे जो उत्पाद है, वह सब एकत्वउत्पाद है ॥ २३ ॥

व्याख्या। स्कन्धहेतुं विना य सयोग, परयोगेन धर्मास्तिकायादिना यश्चोत्पाद, तथा च क्षणिक-पर्याये प्रथमद्वितीयादिद्रव्यव्यवहारहेतवस्तद्द्वारा य उत्पाद, तत्सर्वमेकत्व कथ्यते तत्र न कोऽपि विसवाद इति ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थः—स्कंधकी हेतुताके बिना जो संयोग ह, परयोग जो धर्मास्तिकाय आदिक हैं, उनसे जो उत्पाद है, तथा प्रथम द्वितीयआदि द्रव्य व्यवहारके कारण जो क्षणिक पर्याय हैं, उनके द्वारा जो उत्पाद है, वह सब विश्रसाका भेदरूप एकत्वउत्पाद कहा जाता है। इसमे किसी प्रकारका विवाद नही है ॥ २३ ॥

पुनर्भेद कथयन्नाह।

फिर उत्पादके ही भेदको कहते हुए अग्रिम सूत्र कहते हैं।

उत्पादो ननु धर्मादेः परप्रत्ययतो भवेत्।
निजप्रत्ययतो वापि ज्ञात्वान्तर्नययोजनाम् ॥२४॥

भावार्थः—धर्मास्तिकायआदिकी उत्पत्ति परप्रत्ययसे होती है, अथवा आन्तरिक नययोजनाको जानके निजप्रत्ययसे भी होती है ॥२४॥

व्याख्या। ननु धर्मादेरुत्पाद परप्रत्ययो भवेत्, अपि पुनर्निजप्रत्ययाद्भवेदन्तर्नययोजना ज्ञात्वा इति। भावार्थस्त्वयम्—धर्मास्तिकायादीनामुत्पादो नियमेन परप्रत्यय स्वोपष्टम्भगत्यादिपरिणतजीवपुद्गलादिनिमित्त उक्त। य उभयजनितस्स चैकजनितोऽपि भवेत्। ततस्तस्य निजप्रत्ययतापि कथचितु युक्ता निश्चयव्यवहारावधारणात्। अयमर्थ "आगासाइयाण तिण्ह परपच्चओ नियया" इति सम्मतिगाथायामकारप्रश्लेषणया वचनान्तरेण कृतोऽस्ति वृत्तिकारेण तमर्थमनुस्मृत्येहापि लिखितोऽस्ति। तस्माद्धर्मास्तिकायादीनामुत्पादो नियमात्परप्रत्यय एव। सोऽपि स्वोपष्टम्भगत्यादिपरिणतजीवपुद्गलादिनिमित्तः, उभयजनितोऽप्येकजनितोऽपि स्यात्। तस्य च निजप्रत्ययताप्यन्तर्नयवादेनोक्तास्ति भावना चेत्थ ज्ञेया ॥२४॥

व्याख्यार्थः—धर्मास्तिकायआदिकी उत्पत्ति परप्रत्ययसे होती है, और आभ्यन्तरिक (अन्दरूनी) नय योजनाको समझके निज प्रत्ययसे होती है। भावार्थ यह है, कि-धर्मा-

स्तिकाय (धर्मद्रव्य) आदिकी उत्पत्ति नियमसे परप्रत्ययसे अर्थात् धर्मास्तिकायआदिके आधारभूत गमनआदिमे परिणत जो जीव पुद्गल है, उनके निमित्तसे होती है ऐसा कथन किया गया है, और जो उभय (स्वप्रत्यय तथा परप्रत्यय) से जन्य होता है, वह एक जन्य भी होता हैं, इस वाक्यसे उस धर्मास्तिकायादिके उत्पादके निजप्रत्ययसे जन्यता भी कहनी योग्य हैं, क्योंकि-निश्चय तथा व्यवहारनयसे यह निश्चय होता है । "आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय इन तीनोके नियमसे परप्रत्ययजन्य उत्पाद है" इस संमतिग्रंथकी गाथामे वृत्तिकारने यह पूर्वोक्त अर्थ आकार प्रश्लेषण करके वचनान्तरसे किया हैं । उस अर्थका ही अनुसरण करके यहा भी लिखा गया है । इसलिये धर्मास्तिकायआदिका उत्पाद नियमसे परप्रत्यय जन्य ही है । और वह भी अपने आधारभूत गतिआदिमे परिणत जीव पुद्गलआदिके निमित्तसे है । और जो उभयजनित है, वह एकजनित भी होता हैं ; और इसके जो निजप्रत्ययता कही है, वह अन्तर्नयवादसे कही है । ऐसी भावना समझनी चाहिये ॥ २४ ॥

अथ नाशस्वरूपमाह ।

अब नाश (व्यय) का स्वरूप कहते है ।

नाशोऽपि द्विविधो ज्ञेयो रूपान्तरविगोचरः ।
अर्थान्तरगतिश्चैव द्वितीयः परिकीर्त्तितः ॥२५॥

भावार्थः—उत्पादके समान नाश भी दो प्रकारका है, उनमें एक रूपान्तर विगोचर और दूसरा अर्थान्तरगति नामसे कहा गया है ॥ २५ ॥

व्याख्या । नाशोऽपि द्विविधो ज्ञातव्य । एकस्तत्र रूपान्तरविगोचर. रूपान्तरपरिणाम. । द्वितीयस्तु अर्थान्तरगतिरर्थान्तरभावगमन चेति । भावार्थस्त्वयम् "परिणामो ह्यर्थान्तर, गमन न च सर्वथा व्यवस्थान न च सर्वथा विनाश, परिणामस्तद्विदामिष्ट' । १ । सत्पर्यायेण विनाश, प्रादुर्भावोऽसता च पर्ययत । द्रव्याणा परिणाम, प्रोक्त खलु पर्ययनयस्य । २ । एतद्वचन समतिप्रज्ञापनावृत्तिविषयी । कथचित्सद्रूपान्तरं प्राप्नोति सर्वथा न विनश्यति यत्तद्द्रव्यार्थिकनयस्य परिणामत्व कथितम् । पूर्वं सत्पर्यायेण विनश्यति, उत्तरासत्पर्यायेणोत्पद्यते यत्तत्पर्यायार्थिकनयस्य परिणामत्व कथितम् । एतदभिप्राय विचारयतामेकरूपान्तर-परिणामविनाश', एकश्चार्थान्तरगमनविनाश, इत्थ विनाशस्यापि भेदद्वय सपन्नम् ॥२५॥"

व्याख्यार्थः—नाश भी दो प्रकारका जानना चाहिये । उनमेंसे प्रथम रूपान्तर विगोचर अर्थात् एक रूपसे रूपान्तर (दूसरे रूपमें) परिणाम है, और द्वितीय अर्थान्तरगति अर्थात् एक पदार्थसे दूसरा पदार्थ हो जाता है । भावार्थ यह है । एक पदार्थसे अन्य पदार्थतामें गमन हो जाता है, सो परिणाम है, और सर्वथा विद्यमानता अथवा

नाश होना यह परिणामका स्वरूप परिणामके जाननेवालोंके इष्ट नहीं है ॥१॥ और सत् (विद्यमान) पर्यायसे नाश तथा अविद्यमान पर्यायसे उत्पाद जो है, सो पर्यायार्थिकनयकी विवक्षासे द्रव्योंका परिणाम कहा गया है । २ । यह वचन संमतिप्रज्ञापना वृत्तिमेंका है; उसका अभिप्राय यह है, कि—जो सत् (विद्यमान) पर्याय कथंचित् रूपान्तरको प्राप्त होता है, और सर्वथा नष्ट नहीं होता वह द्रव्यार्थिकनयका परिणाम कहा गया है । और पूर्व सत् पर्यायसे तो नष्ट हो और उत्तर जो अविद्यमान पर्याय है, उससे उत्पन्न होता हो वह पर्यायार्थिकनयका परिणाम कहा गया है । इस अभिप्रायको विचारनेवालोंके मतमे एक तो रूपान्तर परिणाम विनाश है, और एक अर्थान्तर गमन विनाश है, ऐसे विनाशके भी दो भेद सिद्ध हुए ॥ २५ ॥

पुनराह ।

पुनः दो प्रकारके नाशोका स्वरूप दिखाते है ।

तत्रान्धतमसस्तेजो, रूपान्तरस्य संक्रमः ।
अणोरण्वन्तरापातो ह्यर्थान्तरगमश्च सः ॥२६॥

भावार्थः—इन दोनोंमेसे अतिघनीभूत अंधकारका प्रकाशरूपमे जो संक्रमण है, वह परिणामरूप नाश है । और अणुसे जो अन्य अणुके साथ संयोग होता है; अर्थात् अणुसे जो द्व्णुक स्कन्धरूप प्राप्ति है, वह अर्थान्तंरगमनरूप नाश है ॥ २६ ॥

व्याख्या । तत्र नाशेऽन्धतमसोऽन्धकारस्य तेजोरूपान्तरस्य सक्रम उद्योततावस्थितद्रव्यस्य रूपान्तर-परिणामरूपनाशो ज्ञेय । च पुनरणो परमाणोरण्वन्तरापादोणोरण्वन्तरसक्रमो द्विप्रदेशादिभावमनुभवन् पूर्वपरमाणुत्व विगतमित्यनेनार्थातरगम स्कधपर्याय उत्पन्नस्तेन कृत्वार्थान्तरगतिरूपनाशस्य स्थितिर्भवति । निष्कर्षस्त्वयम्—यत्राकारस्तत्रापि तदाकारपरमाणुप्रचययोनिरन्धतम समस्ति तत्रैव पुनरुद्योतपरमाणुप्रचय-सचारनिरस्तान्धकारपरमाणुत्वतत्स्थानतत्तात्परमाणुसक्रमिततेज परमाणुत्वलक्षण रूपान्तरसक्रमो जात यथा अवयवाना परमाणूनामवयविस्कन्धत्वसक्रमेणार्थान्तरत्वोद्भावनयार्थान्तरगतिलक्षणो नाश समुत्पन्न इति ॥२६॥

व्याख्यार्थः—उस नाशमे अंधकाररूप द्रव्यका तेजोरूपमे जो संक्रमण (मिलता) है, अर्थात् अन्धकारसे प्रकाशरूप द्रव्यमे जो परिवर्तन (वदलना) है, उसको रूपांतर परिणामरूप नाश जानना चाहिये और अणु (परमाणु) का दूसरे परमाणुके साथ जो संयोग है, अर्थात् द्विप्रदेशादिभावको अनुभव करते हुए पूर्व परमाणुत्वरूपका नाश हो जाता है, इस कारणसे अर्थान्तरगमन हुआ अर्थात् अणुपर्यायसे स्कधपर्याय उत्पन्न हुआ इससे अर्थान्तरगतिरूप नाशका स्थिरत्व (ठहराव) होता है । भावार्थ तो यह है, कि-जहा आकार (काला रंग) है, वहा भी उस आकारके धारक परमाणवोंके समूहसे

उत्पन्न हुआ अन्धतम (गहरा अंधेरा) है; और फिर वहां ही (जहांपर अंधकार था उसी जगह) प्रकाशके परमाणवोंके समूहका संचार हुआ तब अंधकारके परमाणु तथा उन परमाणवोंका स्थान दूर हुआ और वह अंधकारके परमाणु उन तेज(प्रकाश)के परमाणवोंमें मिलगये बस यही रूपान्तरसंक्रम (अंधकारके परमाणवोंका तेजके परमाणुवोंमें मिलजाना) है; इसीको रूपान्तरविगोचरनाश कहते हैं । और अवयवरूप परमाणुओंका अवयवी स्कंधरूपमें जो संक्रम है, उससे जो अर्थान्तरका उद्भाव है, उसीसे अर्थान्तरगतिरूप नाशका द्वितीय भेद सिद्ध होता है ॥ २६ ॥

पुनराह ।

पुनः उसी विषयको कहते है ।

रूपान्तराणुसंबन्धात्स्कन्धत्वं यद्यणोरपि ।
तत्संयोगविभागाभ्यामपि भेदप्रबन्धता ॥ २७ ॥

भावार्थः—रूपान्तर अणुके संबन्धसे यद्यपि स्कंधता होती है, तथापि संयोग और विभागसे ही भेदकी प्रबंधता होती है ॥ २७ ॥

व्याख्या । यद्यप्यणो रूपान्तरपरमाणुसबन्धात्स्कन्धत्वमणुसवन्धस्कन्धतास्ति । तदिति तथापि सयोगविभागाभ्या कृत्वा द्रव्योत्पादनाशाभ्या द्विप्रकाराभ्यामेव भेदप्रबन्धता द्रव्यविनाशद्वैविध्यमेव ज्ञेयम्, एतदुपलक्षण ज्ञेयम् । यतो द्रव्योत्पादविभागेन यथा पर्यायोत्पादविभागस्तथा द्रव्यनाशविभागेनैव पर्यायनाश-विभागो भवेदिति । तत समुदयविभागस्तथार्थान्तरगमन चेति द्वयमेव व्यवह्रियते । तत्र प्रथमस्तन्तु-पर्यन्तपटनाश, द्वितीयो घटोत्पत्तिपर्यन्तमृत्पिण्डादिनाशश्च ज्ञेय । उक्त च समतौ-विगमस्सविएसविहा समुदयजणिअं मिसोउ दुविपय्यो । समुदयविभागमित्त अत्थतरभावगमण च । १ ।" इत्यादिगाथया ज्ञेयम् ॥ २७ ॥

व्याख्यार्थः—यद्यपि एक परमाणुके, अन्य परमाणुके सबंधसे अणुसबंधस्कन्धता है; तथापि संयोग और विभागसे अर्थात् द्रव्यके उत्पाद और नाशरूप जो दो प्रकार हैं; इनसे ही भेदप्रबंधता अर्थात् द्रव्यके नाशके दो प्रकार समझने चाहिये । यह उपलक्षणसे जानना चाहिये क्योंकि—द्रव्यके उत्पादरूप विभागसे जैसे पर्यायका उत्पादरूप विभाग होता है, वैसे ही द्रव्यके नाशरूप विभाग(भेद)से पर्यायका नाशरूप विभाग होगा । इसी हेतुसे समुदयविभाग तथा अर्थान्तरगमन ऐसे दो ही व्यवहारमें लाये जाते हैं । उनमें तन्तुपर्यायके अन्ततक जो पटका नाश है, वह प्रथम समुदयविभाग है; तथा घटकी उत्पत्तितक जो मृत्तिकापिंडआदिका नाश होता है, वह द्वितीय अर्थान्तरगमन है । और समितिमे कहा भी है । इसी प्रकार नाश भी समुदयजनित तथा मिश्र ऐसे दो प्रकारका है, इससे समुदयविभाग तथा अर्थान्तरगमन ऐसे दो प्रकारका नाश

(व्यय) होता है। इत्यादि गाथासे संयोग विभाग इन दोनोंसे भेदकी कल्पना समझनी चाहिये ॥ २७ ॥

ध्रौव्यं स्थूलर्जुसूत्रस्य पर्यायः समयादिकः ।
संग्रहस्य निजद्रव्यजात्या कालत्रयात्मकः ॥ २८ ॥

भावार्थः—स्थूलऋजुसूत्रनयका ध्रुवभाव समयआदिक (समय प्रमाण) पर्याय है। और संग्रहनयका निजद्रव्यजातिसे त्रिकालात्मक ध्रुवत्व है ॥ २८ ॥

व्याख्या । ध्रौव्य ध्रुवस्वमावोऽपि स्थूलर्जुसूत्रस्य ऋजुसूत्र द्विधा स्थूलसूक्ष्मभेदात्तत्र स्थूलर्जुसूत्रस्य पर्यायो मनुष्यादिक समयप्रमाणोऽस्ति । प्रथम स्थूल ऋजुसूत्रनयस्तदनुसारेण मनुष्यादिपर्यायाणा समयमान ज्ञेयमिति भाव । पुनर्द्वितीय सग्रहनयस्य सम्मतो निजद्रव्याजात्या जीवपुद्गलादिकनिजद्रव्यजात्या कालत्रयात्मकस्त्रिकालव्यापको ज्ञेय इति । किं च आत्मद्रव्येण गुणपर्याययोरात्मद्रव्य समानाधिकरणत्वेन अन्वयानुगम एव ध्रौव्यमिति । पुद्गलद्रव्येण गुणपर्याययो पुद्गलद्रव्यानुगम एव ध्रौव्यमिति । एव निजनिजजात्या निर्धारो ज्ञेय इति ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थः—स्थूल और सूक्ष्म इन भेदोंसे ऋजुसूत्रनय दो प्रकारका है; उनमे स्थूल ऋजुसूत्रके मतमे समयप्रमाण जो मनुष्यआदिक पर्याय है; सो ध्रुवस्वभाव है, भावार्थ यह है, कि—प्रथम जो स्थूल ऋजुसूत्रनय है; उसके अनुसार मनुष्यआदि पर्यायका जो समय है, उस प्रमाण (उतना) ध्रौव्य है, जैसे कोई जीव मनुष्यपर्यायमें पचास वर्ष रहा तो स्थूल ऋजुसूत्रके मतमें मनुष्यपर्यायके पचास वर्ष ही ध्रौव्य है। और दूसरा संग्रहनयके संमत निजद्रव्यजातिसे अर्थात् जीवपुद्गलआदि निजद्रव्यकी जातिसे त्रिकालमें व्यापक ध्रौव्य जानना चाहिये। तथा आत्मद्रव्यसे गुण और पर्यायमे आत्मद्रव्यसमानाधिकरणताका जो अन्वयानुगम है, सो ही ध्रौव्य है। पुद्गलद्रव्यसे गुण और पर्यायमे पुद्गलद्रव्यका अनुगम है; वही ध्रौव्य है। इस प्रकार अपनी अपनी जातिसे ध्रौव्यका निर्धार (निश्चय) समझना चाहिये अर्थात् आत्मद्रव्यके गुणपर्यायोंमे आत्मद्रव्यकी और पुद्गलद्रव्यके गुण पर्यायोंमे पुद्गलद्रव्यका ध्रौव्य रहेगा ओर इनकी अनन्तर जातिमे भी यही व्यवस्था समझनी चाहिये जैसे मृत्तिकाके गुणपर्यायों (घटादिक) मे मृत्तिका द्रव्यका ध्रौव्य रहता है ॥ २८ ॥

अर्थाः समर्थाः समये निरुक्ता इत्थं त्रिधालक्षणवन्त आप्तैः ।
सम्यग्धिया तान्परिभाव्य भव्या अर्हत्क्रमाम्भोजयुगं श्रयन्ताम् ॥ २९ ॥

भावार्थः—हे भव्य जीवो ! इस पूर्वोक्त रीतिसे यथार्थ तत्त्वको जाननेवाले तीर्थंकरोंने शास्त्रमे शक्तिके धारक धर्म अधर्मआदि षट् द्रव्य तीन प्रकारके लक्षणोंसहित

निरूपित किये है। उनको बुद्धिसे भली भांति विचारके श्रीअर्हन् देवके चरणकमलोका आश्रय ग्रहण करो ॥ २९ ॥

व्याख्या। अर्था षट् पदार्था. धर्माधर्माकाशपुद्गलकालजीवा समर्था शाश्वतपरिणामभाजः शक्तियुक्ता समये सिद्धान्ते निरुक्ताः कथिता आप्तैर्यथार्थतत्त्ववेदिभिस्तीर्थकृद्भिः। ते कीदृशा इत्थ पूर्वोक्तवर्णनरूपेण त्रिधालक्षणवन्तो लक्षणत्रयविराजमानाः। भावार्थस्त्वयम्--सिद्धान्ते सर्वेऽर्था विविधप्रकारेण त्रिलक्षणा कथ्यन्ते। लक्षणत्रय तूत्पादव्ययध्रौव्यात्मक तच्छील तत्स्वभाव च भाषितमिति। भव्या भवाय अर्हा भव्यास्तान् अर्थान् षडपि लक्षणत्रयभावनया सम्यग्बुद्धया परिभाव्य पर्यालोच्यार्हत्क्रमाम्भोजयुग जिनचरणपङ्कजद्वय श्रयन्तामाद्रियन्तामिति। तज्ज्ञाने सति तच्चरणभक्त्युत्पत्तिफल लक्ष्यीकृतम्। भोजेति श्लेषेण ग्रन्थकर्त्तुर्नाम सङ्केतश्चेति। यथा च ये पुरुषास्त्रिलक्षणभावनया विस्ताररुचिविशेषेण सम्यक्त्वमवगाह्यान्तरङ्गसुखानुभवाभिलाषपरा भवन्तु। पुनस्तथैव सम्यक्त्वपूर्वकमुक्तिप्राप्ति सुलभेति ध्येयम् ॥ २६ ॥

इति श्रीकृतिभोजसागरविनिर्मितायां द्रव्यानुयोगतर्कणायां सप्तनयगर्भितषड्द्रव्याणा त्रिलक्षणवर्णनाख्यो नवमोऽध्याय परिकल्पित ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थः—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव यह षट् पदार्थ जो कि निरन्तर परिणामके भागी तथा शक्तियुक्त हैं, उनको यथार्थ तत्त्वोके वेत्ता (जाननेवाले) तीर्थंकरोंने सिद्धान्तमे पूर्वोक्त उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वरूप तीन लक्षणोसे विराजमान वर्णन किये है। भावार्थ यह कि—जैनसिद्धातमे संपूर्ण पदार्थ अनेक प्रकारसे त्रिविध लक्षणसहित कहे जाते है; और लक्षणत्रय यह है, जैसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अर्थात् संपूर्ण पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप शील अथवा स्वभावके धारक हैं; ऐसा कहा गया है। इस हेतुसे हे भवके योग्य जीवो! उन षट् पदार्थोंको लक्षणत्रयकी भावनासे सम्यक् प्रकार बुद्धिद्वारा जानकर अर्थात् पूर्णरीतिसे विचार करके श्रीअर्हत् भगवान्के चरण कमलयुगलका सेवन करो अर्थात् आदर करो। तात्पर्य यह कि—षट् पदार्थोंका ज्ञान होनेपर श्री जिनदेवके चरणोंमे भक्तिका उत्पन्न होना यही मुख्य फल है। और श्लोकमे जो "क्रमाभोज" यह पद है; उसमें श्लेषसे "भोज" इस प्रकार ग्रंथकर्त्ताके नामका भी संकेत है और जो भव्य जीव हैं, वह इस प्रकार पदार्थमे त्रिलक्षणताके विचारसे उत्पन्न हुई जो विस्ताररुचि उससे सम्यक्त्वका अवगाहन करके अंतरंगसुख(मोक्षसुख)के अनुभवकी अभिलाषामें तत्पर होवे और उनको इसी प्रकारसे पहले सम्यक्त्व होकर तत्पश्चात् मुक्तिकी प्राप्ति सुगम होगी ऐसा विचार करना चाहिये ॥ २९ ॥

इति श्रीआचार्योपाधिधारक प० ठाकुरप्रसादविरचितभाषाटीकासमलङ्कृतायां द्रव्यानुयोगतर्कणाव्याख्यायां नवमोऽध्याय ॥ ९ ॥

अथ दशमाध्याये द्रव्यगुणपर्यायाणां भेदान् विततय विवृणोति ।

अब इस दशम (१०) अध्यायमें द्रव्य गुण तथा पर्यायोंके भेदोंको पृथक् पृथक् करके विवरण करते हैं।

भिन्नाभिन्नत्रिधाद्यर्थं निरूप्याथ स्वरूपतः ।
द्रव्यादीनां प्रवक्ष्यामि भेदानागमसंमतान् ॥ १ ॥

भावार्थः—कथंचित् भिन्न, कथंचित् अभिन्न तथा त्रिविध लक्षणयुक्त द्रव्यगुण पर्यायआदि अर्थका निरूपण करके अनन्तर सिद्धान्तके संमत द्रव्यादिके भेदोंको इस दशम (१०) अध्यायमे कहूंगा ॥ १ ॥

व्याख्या । द्रव्य गुणा पर्याया भिन्ना पुनरभिन्ना पुनस्त्रिविधा पुनस्त्रिलक्षणवन्त अर्था । भिन्नान्यभिन्नानि च त्रिधा च त्रिलक्षणानि चेति द्वन्द्व । आदिशब्दाद् भवभावादीनि तेषामर्थ प्रतिपादन तद्भिन्नाभिन्नत्रिधाद्यर्थं निरूप्य कथयित्वा । अथेति । पुन स्वरूपत स्वरूपात् द्रव्यादीना भेदानागमसमतान्सिद्धान्तोक्तान्प्रवक्ष्यामि कथयिष्ये ॥ १ ॥

व्याख्यार्थः—द्रव्य गुण तथा पर्याय भिन्न भी हैं, और अभिन्न भी हैं, और त्रिविध लक्षणयुक्त है। भिन्न अभिन्न और त्रिधा इनका यहा द्वंद्व समास है, और "त्रिधाआदि" यहा आदि शब्दसे भव, भावआदिका ग्रहण है, उनका जो अर्थ अर्थात् प्रतिपादन सो भिन्नाभिन्नत्रिधाद्यर्थ है, उसको अर्थात् भिन्न अभिन्न तथा त्रिधालक्षणयुक्त द्रव्यगुण, पर्याय, भव और भावादिके अर्थको वर्णन करके तदनन्तर शास्त्रमे कहे हुए जो स्वभावसे द्रव्यआदिके भेद हैं, उनको कहूँगा ॥ १ ॥

सम्यक्त्वं हि दयादानक्रियामूलं प्रकीर्तितम् ।
विना तत्संचरन्धर्मे जात्यन्ध इव खिद्यति ॥ २ ॥

भावार्थः—इन द्रव्यादिके ज्ञानसे जो सम्यक्त्व होता है, वह दया दान और क्रिया इन सबका मूल कारण कहा गया है। इस सम्यग्दर्शनके विना धर्मरूप मार्गमे प्रवृत्त हुआ पुरुष जन्मांधके सदृश दुःखको पाता है ॥ २ ॥

व्याख्या । अथैतेषा विज्ञानान्निश्चित सम्यक्त्व पकीर्तितम् । कीदृश दया जीवरक्षा, दानमभयादि पञ्चधा, क्रिया कर्त्तव्यानि एता मूल यस्य तद् । यदुक्त—जीवाइ नवपइत्थे जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्त" पुनर्विंशिकाया "दाणाइआ ओ एअ मि चेवसहलाओहुति किरियाओ । एयाओ विहु जम्हा मोक्खफलाओ पराओ अण ॥ १ ॥ इति वचनात् । तत्सम्यक्त्व विना धर्मे धर्ममार्गे सचरन् प्रवर्त्तमान खिद्यति क्लिश्यति क इव जात्यन्ध इव । यथा जात्यन्धो जन्मान्ध, पुमान्मार्गे पथि सचरन् खिद्यति गर्त्तापातादिदु खमनुभवति तथैव सम्यक्त्वहीनोऽपि भवकूपनिपाती स्यात् । तत सम्यक्त्व विना येऽगीतार्थास्तथाऽगीतार्थनिश्रिना स्वस्वामिनिवेशेन हठमार्गे पतिता सन्त सर्वे एते जात्यन्धप्राया ज्ञातव्या । मध्य ज्ञात्वा

कुर्वन्ति तदपि तेषा निष्फलमेव भवेत् । उक्त च "सुन्दर बुद्धी इकय बहुय पिण सुन्दर होई" ततो द्रव्यगुणपर्यायभेदपरिज्ञानाच्छुद्ध सम्यक्त्व आदर्तव्यम् ॥ २ ॥

व्याख्यार्थः—इन द्रव्यआदिके ज्ञानसे निश्चित सम्यक्त्व कहागया है; वह सम्यक्त्व कैसा है; सो कहते है; समस्त जीवोकी रक्षारूप दया, अभयआदि भेदसे पांच प्रकारका दान, और क्रिया अर्थात शास्त्रोक्त कर्त्तव्य यह जिसके मूल है । इस विषयमें अन्यत्र कहा भी है; कि-"जो जीवआदि नव ९ पदार्थोंको जानता है, उसीके सम्यग्दर्शन होता है । पुनः विंशिकानामक ग्रन्थमें ऐसा वचन है; कि—एक सम्यक्त्वके होनेपर दानादिक समस्त क्रिया सफल होती है, और इसीसे यह मोक्षफला अर्थात् मोक्षरूप फलको देनेवाली है, और सम्यक्त्वके विना जो क्रिया है, वह मोक्षरूप फलको देनेवाली नहीं है । इसलिये सम्यक्त्वके विना धर्मरूप मार्गमे प्रवृत्त हुआ मनुष्य ऐसे दुःखोंको पाता है, जैसे मार्गमे चलता हुआ जन्मान्ध । तात्पर्य यह कि—जैसे जन्मसे ही अंधा जीव मार्गमे चलताहुआ खड्डेमे गिरनेआदिरूप दुःखका अनुभव करता है, वैसे ही सम्यक्त्वसे जो हीन है, वह भी संसाररूपी कूपमे गिरनेवाला होता है । इस हेतुसे सम्यक्त्वके विना जो अगीतार्थ हैं; अथवा अगीतार्थनिश्रित है; वह सब अपने अपने दुराग्रहके वशसे हठरूप मार्गमे गिरे हुए है, इसलिये इन सर्वोको जन्मान्धोंके सदृश समझना चाहिये । और वह लोग जिस धर्म कर्मको अच्छा समझकर करते हैं, वह भी उनके निष्फल ही होता है । ऐसा कहा भी है "सुन्दर बुद्धिसे अर्थात् उत्तम परिणामोंसे कियाहुआ उत्तम काम भी सम्यक्त्वके विना सुन्दर नही होता" इसलिये द्रव्यगुण तथा पर्यायोके जाननेसे जो शुद्ध सम्यक्त्व होता है, उसका आदर करना चाहिये अर्थात् द्रव्यादिके ज्ञानसे सम्यक्त्वको शुद्ध करके उसका ग्रहण करना चाहिये ॥२॥

अथ नामत षण्णा द्रव्याणा कीर्त्तनमाह ।

अब नामसे स्वमाननीय षट् द्रव्योका कथन करते हैं ।

धर्माधर्मौ नभःकालौ पुद्गलो जीव इत्यमी ।
अर्थाः षट् समये ख्याता जिनैराद्यन्तवर्जिताः ॥३॥

भावार्थः—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव इस प्रकार इन आदि अन्तवर्जित छह द्रव्योको श्रीजिनेन्द्रोंने जिनागममें कहा है ॥ ३ ॥

व्याख्या । धर्मश्चाधर्मश्च धर्माधर्मौ धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायौ । तथा नभःकालौ नभश्च कालश्च नभःकालावाकाशास्तिकायकालौ । पुद्गल पुद्गलद्रव्यम्, जीवो जीवद्रव्यम्, इत्यमी षट् । न न्यूना नाधिका । अर्था पदार्था समये श्रीजिनप्रणीतागमे ख्याताः कथिता. श्रीजिनै. श्रीवीतरागैं । कीदृशा आद्यन्तवर्जिता अनाद्यनिधना इत्यर्थ । एतेषा षण्णा काल वर्जयित्वा पञ्चास्तिकाया अस्तय प्रदेशास्तै कायन्ते शब्दायन्त इति पञ्चा—

स्तिकायाः। कालस्यास्तिकायत्वं कथं नास्ति तत्राह। "अपएसिए काले" कालद्रव्यस्य प्रदेशसंघातो न विद्यते यत-एकः समयोऽन्यस्मात्समयान्न प्रश्लिष्यत एवमन्येषामपि। तथा हि "धर्माधर्माकाशादावेकैकमतः परं त्रिकमनन्तम्। कालं विनास्तिकाया जीवमृते चाप्यकर्तृणि ॥१॥ इत्यादि साधर्म्यवैधर्म्यादिभेदपरिज्ञापनाय प्रशमरत्यादिग्रन्था विलोकनीया। पुनरेतेषां भेदाः परिणामजीवमुत्ता सपएसाएयखित्तकिरियाय। निच्चं कारणकत्ता सव्वगदइयर अपवेशा ॥ १ ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थः—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य यह षट् पदार्थ न इनसे न्यून (कम) और न अधिक श्रीवीतरागदेवने अथवा आचार्योंने श्रीजिनविरचित आगममे कहे हैं। कैसे है, यह छह पदार्थ ? कि-आदि अन्त शून्य हैं, अर्थात् न तो कभी इनकी आदि हुई और न कभी इनका अन्त होगा। इन छहो पदार्थोंमेसे कालको छोड़कर बाकीके पाच अस्तिकाय है। अस्ति प्रदेशका नाम है, अतः प्रदेशोंसे जो कायन्ते "कहे जाय" वह अस्तिकाय कहलाते है। अब कालके अस्तिकायता क्यो नहीं है, इस विषयमे कहते हैं, कि—काल अप्रदेशी है; अर्थात् कालद्रव्यके प्रदेशोंका संघात नही है, क्योंकि—एक समय दूसरे समयसे भेदको प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार अन्य घटिकाआदिका भी भेद नहीं हो सकता हे। और धर्म, अधर्म, तथा आकाश यह तीनों एक एक हैं, ओर इनके आगेके तीन अर्थात् काल पुद्गल और जीव ये तीनो द्रव्य अनन्त है। तथा कालको छोडके सब अस्तिकाय हैं; और जोवके सिवाय सब अकर्त्ता है। इत्यादि साधर्म्य, वैधर्म्यआदि भेदोंके जाननेके लिये प्रशमरतिआदि ग्रन्थ देखने चाहिये। और इन छहों द्रव्योंके समस्त भेद यह है परिणामित्व, जीवत्त्व, मूर्त्तत्व, सप्रदेशत्व, एकत्व, क्षेत्रत्व क्रियावत्व नित्यत्व कारणवत्व कर्तृत्व सर्वगतत्व असर्वतत्व और प्रदेशत्व। इन भेदोंसे साधर्म्य वैधर्म्यका ज्ञान करना चाहिये अर्थात् जो धर्म जीवमें और पुद्गलमे दोनोंमे एकसे हों उनमे तो जीव पुद्गलके साधर्म्य है, और जो भिन्न २ हों उनमे वैधर्म्य है, ऐसे सबमें समझना ॥३॥

अथ धर्मास्तिकायस्य लक्षणमाह।

अब धर्मास्तिकायका लक्षण कहते है।

परिणामी गतेर्धर्मो भवेत्पुद्गलजीवयोः।
अपेक्षाकारणाल्लोके मीनस्येव जलं सदा ॥४॥

भावार्थः—लोकमे अपेक्षा कारण होनेसे पुद्गल तथा जीवके गमनका परिणामी धर्मास्तिकाय हैं; जैसे मीनके सदा गतिपरिणामी जल है ॥४॥

व्याख्या। गतेर्गमनस्य परिणामी अर्थाद्गतिपरिणामी पुद्गलजीवयोर्धर्मो धर्मास्तिकायो भवेत्। कस्माल्लोके चतुर्दशरज्ज्वात्मकाकाशखण्डे अपेक्षाकारणात् परिणामव्यापाररहितात्, अधिकरणरूपौदासीन्यहेतोश्च तत्र दृष्टान्तमाह। मीनस्येव जलं सदेति सदा निर-

न्तर जल यथा मीनस्य मत्स्यस्य गतिपरिणामि अस्ति अपेक्षाकारणात् । गमनागमनादिक्रियापरिणतस्य मत्स्यस्य जल अपेक्षाकारणमस्ति तथैव धर्मद्रव्यमपि ज्ञेयम् । निष्कर्षस्त्वयम् स्थले झषक्रियाव्याकुलतया चेष्टा हेत्विच्छाभावादेव न भवति । न तु जलाभावादिति गत्यपेक्षाकारणे मानाभाव इति चेन्न । अन्वयव्यतिरेकाभ्या लोकसिद्धव्यवहारादेव तद्धेतुत्वसिद्धेरन्यथान्त्यकारणेनेतराखिलकारणासिद्धिप्रसगादिति दिक् ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थः—जीव तथा पुद्गलके गति अर्थात् गमनमें परिणामी धर्मास्तिकाय द्रव्य होता है; क्योकि-वह धर्म द्रव्य लोकमे अर्थात् चतुर्दश (चोदह १४) रज्जुप्रमाण जो आकाशखंड है; उसमे यह धर्मद्रव्य अपेक्षा कारण है; और गमनरूप अथवा गमनकरानेरूप व्यापारसे रहित अधिकरणस्वरूप उदासीन कारण है। इस विषयमे दृष्टान्त कहते है । जैसे जल मीन (मत्स्य) की गतिमें सदा परिणामी है क्योकी-वह जल अपेक्षा कारण है । अर्थात् गमन तथा आगमनआदि क्रियामें परिणत मत्स्यके जल अपेक्षाकारण है । उसी प्रकार गमनमें परिणत जीव पुद्गलके धर्मद्रव्य भी अपेक्षा है; ऐसा जानना चाहिये । भावार्थ तो यह है; कि-वह मीन स्थलमे अपनी गमनक्रियामें व्याकुलित होता है, और उस-व्याकुलतासे जो गमनकी चेष्टाकी कारणभूत इच्छा है; वह इच्छा ही नहीं होती इसीसे वह मीन स्थलमें गमन नही करता है । वहा कोई शंका करता है; कि-मीन-स्थलमें जो गमन नहीं करता है, सो जलके अभावसे नहीं करता है; और तुम जो जलको गतिमे अपेक्षा कारण मानते हो इसमें कोई प्रमाण नही है ? उसका समाधान यह है; कि—यह ठीक नहीं क्योकि—अन्वय और व्यतिरेकसे जो लोकमें प्रसिद्ध व्यवहार है; उसीसे उस जलमे गमनकी कारणता सिद्ध होती है; अर्थात् जिसके होनेपर कार्य हो और न होनेपर न हो यही अन्वयव्यतिरेक है, और जिसमे अन्वयव्यतिरेक घट जाय वही लोकमें कारण माना जाता है, इस प्रसिद्ध व्यवहारसे जल भी मीनकी गतिमें कारण है; क्योंकि-जलके होनेपर मीन गमन करता है; और जलके अभावमें नहीं इसलिये जल गमनमें कारण है । यदि ऐसा न मानोगे तो अन्तके कारणसे अन्य सब कारणोंकी असिद्धिका प्रसंग होगा । यह संक्षेपसे धर्मद्रव्यका लक्षण हुआ ॥४॥

अथाधर्मास्तिकायस्य लक्षण कथयन्नाह ।

अब अधर्मास्तिकायका लक्षण कहते है ।

स्थितिहेतुरधर्मः स्यात्परिणामी तयोः स्थितेः ।
सर्वसाधारणो धर्मो गत्यादिर्व्ययोर्द्वयोः ॥५॥

भावार्थः—जीव तथा पुद्गलकी स्थितिका परिणामी और स्थितिका हेतु अधर्मद्रव्य है; और यह गति तथा स्थितिरूप अखिल साधारण धर्म इन धर्म अधर्मरूप दो ही द्रव्योंमे है ॥५॥

व्याख्या । तयो पुद्गलजीवयो स्थितिपरिणामी अपेक्षाकारण स्थितिहेतुश्चाधर्मास्तिकायद्रव्य भवेत् । गतिस्थितिपरिणतो गत्यादिरुच्यते । ईदृशोऽखिलसाधारणो धर्मो द्वयोर्द्रव्ययोरेव नान्येषा धर्माधर्मौ विहाय गतिस्थिती क्वापि न जायेते । तथा च गतिस्थितिपरिणताना सर्वेषा द्रव्याणा यदेकैकद्रव्यलाघवेन कारण सिद्धयति तत्कारणमेतयोरेव द्वयोर्द्रव्ययोरित्यर्थ । तेनच झषादिगत्यपेक्षाकारण जलादिद्रव्येषु वर्त्तते । तत्र धर्मास्तिकायादिद्रव्यलक्षणस्य नातिव्याप्तिर्भवतीति निष्टङ्क ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थः—जीव तथा पुद्गलके स्थितिपरिणामी अर्थात् अपेक्षाकारण और स्थितिका हेतु अधर्मद्रव्य है । गति और स्थितिमे परिणत जो धर्म सो गत्यादि कहलाता है । ऐसा समस्तमे साधारण धर्म दो ही द्रव्योमें है, अन्य द्रव्योंमे नहीं अर्थात् धर्मद्रव्यको छोडकर अन्य किसी द्रव्यमे गति नहीं है, और अधर्मद्रव्यके सिवाय अन्य किसी द्रव्यमे स्थिति नहीं है । और इससे यह सिद्ध हुआ कि-गति तथा स्थितिमे परिणत जो सर्व द्रव्य है, उनमे एक एक द्रव्यके लाघवसे जो कारणता सिद्ध होती है, वह कारणता इन्हीं दोनो द्रव्योंमे है । इससे मत्स्यादिके गमनकी जो अपेक्षा कारणता जल आदि द्रव्योंमे है, वहा धर्मास्तिकायादिद्रव्यके लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं हुई क्योंकि—वहा भी धर्मद्रव्यादि ही गतिआदिमे कारण है, यह तात्पर्य है ॥५॥

अथ धर्मास्तिकायद्रव्यस्य विषयिप्रमाण प्रतिदिशन्नाह ।

अब धर्मास्तिकाय द्रव्यकी सत्ताके विषयमें प्रमाणका उपदेश कहते हुए आगेका श्लोक कहते हैं ।

सहजोर्ध्वगमुक्तस्य धर्मस्य नियमं बिना ।
कदापि गगनेऽनन्ते भ्रमण न निवर्त्तते ॥६॥

भावार्थः—स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करनेवाले मुक्त जीवके धर्म द्रव्यके नियम विना अनन्त आकाशमें परिभ्रमण जो है, वह कभी भी नहीं निवृत्त होगा ।

व्याख्या । सहजोर्ध्वगमुक्तस्य निसर्गोर्ध्वगामिसिद्धजीवस्य धर्मास्तिकायप्रतिबन्ध विना अनन्ते अतटे गगने लोकालोकव्यापिनि भ्रमण गतिर्न निवर्त्तते न व्याहन्यत इति । किं च यदि गत्या धर्मास्तिकायद्रव्यस्य प्रतिबन्धकत्व न स्यात्तदा सहजोर्ध्वगामिसिद्धानामेकस्मिन्समये लोकाग्रयायिना तथैवालोकेऽनन्ते प्रसर्पतामद्यापि गमनस्योर्ध्वप्रवृत्तिलक्षणस्य निवृत्तिरपि न स्यात् । कथ तत् अनन्तलोकाशप्रमाणमलोकाकाशमस्ति । लोकाकाशस्य गतिहेतुत्वं चास्ति ततोऽलोके सिद्धगतिर्नास्ति इत्थ च कथयितु न शक्यते । यतो धर्मास्तिकाय विना लोकाकाशस्य व्यवस्थैव न सपद्यते । धर्मास्तिकायविशिष्टाकाश एव हि लोकाकाशस्तस्य च प्रतिहेतुत्वे घटादावपि दण्डविशिष्टाकाशत्वेनैव हेतुतास्यादिति न किञ्चिदेतत् । अन्यच्च अन्यस्वभावत्वेन कल्पिताकाशस्वभावान्तकल्पना चायुक्ता । तस्माद्गतिनिबन्धनोधर्मास्तिकायोऽवश्यमेव प्रमाणयितव्य । तदुक्त "चलणसहावो धम्मो पुग्गलजीवाण" इत्यादि समयप्रमाणमप्यत्र ध्येयम् ॥६॥

व्याख्यार्थः—स्वभावसे ऊर्ध्वगामी सिद्ध जीवका यदि धर्मास्तिकाय द्रव्यके प्रतिबन्ध विना अनन्त अर्थात् अतट (अपार) तथा लोक और अलोक दोनोंमें व्याप्त ऐसे आकाशमे परिभ्रमण जो है, सो नही रुक सकता है। और यदि गमनमें धर्मास्तिकाय-द्रव्यका प्रतिबन्धकत्व न हो तो एक समयमे लोकके अग्रभागमे जानेवाले और जैसे लोकमें गमन किया उसी प्रकार अलोक मे गमन करनेवाले तथा स्वभावसे ऊर्ध्वगमन-कारक ऐसे सिद्धोके ऊर्ध्वगमनरूप जो गमन है, उसकी निवृत्ति (रहितता) अबतक भी न हो क्योंकि–अनन्तलोकाशप्रमाण अलोकाकाश है, अर्थात् लोकसे अनन्त गुणा अलोक है। "लोकाकाश गतिमें हेतु है; इसलिये अलोकमें सिद्धोंका गमन नही है" ऐसा नही कह सकते क्योकि–धर्मास्तिकायके विना लोकाकाशकी व्यवस्था ही नहीं हो सकती है। क्योंकि–धर्मास्तिकायविशिष्ट (सहित) जो आकाश है, वह ही लोका-काश है; और उस लोकाकाशको ही यदि गमनका कारण माने तो घट आदिमे भी दण्डविशिष्ट जो आकाश है, वह हेतु हो जावे। इसलिये लोकाकाशको गतिमें कारण मानना यह पक्ष अकिंचित्कर (अयुक्त) है। और भी अन्यस्वभावयुक्तस्वरूपसे जो कल्पित आकाश है, उसके अन्य स्वभावकी कल्पना करना यह भी अयुक्त है, अर्थात् गतिहेतुता धर्मद्रव्यका स्वभाव है; उस गतिहेतुतासे युक्त जो आकाश उसकी लोकाकाश यह कल्पना की गई है, तब उस कल्पित लोकाकाशमें धर्मद्रव्यके स्वभावकी कल्पना अयोग्य ही है। इसलिये धर्मास्तिकायको गतिका हेतु अवश्य प्रमाणमें लाना चाहिये अर्थात् मानना चाहिये। और "धर्मद्रव्य पुद्गल और जीवोंको गमन करानेरूप स्वभावका धारक है" इत्यादि कहा हुआ जो सिद्धान्तका प्रमाण है, उसका भी यहा विचार करना चाहिये ॥ ६ ॥

अथ धर्मास्तिकाये प्रमाणमाह ।

अब अधर्मास्तिकायद्रव्यके विषयमे प्रमाण कहते है।

स्थितिहेतुर्यदा धर्मो नोच्यते क्वापि चेद्द्वयोः ।
तदा नित्या स्थितिः स्थाने कुत्रापि न गतिर्भवेत् ॥ ७ ॥

भावार्थः—अब यदि जीव पुद्गलकी कही भी स्थितिका हेतुभूत अधर्म द्रव्य नहीं कहोगे तो पुद्गल और जीवकी नित्य स्थिति ही होगी कहीं भी उनकी गति नहीं हो सकेगी ॥ ७ ॥

व्याख्या। यदा द्वयो पुद्गलजीवयो क्वापि स्थितिहेतुरवस्थानकारणमधर्मास्तिकायो नोच्यते तदा स्थाने सर्वत्र स्थाने नियता नियामिका स्थितिरेव स्यात्, न कुत्रापि गतिर्भवे-दिति। यदि च सर्वजीवपुद्गलसाधारणस्थितिहेतुत्वमधर्मद्रव्य न कथ्यते किन्तु धर्मा-

स्तिकायाभावप्रयुक्तगत्यभावेनालोके स्थित्यभाव एव निगदतामलोकाकाशेऽपि कस्मिंश्चिदपि स्थानके गतिं विना पुद्गलजीवद्रव्ययोर्नित्यस्थिति प्रापयितव्या स्यात् । इत्थमिव द्वितीय गतिस्थितिस्वातन्त्र्यपर्यायरूप चास्ति । यथा गुरुत्वलघुत्वयोरेकस्यैकाभावरूपाद्विशेषग्राहकप्रमाणात् । तस्मात्तथेति । तत. कार्यभेदेऽपेक्षा-कारणद्रव्यभेदोऽवश्य मन्तव्य" । धर्मास्तिकायाभावप्रयुक्तस्थित्यभावेन गतिभावकथनाद्धर्मास्तिकायस्याप्यपलापो भवेत्, निरन्तरगतिस्वभावेन वा द्रव्यमकर्तुं वा शक्य तर्हि निरन्तरस्थितिस्वभावेनापि कथ क्रियते । तस्माच्छ्रीजिनवाणीनिष्कर्षमासाद्य धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायेति द्रव्यद्वयमसकीर्णस्वभावेन भावनीयमिति ॥७॥

व्याख्यार्थः—यदि जीव तथा पुद्गलद्रव्यकी कहीं भी स्थितिका कारण अधर्म द्रव्य नहीं मानोगे तो सब जगह नियतरूपसे जीव पुद्गलकी स्थिति ही सिद्ध होगी कहीं भी गति न होगी तात्पर्य्य यह कि—यदि सब जीव तथा पुद्गलके प्रति साधारण रूपसे स्थितिका हेतुभूत अधर्मद्रव्यको नहीं कहते हो किन्तु धर्मास्तिकायके अभाव-प्रयुक्त जो गतिका अभाव है; उसीसे अलोकमे स्थितिका अभाव है, ऐसा कहते हो तो इस प्रकार कहनेवाले तुम्हारे मतमे अलोकाकाशमे भी किसी भी स्थानमे गतिके विना पुद्गल और जीवद्रव्यकी नित्य स्थिति प्राप्त करनी होगी यदि अलोकमें धर्म द्रव्य के न होनेसे गति नहीं होती ऐसा कहो तब तो अन्वय व्यतिरेकसे जैसे धर्म-द्रव्यको गतिमे कारणता है, ऐसे ही स्थितिमे अधर्मद्रव्यको कारण मानना पड़ेगा इस प्रकार गतिकी स्थिति एक स्वतन्त्र पर्याय है; और उसका कारण अधर्मद्रव्य है, न कि—गतिका अभाव स्थिति और धर्मका अभाव अधर्म है; जैसे विशेषसत्ताग्राहक प्रमाण होनेसे गुरुत्व लघुत्वमे एकका एक अभावरूप है; ऐसे ही धर्म अधर्म भी भावरूप हैं, क्योंकि—एक(धर्म) का कार्य गति; और दूसरे (अधर्म) का कार्य स्थिति है; तब कार्यके भेदसे अपेक्षाकारण द्रव्यका भी भेद अवश्य मंतव्य है; और धर्मास्तिकायके अभावप्रयुक्तस्थितिके अभावसे गतिभावका कथन होनेसे धर्मास्तिकाय द्रव्यका भी अपलाप (अभाव) हो जायगा यदि यह कहो कि—निरन्तर गतिस्वभावसे द्रव्य (द्व्यणुकादिद्रव्य) कि सिद्धि कैसे कर सकते हैं; तो निरन्तर स्थितिशीलतासे भी द्रव्यकी सिद्धि कैसे कर सकते हैं; क्योंकि—जीव पुद्गलोंमे गति क्रिया विना कुछ भी नहीं होसकता इस कारणसे श्रीजिनदेवकी वाणीसे तत्त्वको ग्रहण करके धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय यह दोनों द्रव्य असंकीर्ण (भिन्नभिन्न) स्वभाव हैं, ऐसी भावना अवश्य करनी चाहिये ॥७॥

अथाकाशद्रव्यस्य लक्षणमाविष्करोति ।

अब आकाशद्रव्यके लक्षणको प्रकट करते हैं ।

यो दत्ते सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहनम् ।
लोकालोकप्रकारेण द्रव्याकाशः स उच्यते ॥ ८ ॥

भावार्थः—जो साधारणरूपसे सब द्रव्योंको अवगाहन अर्थात् रहनेको देता है; वह आकाशद्रव्य हैं; और लोक तथा अलोक इन दो प्रकारोंसे कहा जाता है ॥ ८ ॥

व्याख्या । य आकाशास्तिकाय सर्वद्रव्याणा साधारणावगाहन सामान्यावकाश दत्ते स द्रव्याकाशो लोकालोकप्रकारेणोच्यत इति । यत. सर्वद्रव्याणा य सर्वदा साधारणावकाशदाता सोऽनुगत एक आकाशास्तिकाय कथित सर्वाधार इति । यथा पक्षिणा गगनमिवेति व्यवहारनयदेशभेदेन भवेत् । तद्देशीयानुगत आकाश एव पर्यवसन्न स्यात् । तथा च तत्तद्देशोर्ध्वभागावच्छिन्नमूर्ताभावादिना तद्व्यवहारोपपत्तिरिति वर्धमानाद्युक्त नानवद्यम् । तस्याभावादिनिष्ठत्वेनानुभूयमानद्रव्याधारांशापलापप्रसगात्, तावद्गतिसधानेऽपि लोकव्यवहारेणाकाशदेशप्रतिसधयोक्तव्यवहाराच्च । आकाशस्तु लोकाकाशादिभेदेन द्विधोक्त. । यतः सूत्रम् "दुविहे आगासे पणत्ते लोयागासेय अलोयागासेय" एतन्देद्वयम् ॥८॥

व्याख्यार्थः—जो सब द्रव्योंको साधारण(सामान्य)रूपसे अवकाश देता है; वह आकाशास्तिकाय लोक और अलोक इन भेदोसे आकाशद्रव्य कहलाता है । क्योंकि—जो सब द्रव्योंको सदा अवकाश देनेवाला है; वह अवकाशदातृतारूप एक ही आकाशास्तिकाय सर्वाधार कहा गया है । जैसे कि--पक्षियोंका आधार गगन (आकाश) है; यद्यपि यह व्यवहार नयदेशभेदसे होता हैं; परन्तु उन उन देशोंमें अनुगत जो एक आकाश है; उसीकी इस व्यवहारसे सिद्धि होती है । और उन उन प्रदेशोंमे ऊर्द्ध्वदेशावच्छेदसे मूर्तिमत्ताके अभावआदिसे अवकाशदातृत्वरूपसे आकाशके व्यवहारकी उपपत्ति होती हैं; ऐसा जो वर्धमानआदिका कथन है; सो अयुक्त वा दुष्ट नहीं है । क्योंकि—आकाश अभाव (शून्य) रूपताकी प्रतीति है; तथा सर्वदा अनुभूयमान जो संपूर्ण द्रव्योंकी आधारताका अंश है; उसके अपलाप (नाश) होनेका प्रसंग है; और जहांतक गतिका संधान है, वहांतक भी लोकव्यवहारसे आकाशदेशप्रतिसंधयोक्त व्यवहार है । और वह आकाश लोकाकाश, और अलोकाकाश इन भेदोंसे दो प्रकारका कहा गया है क्योंकि—"आकाश दो प्रकारके कहे गये हैं; एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश" ऐसा सूत्र है ॥८॥

अथैनमेवार्थं मीमासयन्नाह ।

अब इसी अर्थका विचार करते हुये कहते हैं ।

धर्मादिसंयुतो लोकोऽलोकस्तेषां वियोगतः ।
निरवधिः स्वयं तस्यावधित्वं तु निरर्थकम् ॥९॥

भावार्थः—धर्मादि द्रव्योंसहित जो आकाश है; वह लोकाकाश है, और जो धर्मआदि द्रव्योसे शून्य है; वह अलोकाकाश है । और वह स्वयं अवधिरहित है, उसकी अवधिका मानना निरर्थक ही है ॥ ९ ॥

व्याख्या। धर्मास्तिकायादिसंयुक्त आकाशो लोकास्तदितरस्त्वलोक । स च पुनर्निरवधिरपारोऽलोकस्तस्यालोकस्य स्वयमात्मना अवधित्वमन्तर्गडु इति। कश्चिदाहात्र यथा लोकस्य पार्श्वेऽलोकस्यापि पारोऽस्ति तथैवाग्रेऽपि द्वितीयतटे पारो भविष्यतीति ब्रुवाणमुत्तरयति। लोकस्तु भावरूपोऽस्ति तस्यावधित्व घटते परन्त्वग्रेऽलोकस्य केवलमभावात्मकस्यावधित्व कथ कल्पते शशशृङ्गवत् । यथा असदविद्यमान शशशृङ्ग न कुत्रापि निरीक्ष्यमाण विद्यमानवदाभाति, तथैवैतस्याप्यलोकस्य अविद्यमानस्यावधित्व न घटामाटीकते। अथ च भावरूपात्मकत्वमङ्गीक्रियते तदा तु षडतिरिक्तमन्यद्द्रव्यं नास्तीति व्यवहारादाकाशदेशरूपस्य तु तदन्तत्व कथयता बुद्धघाघातो जायते। तस्मादलोकाकाशस्त्वनन्तएव मन्तव्य इति। आकाशो यथा सान्तः शसितो धर्माधर्मानुभावात् तस्य भावस्तश्भावात्तदभाव । अलोकाकाशोऽपि सान्तो धर्माधर्मानुभावी भवन्नतिरिक्तद्रव्यत्वमापत्स्यते। तस्माद्यथोक्तमेव न्याय्यम् । यावता आकाशेन धर्माधर्मौ व्याप्य स्थितौ तावता तत्परिणामशालिना आकाशेनापि भवितव्यम् । तयोरभावात्तस्याप्यभाव सुपरिशीलनीय इति ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थः--धर्मास्तिकायआदि द्रव्योंसे संयुक्त जो आकाश है; वह लोकाकाश है, और उन द्रव्योंसे जो असंयुक्त है, वह अलोकाकाश है, और वह अलोक निरवधि अर्थात् अपार (अन्तरहित) है; क्योंकि—उस अलोकके अपने स्वरूपसे अवधित्व कहना यह निरर्थक है; अर्थात् अलोकाकाश अवधिसहित है, यह कहना व्यर्थ है। अब यहाँ कोई शंका करता है, कि—"जैसे लोकाकाशके पासमे अलोकाकाशका पार होता है, ऐसें ही आगे भी अर्थात् दूसरे तटमे भी उसका पार अवश्य होगा"? इस प्रकारकी शंका करनेवालेको उत्तर देते हुए कहते हैं; कि—लोकाकाश तो धर्मादिद्रव्योंका अधिकरण होनेसे भावरूप है; इसवास्तें उसका तों अन्त घटित होता है, परन्तु उसके आगे धर्मादि द्रव्योंसे शून्य केवल अभावस्वरूप जो सुस्सेके सींगके समान अलोकाकाश है, उसके अवधिसहितता कैसे कल्पित हो सकती है। जैसे अविद्यमान जो सुस्सेका सींग है; उसको देखो तो वह कहीं भी विद्यमान पदार्थके समान देखनेमें नहीं आता है, ऐसे ही विद्यमान जो अलोक है, इसके भी मर्यादाका कथन करना हैं, सो संगत नहीं है। और यदि इस अलोकाकाशको भावस्वरूप अङ्गीकार करो तो छह द्रव्यसे अतिरिक्त (सिवाय) कोई अन्य द्रव्य नहीं है, इस व्यवहारसे आकाशदेशस्वरूप जो अलोकाकाश है, उसके सान्तता कहनेवालोंकी बुद्धिका घात होता है। इसलिये अलोकाकाशको तो अनन्त (अपार) ही मानना चाहिये। आकाश अर्थात् लोकाकाशको जो सान्त कहा है, सो धर्म और अधर्मद्रव्यकी सामर्थ्यसे कहा गया है; और इसीसे वह भावरूप है, और धर्मादिके अभावसे अलोकाकाश अभावरूप है। यदि अलोकाकाशको भी सान्त मानोगे तो वह अलोकाकाश धर्म अधर्मका अनुभावी (सामर्थ्ययुक्त) होता हुआ छह द्रव्योंसे भिन्न द्रव्यताको प्राप्त हो जायगा। इसलिये

अलोकाकाशके विषयमें पूर्वकथित जो अवधिरहितता (अनन्तपना) है; सो ही युक्ति-युक्त है । तात्पर्य यह है, कि—जितने आकाशदेशमे धर्म अधर्म व्याप्त होकर स्थित हैं, उतने ही परिमाणसहित आकाशको भी होना चाहिये और जहा धर्म अधर्म इन दोनोंका अभाव है, वहा आकाशका भी अभाव ही समझना चाहिये अर्थात् अलोकाकाश अनन्त है; न कि सान्त ।। ९ ।।

अथ कालभेदानाह ।

अब कालके भेदोको कहते है ।

वर्त्तनालक्षणः कालः पर्यवद्रव्यमिष्यते ।
द्रव्यभेदात्तदानन्त्यं सूत्रे ख्यातं सविस्तरम् ।।१०।।

भावार्थः—वर्त्तनालक्षण जो काल है, वह पर्यवद्रव्य माना गया है; और द्रव्यके भेदसे उस कालका अनन्तपना उत्तराध्ययनसूत्रमे विस्तार से कहा गया है ।।१०।।

व्याख्या । कालस्तु परमार्थतो द्रव्य नास्तीति शङ्कमान निराकुरुते । वर्त्तनेति–सर्वेषा द्रव्याणा वर्त्तनालक्षणो नवीनजीर्णकरणलक्षण काल पर्यायद्रव्य इष्यते । तत्कालपर्यायेष्वनादिकालीनद्रव्योपचारमनुसृत्य कालद्रव्यमुच्यते । अत एव पर्यायेण द्रव्यभेदात्तस्य कालद्रव्यस्यानन्त्यम् । अनन्तकालद्रव्यभावन सूत्रे उत्तराध्ययने सविस्तर ख्यातम्, तथा च तत्सूत्रम्—"धम्मो अधम्मो आगास दव्वमिक्किक्कमाहिय । अणंताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल जतवो" । १ । एतदुपजीव्यान्यत्राप्युक्तम् । धर्माधर्माकाशादेकैकमत पर त्रिकमनन्तमिति । ततो जीवद्रव्यमप्यनन्त तस्य च वर्त्तमानपर्यायस्यार्थं कालद्रव्यमथा नन्तमित्युक्तमागमे । विस्तरस्तु ततोऽवधारणीय. ।।१०।।

व्याख्यार्थः—परमार्थमे कालद्रव्य नहीं है ? ऐसी शंका करनेवालेको "वर्त्तना" इत्यादि सूत्रसे निराकृत करते हैं। सब द्रव्योंका वर्त्तनालक्षण काल है; अर्थात् द्रव्योंको नवीन (नये) और जीर्ण (पुराने) करनेवाला जो है; वही काल है; और यह पर्यायद्रव्य माना गया है । उन कालके पर्यायोमें अनादि कालसे द्रव्यके औपचरिक व्यवहारका अनुसरण करके "कालद्रव्य" यह कहा जाता है । इसीलिये पर्यायके द्वारा द्रव्यका भेद होनेसे उस कालद्रव्यकी भी अनन्तता है । कालद्रव्य अनन्त है; इसकी सिद्धि उत्तराध्ययन-सूत्रमें विस्तारसहित कही गई है । और उस उत्तराध्ययनका सूत्र यह है; "धर्म, अधर्म, तथा आकाश यह एक एक कहे गये हैं, और काल पुद्गल तथा जीव यह अन्तके तीनों द्रव्य अनन्त है ।। १ ।।" इसी सूत्रके आधारसे अन्यत्र भी कहा है; कि-धर्म, अधर्म, तथा आकाश यह तीनों एक एक हैं; और इनसे आगेके तीनो द्रव्य अर्थात् काल, पुद्गल और जीव यह अनन्त है । इस हेतुसे जीवद्रव्य भी अनन्त है, और उस अनन्त जीव द्रव्यके वर्त्तमान जो अनन्त पर्याय है, उनकेलिये कालद्रव्य भी अनन्त है; ऐसा आगममें

कहा है। और इस कालद्रव्यका विस्तारसे वर्णन भी उन्हीं आगमोंसे अवधारण करना चाहिये ॥१०॥

अथ कण्ठतोऽपि सूत्रे जीवाजीवाभ्यामतीतकाल. कथितोऽनस्तमेव तथैव सूत्रयन्नाह।

अब कंठसे भी सूत्रमे जीव और अजीवसे अतीत काल कहागया है; इसलिये उस कालको उसी प्रकार सूत्रित करते हुये कहते हैं।

जीवाजीवमयः कालः समये न पृथक्कृतः।
इत्येके संगिरन्तेऽत्र धारयन्तः शुभां मतिम् ॥११॥

भावार्थः—कितने ही शुभ बुद्धिको धारण करते हुये आचार्य इस विषयमें यह कहते हैं, कि-सिद्धान्तमे कालको जीव, अजीवरूप ही माना गया है, जुदा नहीं किया गया॥ ११ ॥

व्याख्या। "समये सिद्धान्ते जीवाजीवमयो जीवाजीवरूप· काल कथित पृथग् भिन्नस्ताभ्यां न कृतस्ततो भिन्न कथ कथ्यते" इति पूर्वोक्तमेक आचार्या सगिरन्ते भाषन्ते अत्र। किं कुर्वन्त शुभां विशुद्धा मतिं बुद्धि धारयन्त शुद्धबुद्धिमता सुधीराणा यथोक्तश्रीजिनप्रणीततत्ववेतृणा प्राणिना सम्यक्त्वा· वाप्ति सुलभ भवतीति ध्येयम्। तथा च गौतमेन भद्रकपरिणामशालिना भगवान् पृष्ट। तदाहेति भगवन् किमय कालो जीवस्तथा जीवश्चेति प्रश्ने भगवानाह। गौतम जीवोऽपि काल, अजीवोऽपि काल तदुभय काल एव जीवाजीवयो कालेनोपजीव्योपजीवकभावसवन्ध सतिष्ठत इति ॥११॥

व्याख्यार्थः—समय अर्थात् जिनसिद्धान्तमे जीव तथा अजीवमय अर्थात् जीव और अजीवरूप काल कहागया है, तात्पर्य्य यह कि-कालको जीव और अजीव इन दोनोंसे भिन्न नहीं किया इस कारण इस कालद्रव्यको तुम जीव अजीवसे भिन्न कैसे करते हो अर्थात् जीव अजीवसे जुदा कालद्रव्य क्यों मानते हो। इस प्रकार यह पूर्वोक्त सिद्धान्त विशुद्ध बुद्धिके धारक एक आचार्य कहते हैं। इस कथनसे शुद्ध बुद्धिके धारक उत्तम धारणावाले और श्रीजिनेन्द्र देवने जैसे कहे वैसे ही तत्वोंके ज्ञाता भव्यजीवोंके सम्यक्त्वकी प्राप्ति सुलभ होती है, यह विचार करना चाहिये। सो ही दिखाते हैं, कि-भद्र परिणामोंके धारक गौतमस्वामीने एक समय श्रीमहावीरस्वामीसे पूछा कि-हेभगवन्! यह काल जीव है, वा अजीव है? इस प्रकार प्रश्न करनेपर श्रीभगवान् बोले कि-हे गौतम! जीव भी काल है, और अजीव भी काल है है, इसलिये जीव तथा अजीव दोनों काल ही है, क्योंकि-जीव तथा अजीवका कालके साथ उपजीव्यउपजीवकभाव सम्बन्ध पूर्णरूपसे स्थित है। ऐसा भगवान्का वचन है, इसलिये यह काल जीव अजीवरूप ही है, इनसे भिन्न नहीं ॥ ११ ॥

पुनस्तदेवाह ।

पुनः उसी कालद्रव्यके विषयमें कहते है ।

आहुरन्ये भचक्रस्य विश्वेचारेण या स्थितिः ।
कालोऽपेक्षाकारणं च द्रव्यमित्यपि पञ्चमे ॥१२॥

भावार्थः—और अन्य आचार्य कहते है, कि—संसारमें ज्योतिश्चक्रके संचार से जो स्थिति है; वह काल है, और कितने ही कालको अपेक्षाकारण कहते हैं, तथा कितने ही कालको द्रव्य कहते है ॥ १२ ॥

व्याख्या । अन्ये आचार्या एव कथितवन्तो भचक्रस्य ज्योतिश्चक्रस्य चारेण या विश्वे स्थितिरवस्थाविशेष स काल इत्यभिधीयते । तथा च वर्तुलाकार ज्योतिश्चक्र तस्य चारेण परत्वापरत्वनवपुराणादिभावस्थितिहेतु तस्यापेक्षाकारण मनुष्यलोके ह्यर्थस्य सूर्यक्रियोपनायकद्रव्यचारक्षेत्रप्रमाणमेवोपकल्पन घटते । तत एतादृश कालद्रव्य कथ्यते । तत एव भगवत्यङ्गे "कईण भते दव्वा पन्नत्ता । गोयमाद्दव्व पण्णत्ता । तं जहा धमत्थिकाए जाव अद्धासमये ।" एतद्वचनमस्ति तस्य निरुपचरितव्याख्यान घटते । तथा च वर्त्तनापर्यायस्य साधारणापेक्षा न कथ्यते तदा तु गतिस्थित्यवगाहनापेक्षासाधारणकारणत्वेन धर्माधर्मास्तिकायौ सिद्धौ जातौ तत्राप्यनाश्वास आयाति । अथ च "अर्थयुक्त्या ग्राह्यमस्ति तस्मात्केवलमाज्ञयैव ग्राह्यस्ति परन्तु कथं संतोषधृती भवेताम् ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थः—अन्य आचार्योंने इस प्रकार निरूपण किया है, कि—ज्योतिश्चक्रके संचारसे जो संसारमे स्थिति अर्थात् अवस्थाविशेष है, वही काल इस प्रकार कहा जाता है । सो ही स्पष्ट करके दिखाते हैं, कि-गोलाकार जो ज्योतिश्चक्र है, उसके संचारसे परत्व अपरत्व तथा नवीन पुराणआदिरूप जो पदार्थोंकी स्थिति है, उसका हेतु अर्थात् अपेक्षा कारण काल है । क्योंकि-मनुष्यलोकमे सूर्यकी जो गतिरूपा क्रिया है, वही पदार्थोंकी उपनायिका है, अर्थात् उन २ पर्यायोंमें पदार्थोंको प्राप्त करनेवाली सूर्यकी क्रिया है, और यह कल्पना जहांतक द्रव्योंका संचार क्षेत्र है, अर्थात् जहांतक द्रव्योंका संचरण होता है, वहांतक कालद्रव्यकी कल्पना घटित होती है । अतएव श्रीभगवत्यंगसूत्रमें भी यह वचन है । "**कईणं भंते दव्वापन्नत्ता गोयमाद्दव्वं पणत्ता तं जहा धमत्थिकाए जाव अद्धासमये**" अर्थात् हे भगवन् ! द्रव्य कै है, तब स्वामीने कहा कि-हे गौतम ! ६ द्रव्य हैं, वह जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, जीव, पुद्गल और काल । उसका यह निरुपचरित व्याख्यान संगत होता है । और यदि वर्त्तनापर्यायके साधारण अपेक्षा न कहें तो गति और स्थितिके अवगाहनमें अपेक्षारूप साधारण कारणतासे धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय सिद्ध होजांय परन्तु वहां भी अविश्वास होता है, और यह बात अर्थयुक्तिसे ग्राह्य है । उससे केवल आज्ञासे ही ग्रहण करने योग्य है, परन्तु संतोष और धैर्य कैसे होवें ॥ १२ ॥

एतन्मतद्वयं धर्मसंग्रहिण्यां च भाष्यके।
अनपेक्षितद्रव्यार्थिकमते तस्य योजना ॥१३॥

भावार्थः—कालके विषयमें यह दोनों मत धर्मसंग्रहणीमे तथा भाष्यमे प्रतिपादित हैं, और अनपेक्षित द्रव्यार्थिकनयके मतमे इसकी योजना होती है ॥ १३ ॥

व्याख्या। एतन्मतद्वय धर्मसग्रहिण्या श्रीहरिभद्रसूरिणा व्याख्यातम्। तथा च तद्गाथा "ज वत्तणाई रूवो कालो दव्वस्स चेव पज्जाओ। सो चेव तवो धम्मो कालस्सव जस्स जोण लोएत्ति। १।" एवमेतन्मतद्वयमल श्रीहरिभद्रसूरिसमत धर्मसग्रहिणीसूत्रोक्त ज्ञेयम्। तथा च एतन्मतद्वय भाष्यके श्रीतत्त्वार्थ-भाष्येऽपि वाचकैस्तथैव प्रणीतमस्ति। तथा च तद्ग्रन्थ—"कालश्चेत्येके" इति वचनाद्द्वितीयमत श्रीतत्वार्थ-व्याख्याने समथितम्। पुनस्तस्य कालस्यानपेक्षितद्रव्यार्थिकनयमते योजना युक्तिश्च भवति। तथा हि स्थूललोकव्यवहारसिद्धोऽय कालोऽपेक्षारहितश्च ज्ञेय। अन्यथा वर्त्तनापेक्षाकारणत्वेन यत्कालद्रव्य साधित तत्पूर्वापरादिव्यवहारविलक्षणपरत्वापरत्वादिनियामकत्वेन दिग्द्रव्यमपि सिद्ध स्यादिति। अथ च "आकाश-मवगाहाय तदनन्या दिगन्यथा। तावप्येवमनुच्छेदात्ताभ्या चान्यदुदाहृतम्। ।१।" इति सिद्धसेनदिवाकरकृतनि-श्चयद्वात्रिंशिकायं विमृश्याकाशादेव दिक्कार्यं प्रसिद्धयतीति। इत्यमङ्गीकुर्वता कालद्रव्य कार्यमपि कथचित्तत एवोपपत्ति स्यात्। तस्मात्कालश्चेत्येके इति सूत्रमनपेक्षितद्रव्यार्थिकनयेनैवेति सूक्ष्मदृष्ट्या विभावनीयम् ॥१३॥

व्याख्यार्थः—यह दोनों मत श्रीहरिभद्रसूरीके मान्य जो धर्मसंग्रहणी सूत्र है, उसमे कहे हुवे जानने। उस धर्मसंग्रहणीसूत्रकी गाथा यह है, "ज[1] वत्तणाई रूवो कालो दव्वस्स चेव पज्जाओ। सो चेव तवो धम्मो कालस्सच जस्स जोण लोएत्ति। १। और यह ही दोनों मत श्रीतत्त्वार्थाधिगमभाष्यमे श्रीसिद्धसेनजीने भी इसी प्रकार कहे हैं। ओर तत्त्वार्थसूत्र यह है "कालश्चेत्येके" (काल भी द्रव्य है, ऐसा एक आचार्य कहते हैं) इस सूत्रमे एके इस पदमे दूसरा मत इस सूत्रके व्याख्यानमे समर्थित कियागया है। और उस कालकी योजना अनपेक्षित द्रव्यार्थिकनयके मतमे होती है। सो ही दिखाते हैं, कि-यह काल स्थूल (मोटा) जो लोकव्यवहार है, उससे सिद्ध है, और अपेक्षारहित है। यदि ऐसा न हो तो जैसे वर्त्तनाका अपेक्षारूप कारण होनेसे काल द्रव्यको सिद्ध किया उसी प्रकार काल जिस पूर्वापरको साधता है, उससे विलक्षण (भिन्न) परत्व अपरत्वआदि व्यवहारका नियामक होनेसे दिशानामक द्रव्य भी सिद्ध हो जाय। और "आकाश अवगाहन होनेके लिये है, और दिशा उस आकाशसे भिन्न नहीं है, यदि ऐसा न हो और काल तथा आकाशसे भिन्न दिशारूप द्रव्यका उदा-हरण दें तो काल और आकाश इन दोनोके अनुच्छेदसे अर्थात्-काल भी रहेगा आकाश भी रहेगा और यह दिशा एक और हो जायगी ऐसे पृथक् द्रव्य सिद्ध होगा। इस

(१) इस गाथाका भावार्थ समझमे नही आया।

प्रकार सिद्धसेनजीकृत निश्चयद्वात्रिंशिकाके अर्थको विचारके आकाशसे ही दिशाका काम सिद्ध होता है; ऐसा जानना। और इस प्रकारके सिद्धान्तको स्वीकार करनेवालोंके कालद्रव्य कथंचित् कार्य ही है, अर्थात् मानना ही चाहिये ऐसा विचार होगा और इसीसे परत्व अपरत्वकी सिद्धि होगी। इसलिये "कालश्चेत्येके" यह सूत्र अनपेक्षित द्रव्यार्थिक नयसे ही कहागया है; इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टिसे विचारलेना चाहिये ॥ १३ ॥

अथ कालद्रव्याधिकारं दिगम्बरप्रक्रिययोपन्यस्यन्नाह।

अब कालद्रव्यका अधिकार दिगंबरमतकी प्रक्रियासे उपन्यसित करते हुये कहते हैं।

मन्दगत्याप्यणुर्यावत्प्रदेशे नभसः स्थितौ।
याति तत्समयस्यैव स्थानं कालाणुरुच्यते ॥१४॥

भावार्थः—आकाशके प्रदेशके स्थानमे मंदगतिसे परमाणु जितने समयमें गमन करता है, उस समय अर्थात् उस समयप्रमाण जो काल है; उसके स्थानमें कालाणु यह व्यवहार होता है ॥ १४ ॥

व्याख्या। मन्दगत्या मन्दगमनेनाणु परमाणुर्नभस आकाशस्य प्रदेशे स्थितौ स्थाने यावदिति यावता कालेन गच्छति तत्समयस्य तत्कालपरिमितस्य कालस्य स्थान कालाणुरिति व्यवहारे जायत इति। एकस्य नभस. स्थाने मन्दगतिरणुर्यावता कालेन सञ्चरति तत्पर्यायेण समय उच्यते तदनुरूपश्च य स काल पर्यायसमयस्य भाजन कालाणुरिति। स चैकस्मिन्नाकाशप्रदेश एकैक एवं कुर्वता समस्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा कालाणवो जायन्त इति। इत्थ कश्चिदपरो वदन् जैनाभासो दिगम्बर एवास्ति। उक्त च द्रव्यसग्रहे "रयणाण रासी इव ते कालाणु असखदव्वाणि" इति ॥१४॥

व्याख्यार्थः—आकाशके प्रदेश स्थानमे जितने कालमें मन्दगतिसे परमाणु जाता है, उतने समयपरिमाण जो काल है, उस कालके स्थानमे "कालाणु" यह व्यवहार होता है। और एक आकाशके स्थानमें मन्दगमनका धारक परमाणु जितने कालमें जाता है; उसी कालको पर्यायरूपसे समय कहते हैं। और समयरूप जो काल है, वह पर्यायरूप समयका भाजन कालाणु है। और वह कालाणु एक आकाशके प्रदेशमें एक है; एक आकाश प्रदेशमे एक है, इस प्रकार जब करते है, तब लोकाकाशके समस्त प्रदेशोंके समान कालाणु होते हैं। अर्थात् लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश हैं, और एक एक प्रदेशमें एक एक कालाणु है, इस प्रकार असंख्यात ही कालाणु होते हैं। सो ही द्रव्य संग्रहमें कहा है, कि-"रत्नोंकी राशिकी तरह वह कालाणु असंख्यात द्रव्य है ॥१४॥

इति दिगम्बरमतमनुसृत्य योगशास्त्राभ्यासनापरोऽपि कश्चिदेतद्वचनमुदाजहार।

इस दिगम्बरमतका अनुसरण करके योगशास्त्रके अभ्याससे अन्य किसीने भी यह अग्रिम सूत्रोक्तवाक्यका उदाहरण दिया है।

योगशास्त्रान्तरश्लोके मतमेतदपि श्रुतम् ।
लोकप्रदेशेऽप्यणवो भिन्ना भिन्नास्तदग्रता ॥ १५ ॥

भावार्थः—योगशास्त्रके अन्तर्गत श्लोकमे हमने यह भी सुना है; कि—लोकाकाश प्रदेशमें जो भिन्न भिन्न कालाणु स्थित है; वह भिन्न स्थिति कालद्रव्यकी प्रधानता है ॥१५॥

व्याख्या । योगशास्त्रान्तरश्लोक एतदपि मत श्रुत दिगम्बरमतेऽपि अन्तरश्लोकव्याख्यानमपीष्टमस्ति । यतो–लोकप्रदेशेऽपि अणव भिन्ना भिन्ना अणवस्तन्मुख्यत्वमापादयन्ति । लोकप्रदेशे भिन्ना भिन्ना कालाण- वस्त एव मुख्यकाल इति व्यवहार । तथा च तत्पाठ "लोकाकाशप्रदेशस्था भिन्ना कालाणवस्तु ये । भावाना परिवर्त्ताय मुख्य काल स उच्यते । १ । इति" अस्य भावार्थ —लोकाकाशे यावन्त प्रदेशास्तेषु तिष्ठन्तीति लोकाकाशप्रदेशस्था भिन्ना पृथक् पृथक् एकनभोदेशे एक इत्थ सर्वत्र सर्वे ये कालाणव सन्ति त एव तावन्त कालाणव इति । तु पुनर्भाविना परिवर्त्ताय "नूतन कृत्वा जीर्णं करोति जीर्णं कृत्वा नूतन करोति" एव भावना परिवर्त्ताय वर्त्तते स एव मुख्य सर्वप्रधानपदार्थ काल उच्यत इत्यर्थ ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थः—योगशास्त्रके अन्तर्गत श्लोकमे यह भी मत सुना है, और दिगम्बर- मतमे इस योगशास्त्रान्तरश्लोकका व्याख्यान भी इष्ट है, क्योंकि—योगशास्त्रमे यह श्रवण किया कि—लोकाकाशके प्रदेशमे जो पृथक् (भिन्न भिन्न) कालाणु स्थित हैं, वह कालाणु कालद्रव्यकी मुख्यताका प्रतिपादन करते हैं, अर्थात् लोकप्रदेशमे जो भिन्न भिन्न कालाणु है; वह ही मुख्यकाल हैं, ऐसा व्यवहार है। सो ही उस योगशास्त्रका पाठ है; कि—"लोकाकाश प्रदेशस्था भिन्नाः कालाणवस्तु ये । भावनां परिवर्त्ताय मुख्यः कालः स उच्यते । १ ।" भावार्थ इसका यह है, कि—लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं; उन सब प्रदेशोंमे जो रहते हैं, उनको लोकाकाशप्रदेशस्थ रहते हैं; लोकाकाशप्रदेशस्थ जो भिन्न भिन्न अर्थात् एक आकाशके प्रदेशमे एक इस प्रकार सब लोकाकाशके प्रदेशोंमें जो सब कालाणु हैं, वह उतने ही हैं; जितने कि—आकाशके प्रदेश हैं । और जो भावों(पदार्थों)के परिवर्त्तनके लिये अर्थात् "पदार्थको नूतन (नया) करके जीर्ण (पुराना) करता है; और जीर्ण करके नूतन करता है" इस प्रकारका जो पदार्थोंका परिवर्तन है, उसकेलिये जो वर्त्तना है; वही मुख्य अर्थात् सर्वप्रधान पदार्थ काल कहागया है । इस प्रकार अर्थ है ॥ १५ ॥

पुनस्तदेव चर्चयन्नाह ।

फिर उसी कालकी चर्चा करते हुए कहते हैं ।

प्रचयोर्ध्वत्वमेतस्य द्वयोः पर्यायर्योर्भवेत् ।
तिर्यक्प्रचयता नास्य प्रदेशत्वं विना क्वचित् ॥ १६ ॥

भावार्थः—इस कालद्रव्यके पूर्वापर दो पर्यायोंमें ऊर्ध्वताप्रचय होता है; और प्रदेशरहितपनेसे तिर्यक्प्रचय कहीं भी नहीं होता ॥ १६ ॥

व्याख्या । एतस्य कालाणुद्रव्यस्य प्रचयोर्ध्वत्वमूर्ध्वताप्रचयो द्वयो: पर्याययो: पूर्वापरयोर्भवेत् । यतो यथा मृद्द्रव्यस्य स्थासकोशकुशूलादिपूर्वापरपर्याया सन्ति तथैतस्य कालस्य समयावलीमुहूर्त्तादयः पूर्वापरपर्याया, वर्त्तन्ते । परन्तु स्कधस्य प्रदेशसमुदाय कालस्य नास्ति तस्माद्धर्मास्तिकायादीनामिव तिर्यक्प्रचयता न सभवति, एतावता तिर्यक्प्रचयत्व नास्ति । तेनैव कालद्रव्यमस्तिकाय इति नोच्यते । परमाणुपुद्गलस्येव पुनस्तिर्यक्प्रचयता नास्ति । तस्मादुपचारेणापि कालद्रव्यस्यास्तिकायता न कथनीया इति ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थः—इस कालद्रव्यके पूर्वापर दो पर्यायोंका ऊर्ध्वताप्रचय होता है, क्योंकि—जैसे मृत्तिकारूप द्रव्यके स्थास कोश कुशूलआदि पूर्व अपर पर्याय होते हैं, ऐसे ही इस-कालद्रव्यके भी समय, आवली, और मुहूर्तआदि पूर्व अपर पर्याय विद्यमान हैं। परन्तु स्कन्धका प्रदेश समुदाय कालके नहीं है इसलिये धर्मास्तिकायआदिके समान तिर्यक्प्रचयताका संभव नही है; अर्थात् कालके तिर्यक्प्रचयपना नही है । इसी कारणसे इस कालद्रव्यको अस्तिकाय नहीं कहते है । और परमाणु पुद्गलके तुल्य भी इसकी तिर्यक्प्रचयता नहीं है, इसलिये उपचारसे भी कालद्रव्यके तिर्यक्प्रचयता नहीं कहने योग्य है ॥ १६ ॥

अथैतद्दिगम्बरमत वादेन दूषयन्नाह ।

अब इस दिगम्बर मतको वादसे दूषित करते हुए कहते हैं ।

एवमणुगतेर्लात्वा हेतुं धर्माणवस्तदा ।
साधारणत्वमेकस्य समयस्कन्धतापि च ॥ १७ ॥

भावार्थः—इस प्रकार कालाणुके माननेसे परमाणुके गमनका हेतु मानकर धर्मद्रव्यके भी अणुसिद्ध हो जांयेगे और तब एक पदार्थकी साधारणताको ग्रहण करनेसे समयस्कन्धता भी सिद्ध हो जायगी ॥ १७ ॥

व्याख्या । एवमनया रीत्या यद्यणुगते परमाणुगमनस्य हेतुमिति हेतुत्व लात्वा गृहीत्वा धर्माणवो धर्मद्रव्याणवो भवन्ति । तदैकस्य कस्यचित्पदार्थस्य साधारणत्व गृहीत्वा समयस्कधता स्यादिति । अथ योजना—एव यदि मन्दाणुगतिकार्यहेतुपर्यायसमयभाजन द्रव्यसमयाणु कल्पते तदा मन्दाणुगतिहेतुतारूप-गुणभाजन धर्मास्तिकायोऽपि सिद्धयति । एवमधर्मास्तिकायस्याप्यणुप्रसङ्गता स्यात् । अथ च सर्वसाधारणगति-हेतुतादिक गृहीत्वा धर्मास्तिकायाद्येकस्कन्धरूप द्रव्य कल्पते तदा देशप्रदेशादिकल्पनापि तस्य व्यवहारानुरोधेन पश्चात्कर्त्तव्या स्यात् । यदि च सर्वजीवाजीवद्रव्यसाधारणवर्त्तनाहेतुतागुण गृहीत्वा कालद्रव्यमपि लोकप्रमाण कल्पयितु युज्यते । धर्मास्तिकायादीनामधिकारेण साधारणगतिहेतुताद्युपस्थितिरेवास्ति । अस्याः कल्पनायास्स्वभिनिवेश विना द्वितीय किमपि कारण नास्ति ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थः—इस रीतिसे परमाणुके गमनरूप हेतुताके ग्रहणसे धर्मद्रव्यके भी अणु होसकते हैं; तब एक किसी पदार्थकी साधारणताके ग्रहणसे समयस्कंधता भी सिद्ध हो जायगी । अब इस श्लोककी योजना इस भांति है; कि—इस प्रकार यदि मन्द अणुगतिका-

र्यका अर्थात् अणुवोंका मन्द गमनरूप जो कार्य है, उसका हेतु जो पर्यायसमयभाजन है, उसको द्रव्य समयाणु कल्पन करते हो तो मन्द अणुगतिमे हेतुतारूप गुणका धारक धर्मास्तिकाय द्रव्य भी सिद्ध होता है। और इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय द्रव्यको भी अणुका प्रसंग होय। अब कदाचित् यह कहो कि—सर्वसाधारणगति हेतुनाआदिका ग्रहण कर धर्मास्तिकायआदि एक स्कंधरूप द्रव्यकी कल्पना करते है, तो देश प्रदेशआदिकी कल्पना भी उस स्कंधके व्यवहारके अनुरोधसे पीछे करनी पडैगी। और जो सत्र जीव अजीव द्रव्योंमे साधारण ऐसा जो वर्त्तना हेतुरूप गुण है उस गुणको ग्रहण करके काल-द्रव्यकी भी लोकप्रमाण कल्पना करना युक्त है, ऐसा कहो तो धर्मास्तिकायआदि द्रव्यके अधिकारसे साधारणगति हेतुता (साधारण गतिरूप कार्यकी कारणता) आदिकी उप-स्थिति है, उसीकी कल्पना हो सकती है। और इसपर भी कालद्रव्यकी कल्पना करनेवाले मतमे मन्द अणुकी वर्त्तनारूप हेतुकी ही उपस्थित है। और इस कल्पनाका आग्रहके सिवाय दूसरा कोई भी कारण नहीं है ॥ १७ ॥

अथ पुनस्तदेव ।

अब फिर भी उसीका वर्णन करते हैं ।

अप्रदेशत्वमासूत्र्य यदि कालाणवस्तदा ।
पर्यायवचनोद्युक्तं सर्वमेवौपचारिकम् ॥१८॥

भावार्थः—यदि कालको अप्रदेशी सूत्रित करके और उस कालके अणु कहते हो तव यह सब उपचारसे पर्यायवचनमे योजित होता है ॥१८॥

व्याख्या । अप्रदेशत्व प्रदेशरहितत्वं यद्यासूत्र्य प्रकल्प्य तस्य कालस्य अणव कथ्यन्तते तदा पर्यायवचनेन योजित क्रियते सर्वमप्युपचारेणेदमिति । तथा च यदैव कथयत सूत्रे कालोऽप्रदेशी कथितस्त-स्यानुमारेण कालाणव. कथ्यन्ते तदा तु सर्वमपि जीवाजीवपर्यायरूपमेव काल इति कथितमस्ति तत्र विरोधो नास्ति द्रव्यकालोऽपि कथं कथ्यते । ततस्तदनुमारेण कालस्यापि द्रव्यत्ववचनम् । तथा लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानुवचनादीनि सर्वाण्युपचारेण योज्यानि । मुख्यवृत्त्या स पर्यायरूप. काल एव सूत्रसमतोऽस्ति । अत एव "कालश्चेत्येके" अत्रैकवचनेन सर्वसमतत्वाभाव सूचयामासेति । तेनाप्यत्राप्रदेशत्व प्रदेशाभाव सूत्रेणानुसृत्य तस्य कालस्याणु कथने तदा सर्वमप्येतदुपचारेण पर्यायवचनादिकेभ्यो युज्यमान चारिमाणमश्वतीति । अथ च परमाणुमयो विभागोऽवयवस्तदितरस्तु प्रदेश इति वचनाद्व्योमाद्यपरिमाणगतया सप्रदेश स्यान्न तु सावयवमित्याचक्षीयास्तथापि "दोपोल्लासवशप्रसृत्वरतमःकाण्डे तिदेदीपया, मासेनोऽदयव-प्रदेशविषयो भेदस्त्वया दीपक । अस्माभि परमाणुता प्रकटनामानेष्यमाण पुरो दुर्वारव्यभिचारदीर्घरसन निष्याय विश्वसित ।१। ननु पूर्वं तावदम्बरादेर्विभागा परमाणुमया एव सन्ति न खलु कज्जलचूर्णपूर्णसमुद्-कवन्निरन्तरपुद्गलपूरिते लोके स कश्चिन्नमनो विभागोऽस्ति यो निर्भर न विभराद्भूतेऽणुभिस्तत्कथ न हेतुरेष व्यभिचरिष्णुरिति ॥१८॥

व्याख्यार्थः—यदि कालको प्रदेशरहित निरूपण करके उस कल्पित कालके अणु कहते हो तब यह सब उपचारसे पर्याय वचनमें योजित किया जाता है। इसका स्पष्टीकरण करते हैं, कि—यदि आप यह कहो कि—सूत्रमें काल प्रदेशरहित कहा गया है, उसके अनुसार हम कालाणु कहते है, तव तो संपूर्ण जीव अजीव पर्यायरूप ही काल है ऐसा कहा हुआ है, उसमे विरोध नही है। कालद्रव्य कैसे कहा जाता है ? इस शंकाका समाधान यह है, कि—उसीके अनुसार कालको भी द्रव्य कहा गया है। और लोकाकाश प्रदेशोंके प्रमाण काल है, ऐसे जो वचन है, वह भी सब उपचारसे युक्त करने योग्य हैं। मुख्यवृत्तिसे अर्थात् मुख्य शक्तिसे तो वह पर्यायरूप काल है, सो ही सूत्रसंमत है। अत एव "कालश्चेत्येके" (काल भी द्रव्य है, ऐसा एक आचार्य कहते है) इस सूत्रमें "एके" इस पदसे यही सूचित किया है, कि—काल सर्वसंमत द्रव्य नहीं है। इससे भी प्रदेशका अभाव सूत्रके अनुसार मानकर जो कालके अणुपनेका कथन करते हो तब भी यह सब उपचारसे पर्याय वचनआदिके साथ नियुज्यमान (युक्त हुआ) ही चारुता (रमणीयता) को प्राप्त होता है। यदि "परमाणुमयरूप जो विभाग है, सो अवयव है, और इससे भिन्न अर्थात् जो परमाणुरूप विभाग नहीं है, वह प्रदेश है" इस वचनसे आकाशादिक अपरिमाणज होनेसे सप्रदेश हैं, सावयव नहीं ऐसा कहो तो भी "दोषोंकी अधिकताके वशसे फैलते हुये अंधकारके समूहमें जो तुमने हमारे आगे अवयव और प्रदेशमें भेद है" इस कथनस्वरूप दीपक जाज्वल्यमान किया उस दीपकका हमने परमाणुताको प्रकटमें लाकर दुःखसे निवारण करने योग्य व्यभिचार दोषरूपी सर्पको आगे रखके बुझा डाला अर्थात् परमाणुताकी सिद्धिसे यह भेद न ठहरेगा ? पहले तो आकाशआदिके विभाग भी परमाणुरूप ही हैं, क्योंकि—काजलके चूर्णसे पूर्ण पिटारीके समान निरन्तर पुद्गलोंसे भरे हुए जगत्में वह कोई भी आकाशका प्रदेश नहीं है, जो परमाणुवोसे खूब न भरा हुआ हो इस कारण यह जो तुमने हेतु दिया है, वह व्यभिचारी कैसे नहीं ? अर्थात् है, ही ॥१८॥

अथोपचारप्रकारमेव दर्शयन्नाह ।

अब उपचारका प्रकार ही दिखाते हुए यह सूत्र कहते हैं।

पर्यायेण च द्रव्यस्य ह्युपचारो यथोदितः ।
अप्रदेशत्वयोगेन तथाणूनां विगोचरः ॥१९॥

भावार्थः—जैसे पर्यायरूपसे कालद्रव्यकी पर्यायरूपता उपचारसे कही है, ऐसे ही अप्रदेशत्वके योगसे कालकी अणुताके विषयमें उपचार ही शरण है ॥ १९ ॥

व्याख्या । षडेव द्रव्याणीति संख्यापूरणार्थं यथा पर्यायेण पर्यायरूपेण द्रव्यस्य कालद्रव्यस्य एतावता पर्यायरूपकालद्रव्यविषये हि निश्चत द्रव्यस्योपचारो यथा उदित द्रव्यत्वोपचारकल्पना विहिता भगवत्यादिसूत्रविषये कृता तथैव सूत्रे कालद्रव्यस्याप्यप्रदेशत्वयोगेन कालाणूना विगोचरो विषयना ज्ञेया । एतावता सूत्रे कालस्यात्र प्रदेशता सूत्रिता तथैव कालाणुतापि सूत्रितास्ति तद्योजनया लोकाकाशप्रदेशस्थपुद्गलाणूना विषय एव योगशास्त्रान्तरश्लोकेषु कालाणूनामुपचारो विहित । मुख्यकाल इत्यस्य चानादिकालीनाप्रदेशत्वव्यवहारनियामकोपचारविषय इत्यर्थ अत एव मनुष्यक्षेत्रमात्रवृत्तिकालद्रव्य ये वर्णयन्ति तेषामपि मनुष्यक्षेत्रावच्छिन्नाकाशादौ कालद्रव्योपचार एव शरणमिति दिङ्मात्रमेतत् ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थः—जिनसिद्धान्तमें षट् (६) ही द्रव्य हैं, इस संख्याकी पूर्तिके लिये जैसे पर्यायरूपसे कालद्रव्यका अर्थात् पर्यायरूप कालद्रव्यके विषयमे द्रव्यत्वके उपचारकी कल्पना भगवतीआदि सूत्रमे की गई है, उसी प्रकार सूत्रमे कालद्रव्यके जो अप्रदेशताका योग है, उससे कालाणुके विषयमे भी उपचार जानना । तात्पर्य यह कि—सूत्रमे कालको प्रदेशरहित कहा है, उसी प्रकार कालाणुता भी सूत्रित की है, उसकी योजनासे लोकाकाशके प्रदेशमे स्थित पुद्गल परमाणुवोंके विषयमे ही योगशास्त्रान्तर श्लोकोमे कालाणुवोंका उपचार किया गया है ; और "लोकाकाशप्रदेशस्था" इत्यादि श्लोकोंमे जो कालके विषयमे "मुख्यः कालः स उच्यते" इस प्रकार मुख्य कालरूपसे व्यवहार किया है; इसका यह अभिप्राय है, कि-अनादि कालसे अप्रदेशत्व व्यवहारका नियामक उपचारकी विषयतासे वह काल मुख्य है । इसी कारणसे जो मनुष्य क्षेत्रमात्रवृत्ति अर्थात् मनुष्य क्षेत्रमात्रमे रहनेवाला कालद्रव्य है, ऐसा जो कहते हैं, उनको भी मनुष्यक्षेत्रावच्छिन्न जो आकाशादि हैं, उनमे कालद्रव्यका उपचार ही शरण है । यह दिग्दर्शनमात्र हमने कथन किया है ॥१९॥

अथ पुद्गलजीवयो सक्षेपेण स्वरूपमाह ।

अब पुद्गल तथा जीवद्रव्यका स्वरूप संक्षेपसे कहते हैं ।

वर्णादिकगुणैर्भेदो ज्ञायते पुद्गलस्य च ।
निसर्गचेतनायुक्तो जीवोरूपी ह्यवेदकः ॥२०॥

भावार्थः—वर्ण गंध तथा रसादि गुणोंसे पुद्गलद्रव्यका धर्मास्तिकायआदिसे भेद जाना जाता है । और स्वाभाविक चेतनाका धारक, रूपरहित तथा वेदरहित जीव पदार्थ है ॥२०॥

व्याख्या । वर्णगन्धरसस्पर्शादिकगुणै पुद्गलद्रव्यस्यान्येभ्यो धर्मादिद्रव्येभ्यो भेदो ज्ञायते । वर्णा पञ्च शुक्लपीतहरितरक्तकृष्णभेदात्, गन्धौ द्वौ सुरभ्यसुरभी चेति, रसा षट् तिक्तकटुककषायाम्लमधुरलवणभेदात्, स्पर्शा अष्टौ शीतोष्णे, खरमृदू, लघुमहती स्निग्धरुक्षे चेति । सर्वमप्येतत्पुद्गलभेदाद्भिद्यते । च पुनरर्थे निसर्गा सहजा या चेतना तया युक्तो

निसर्गचेतनायुक्तः सर्वेभ्योऽचेतनेभ्यो भिन्नो जीवो व्यवहारनयेन रूपवेदसहितोऽपि निश्चयनयेन रूपरहितो रूपात्यन्ताभावयुक्त, वेदरहितो वेदात्यन्ताभाववान्, सत्तामात्रं निर्गुणो निर्विकारो जीव. । उक्त च–अरस-मरूवमगधं अवण्ण चेयणागुणमसद् । जावअलिंगग्गहण जीवमणिद्दिठ्ठसठाण ।१। इत्युक्तं जीवविशेषणानि ज्ञेयानि ॥२०॥

व्याख्यार्थः—वर्ण, गंध, रस तथा स्पर्शआदि गुणोंसे युक्त होनेसे पुद्गलद्रव्यका अन्य धर्मास्तिकायआदि द्रव्योंसे भेद जाना जाता है । शुक्ल (सफेद) पीत (पीला) हरित (हरा) रक्त (लाल) तथा कृष्ण (काला) इन भेदोंसे वर्ण (रूप) पांच है । सुगंध, दुर्गन्ध, भेदसे गंध दो प्रकारका है । तिक्त, (तीखा) कटुक (कड़वा) कषाय (कसापला) आम्ल (खट्टा) मधुर (मीठा) और लवण (खारा) इन भेदोंसे रस छह (६) प्रकारका है । शीत (ठंडा) उष्ण (गरम) खर (कठोर) मृदु (कोमल) लघु (हलका) महत् (भारी) स्निग्ध चिकना परुष (रूखा) इन भेदोंसे स्पर्श आठ प्रकारका है । यह सब पुद्गलके भेदसे भेदको प्राप्त होते हैं । सूत्रमे जो "च" शब्द है, सो पुनः के अर्थ में है, अतः और निसर्ग अर्थात् स्वभावसे उत्पन्न जो चेतना उस करिके युक्त होनेसे सब अचेतन द्रव्योंसे जीव भिन्न है । और व्यवहारनयसे रूप तथा वेदका धारक है, तो भी निश्चयनयसे जीव रूपरहित अर्थात् रूपके अत्यंत अभावसे युक्त और वेदरहित अर्थात् वेदके अत्यंताभावसे संयुक्त है, क्योंकि—यह जीव सत्तामात्र, निर्गुण तथा विकाररहित है । ऐसा अन्यत्र कहा भी है । "रूपरहित, रसरहित, गंधरहित, वर्णरहित, चेतनायुक्त, शब्दरहित लिंगग्रहणसे रहित और अनिर्दिष्ट संस्थान ऐसा जीव जानना" इत्यादि कथनसे यह रूपरहित आदि सब जीवके विशेषण हैं; ऐसा जानो ॥ २० ॥

अथाध्यायपरिसमाप्तिकाम आह ।

अब अध्यायको समाप्त करनेकी इच्छासे अग्रिम काव्य कहते हैं ।

एवं समासेन षडेव भेदान्द्रव्यस्य विस्तारतयागमेभ्यः ।
श्रुत्वा समभ्यस्य च भव्यलोका अर्हत्क्रमाम्भोजयुगं श्रयन्तु ॥२१॥

भावार्थः—हे भव्य जीवो ! इस प्रकार संक्षेपसे द्रव्यके छह ६ ही भेद हैं, उनको विस्तारसे शास्त्रोंसे श्रवण करके तथा पूर्णरूपसे अभ्यस्त करके श्रीजिनदेवके चरणकमलोंके युगलका सेवन करो ॥२१॥

व्याख्या । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण समासेन सक्षेपेण च षडेव षट् संख्यावते जीवधर्माध-र्माकाशकालपुद्गलभेदान्द्रव्यस्य पदार्थस्य षण्णामपि द्रव्यशब्द पृथग्युक्त सत् षड्द्रव्यत्वमा-पादयति । अतो द्रव्यस्य षडेव भेदान्सूत्रोक्तान् श्रुत्वा विस्तारतया विस्तारयुक्त्या आगमेभ्यः स्याद्वादिसमुपदिष्टेभ्य आकर्ण्य श्रवणविषयीकरण श्रवण तत्र विस्तारेणैव श्रुतानामवगमो

जायतेऽतो विस्तारतया श्रुत्वा च पुनः समभ्यस्य वाचा उद्घोषणद्वारा कण्ठे कृत्वा मनसि निदिध्यास्य भो भव्यलोकाः सम्यक्त्विप्राणिनः ? अर्हत्क्रमाम्भोजयुगं श्रीजिनचरणभजनस्थैर्यं भजन्तु । श्रुत्वा स्मृत्वा च श्रीप्रभुस्मृतिरेव साधीयसी तत्कृत्वा तत्करणं श्रेयोनिबन्धनमिति । तथा भोजेति सङ्केतेन सन्दर्भकर्तुर्नामनिदर्शनमिति । अत्राध्याये सम्यक्त्वदार्ढ्याय सर्वभेदाख्यानमिति प्रयोजनं चेति ॥२१॥

इति श्रीकृतिभोजसागरविनिर्मितायां द्रव्यानुयोगतर्कणाव्याख्यायां दशमोऽध्यायः ।

व्याख्यार्थः—इस पूर्वकथित रीतिसे संक्षेपसे द्रव्यके सूत्रमे कहे हुए छह ६ संख्याके धारक जीव, धर्म, अधर्म आकाश, काल और पुद्गल इन भेदोंको अर्थात् यहांपर जीव आदि छहोंके साथ जुदा २ द्रव्यशब्द लगानेसे षड्द्रव्यता सिद्ध होती है; इस कारण द्रव्यके छहों ही भेदोंको स्याद्वादियोंसे उपदिष्ट ऐसे आगमोंसे अर्थात् जैनशास्त्रोंसे विस्तारपूर्वक अनेक युक्तियों द्वारा श्रवण करके "कर्णके विषयमे प्राप्त जो करना है, सो श्रवण है; उसमे विस्तारसे सुने हुए पदार्थोंका ही ज्ञान होता है, इसलिये विस्तारसे श्रवण करके" और वचनसे घोषणद्वारा कण्ठ करके और मनमे धारण करके भो भव्य जीवो ? अर्थात् सिद्ध होने योग्य प्राणिवर्गो ? श्री जिनेन्द्रके चरणोंकी सेवामे स्थिरताको धारण करो। इस द्रव्योंके स्वरूपको सुनकर तथा स्मरण करके श्रीजिनेन्द्रकी भक्ति ही साधने योग्य है; इसलिये द्रव्यके स्वरूपका सुनना और धारण करना कल्याणका कारण है । यहांपर भोज इस संकेतसे टीकाकारने अपना नाम भी दिखाया है । और इस अध्यायमें सम्यक्त्वको पुष्ट (दृढ) करनेकेलिये सब द्रव्योंके भेदोंका कथन करना है, सो ही प्रयोजन है ॥२१॥

इति श्री प० ठाकुरप्रसादशास्त्रिविरचितभाषाटीकासमलङ्कृतायां

द्रव्यानुयोगतर्कणायां दशमोऽध्यायः ॥

अथैकादशाध्याये गुणभेदान् व्याचिख्यासुराह ।

अब इस एकादशवें अध्यायमे गुणके भेदोंके वर्णनकी इच्छासे यह सूत्र कहते हैं ।

श्रीनाभेयजिनं नत्वा गुणदेष्टृगुरुं तथा
गुणभेदानहं वक्ष्ये क्रमप्राप्तान्यथामति ॥१॥

भावार्थः—मैं श्रीनाभिराजके पुत्र श्रीऋषभदेवजी तीर्थंकरको तथा वाणीके गुणोंके उपदेशक गुरुजीको नमस्कार करके अब क्रमप्राप्त गुणोंके भेदोंको इस एकादशवें अध्यायमें निजमतिके अनुसार कहूँगा ॥१॥

व्याख्या । नाभेरपत्यं नाभेयः श्रीयुक्तो नाभेयः स चासौ जिनश्च श्रीनाभेयजिनस्तं श्रीनाभेयजिनं श्रीऋषभनाथं नत्वा नमस्कृत्य तथा तेनैव प्रकारेण गुणदेष्टृगुरुं ,गुणा वीणीगुणास्तान् दिशतीति गुणदेष्टा स चासौ गुरुश्च गुणदेष्टृगुरुस्तं नत्वा नमस्कृत्येति । निर्विघ्नसमाप्तिकामाय मङ्गलमिति । अहं गुणभेदान् क्रमप्राप्तान् द्रव्यव्यावर्णनानन्तरं

प्रस्तुतान् यथामति यथा स्यात्तथाऽपूर्वप्रणेतृणा विस्तारदुर्बोधत्वेन स्वमतिविषयी यथा स्यात्तथा वक्ष्ये कीर्त्तयिष्यामीति ॥ १ ॥

व्याख्यार्थः—नाभिराजाके जो पुत्र हैं उनको नाभेय कहते है, अनेक प्रकारकी लक्ष्मीसे जो युक्त हों उनको श्रीनाभेय कहते है, श्रीनाभेय ऐसे जो जिन, सो श्रीनाभेय जिन है, उनको अर्थात् श्रीऋषभनाथ तीर्थंकरजीको नमस्कार करके तथा गुण जो वाणीके गुण उनका उपदेश करनेवाले जो श्रीगुरु हैं, उनको नमस्कार करके अर्थात् निर्विघ्न समाप्तिकी इच्छासे इष्ट देव तथा गुरुको प्रणामरूप मंगलाचरण करके मैं द्रव्योंके विवरणके पश्चात् प्रस्तुत ऐसे गुणोंके भेदोंको निजबुद्धिके अनुसार अर्थात् पूर्वाचार्यप्रणीत ग्रन्थोंमें विस्तारसे वर्णन है; तथा कष्टसे उनका ज्ञान होता है; इस कारण अपनी बुद्धिके गोचर जैसे हो तैसे कहूँगा ॥ १ ॥

अथात्र गुणभेदान्समानतन्त्रप्रक्रियया प्रतिपादयन्नाह ।

अब यहां समानतंत्रप्रक्रियासे गुणके भेदोका प्रतिपादन करते हुए कहते है ।

तत्रास्तित्वं परिज्ञेयं सद्भूतत्वगुणं पुनः ।
वस्तुत्वं च तथा जातिव्यक्तिरूपत्वमुच्यते ॥२॥

भावार्थः—उनमे सद्भूतत्व जो गुण है, उसको अस्तित्व जानना चाहिये और जाति (सामान्य) व्यक्ति (विशेष) रूप जो है, उसको दूसरा वस्तुत्व गुण कहते है ॥ २ ॥

व्याख्या । अस्तित्व । तत्रेद परिज्ञेय सत्तातो यो गुणो भवति तस्मात्सद्भूततया व्यवहारो जायते स चास्तित्वगुण ।१। वस्तुत्व च जातिव्यक्तिरूपत्वम् । जाति सामान्य यथा-घटे घटत्व । व्यक्तिर्विशेषो यथा-घट सौवर्ण, पाटलिपुत्र, वासन्तिक, कम्बुग्रीव इत्यादि । अत एवावग्रहेण सर्वत्र सामान्यरूप भासते, अपा (वा) येन विशेषरूपाभासो जायते । पूर्णोपयोगेन सपूर्णवस्तुग्रहो जायते, इत्थ वस्तुत्व द्वितीयो गुण ॥ २ ॥

व्याख्यार्थः—उनमें सत्तासे जो गुण होता है, और जिससे लोकमें सद्भूतताका व्यवहार होता है, वह अस्तित्व प्रथम गुण है; इसीको अस्तित्व जानना चाहिये । और जातिव्यक्तिरूप जो हो सो वस्तुत्व है । जाति सामान्यको कहते है, जैसे घटमें घटत्व, व्यक्ति विशेषका नाम है; जैसे यह घट द्रव्यसे सुवर्णका है, क्षेत्रसे पटना नगरका है, कालसे वसन्त ऋतुमें उत्पन्न हुआ है, और कंबुग्रीवआदि आकारका धारक है, इत्यादि । इसी कारणसे अवग्रहनामक मतिज्ञानके प्रथम भेदरूप ज्ञानसे सब स्थानोंमे सामान्य-रूपका ही भान होता है, और मतिज्ञानका तृतीय भेद जो अपाय अथवा अवाय है; उसके द्वारा विशेषरूपका ज्ञान होता है । तथा परिपूर्ण ज्ञानसे सामान्य तथा विशेष दोनों रूप वस्तुका ग्रहण होता है । ऐसे वस्तुत्वनामक दूसरा गुण है ॥ २ ॥

द्रव्यत्वं द्रव्यभावत्वं पर्यायाधारतोऽन्वयः ।
प्रमाणेन परिच्छेद्यं प्रमेयं प्रणिगद्यते ॥३॥

भावार्थः—पर्यायके आधारसे जाननेमे आता हुआ जो द्रव्यभाव है; उसको द्रव्यत्वनामा तृतीय गुण कहते हैं। और जो प्रमाणसे जाननेमें आता है; वह प्रमेयत्व नामक चतुर्थ गुण है ॥ ३ ॥

व्याख्या। द्रव्य द्रवति तास्तान्पर्यायान्गच्छतीति द्रव्य तस्य भावस्तत्त्वम्। द्रव्यभावो हि पर्यायाधारताऽभिव्यङ्ग्यजातिविशेष। "द्रव्यत्व जातिरूपत्वाद् गुणो न भवति" ईदृग् नैयायिकादिवासनया आशङ्का न कर्त्तव्या। यत. सहभाविनो गुणा क्रमभुव पर्याया, ईदृश्येव जैनशासने व्यवस्थास्तीति। द्रव्यत्व चेद्गुण स्याद्रूपादिवदुत्कर्षापकर्षभागि स्यादिति तु कुचोद्यमेकत्वादिसख्याया परमतेऽपि व्यभिचारेण तथा व्याप्त्यभावादेव निरसनीयम्। ३। प्रमाणेन प्रत्यक्षादिना परिच्छेद्य यद्रूप प्रमाणविषयत्व प्रमेयत्वं तदित्युच्यते। तदपि कथचिदनुगतसर्वसाधारण गुणोऽस्ति। परम्परासबन्धेन प्रमात्वज्ञानेनापि प्रमेयव्यवहारो जायते। तत प्रमेयत्व गुणस्वरूपादनुगतमस्तीति ॥ ४। ३ ॥

व्याख्यार्थः—जो उन उन पर्यायोंको प्राप्त हो उसे द्रव्य कहते हैं; और उस द्रव्यका जो भाव है; उसको द्रव्यत्व कहते हैं। तथा द्रव्यका जो भाव है, वह पर्यायरूप आधारतासे अभिव्यंग्य (जानने योग्य) जातिविशेष है। "द्रव्यत्व यह जातिरूप है, इसलिये गुण नहीं होता है" इस प्रकारकी आशंका नैयायिकोकी वासनासे न करनी चाहिये। क्योंकि—सहभावी गुण हैं और क्रमसे भावी (होनेवाले) पर्याय हैं; ऐसी ही व्यवस्था जैनशास्त्रमें कीगई है। और द्रव्यत्वमे जो गुण मानोगे तो रूपादिके समान उत्कर्ष तथा अपकर्षका भागी द्रव्यत्व होगा अर्थात् द्रव्यत्व जब गुण होगा तब रूपआदि गुणोंमे जैसे हीनता अधिकता रहती है, वैसे द्रव्यत्वमे भी रहेगी इत्यादि कुचोद्यका तो "परमतमें जो एकत्वआदि संख्याको गुण माना है; इसलिये व्यभिचारसे और नित्य परमाणुआदिगत एकत्वको नित्य माना है; इसलिये जहां गुणत्व है वहा उत्कर्ष (अधिक) अपकर्ष (हीन) की भागिता है, ऐसी व्याप्तिका अभाव होनेसे ही तिरस्कार करना चाहिये ॥ ३ ॥ प्रत्यक्षआदिरूप प्रमाणसे जो परिच्छेद्य (जाना जाय) ऐसा जो प्रमाणका विषय उसको प्रमेयत्व गुण कहते हैं। वह प्रमेयत्व भी कथंचित् सर्व प्रमेयोंमे अनुगत गुण है। और परम्परासंबंधसे प्रमात्वरूप ज्ञानसे भी प्रमेयका व्यवहार होता है। इसलिये प्रमेयत्वगुण स्वरूपसे अनुगत है। ऐसे प्रमेयत्वनामक चतुर्थ गुण है। ४। ॥ ३ ॥

अगुरुलघुता सूक्ष्मा वाग्गोचरविवर्ज्जिता।
प्रदेशत्वमविभागी पुद्गलः स्वाश्रयावधि ॥ ४ ॥

भावार्थः—वाणीका अविषय तथा सूक्ष्म अगुरुलघुता नाम पंचम गुण है। तथा विभागरहित पुद्गलके अधिकरणमात्र अवविभहित प्रदेशत्व यह षष्ठ गुण है ॥ ४ ।

व्याख्या । अगुरुलघुता अगुरुलघुर्नाम गुण सा कीदृशी सूक्ष्मा आज्ञाग्राह्यत्वात्, यत· "सूक्ष्म जिनोदित तत्त्व हेतुभिर्नैव हन्यते । आज्ञासिद्ध तु तद्ग्राह्य नान्यथावादिनो जिना. ।१।" पुन· कीदृशी वाग्गोचरविवर्जिता वचनद्वारा वक्तुमशक्या । यत —"अगुरुलघुपर्याया सूक्ष्मा अवाग्गोचरा:" इति अगुरुलघुनाम्ना पञ्चमो गुणोऽगुरुलघुत्वमिति ध्येयम् । अथ "प्रदेशत्वमविभागी पुद्गल स्वाश्रयावधि" इति । अविभागी पुद्गल इति यावत् क्षेत्रे तिष्ठतीति तावत् क्षेत्रव्यापिष्णुत्व प्रदेशत्वगुण । यस्य विभागो न जायते विभक्तव्यवहारता न स्यात् पुनर्यावत् क्षेत्रमास्थाय तिष्ठति स्थितौ तावत्क्षेत्रावगाहित्व प्रदेशत्वम् । पुन· कीदृश स्वाश्रयावधि स्वशब्देनात्मा पुद्गलात्मककस्तस्य य आधार आश्रय स एववावधिर्मर्यादा यस्य तत्स्वाश्रयावधि । एतावता तदेवार्थत्व स्वेन यावत्क्षेत्रे स्थित तावति क्षेत्र आश्रयावधित्वमप्यस्तीति ज्ञेयम् । इति षष्ठो गुण. । ६ । ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थः—अगुरुलघुता अगुरुलघुनामा गुण है; वह अतिसूक्ष्म है; अतएव जिनशास्त्रकी आज्ञासे ग्रहण करने योग्य है । क्योंकि—"जिन भगवान्से कहाहुआ जो सूक्ष्म तत्त्व है; वह हेतुओंसे खण्डित नहीं होता अत सूक्ष्मतत्त्वोंको उनकी आज्ञासे ही मानलेना चाहिये क्योंकि—जिनेन्द्र देव मिथ्यावादी नहीं है । १ ।" ऐसा कहा है । पुनः वह अगुरुलघुतारूप गुण कैसा है, कि—वाणीकी गोचरतासे वर्जित है; अर्थात् उसका कथन वाणीसे नहीं हो सकता क्योंकि—"अगुरुलघुपर्याय सूक्ष्म हैं, वचनके अगोचर हैं" ऐसा वचन है । ऐसे अगुरुलघु नामसे जो पंचम गुण है; उसको अगुरुलघुत्व समझना चाहिये । ५ । अब "प्रदेशत्वमविभागी पुद्गलः स्वाश्रयावधि" इस उत्तरार्धका व्याख्यान करते है । विभागरहित पुद्गल जितने क्षेत्रमें स्थित रहता है; उस क्षेत्रमें व्यापनशील प्रदेशत्व गुण है । तात्पर्य यह कि जिस पुद्गलका विभाग नहीं होता अर्थात् विभक्तव्यवहारता नहीं हो सकती और ऐसा वह अविभाग पुद्गल परमाणु जितने क्षेत्रमें रहे उतने ही क्षेत्रका अपनी स्थितिमें अवगाहन करनेवाला जो है, वह प्रदेशत्व है । पुन. वह प्रदेशत्व कैसा है, कि—स्वाश्रयावधि है । यहां स्वशब्दसे अपना ग्रहण है इससे अविभागी पुद्गलात्मक अपना आधार (अधिकरण) ही जिसकी मर्यादा है, इससे यह सिद्ध हुआ कि वह जितने क्षेत्रमें स्थित है; उतने ही क्षेत्रमें आश्रयावधित्व भी है ऐसा जानना । यह प्रदेशत्वनामक षष्ठ गुण है । ६ । ॥ ४ ॥

चेतनत्वमनुभूतिरचेतनमजीवता ।
रूपादियुक्त्वमूर्तत्वममूर्तत्वं विपर्ययात् ॥ ६ ॥

भावार्थः—आत्माका जो अनुभव है वह चेतनत्व सप्तम गुण है । जीवरहितता स्वरूप अचेतनत्व अष्टम गुण है । रूपआदिसहित मूर्त्तत्वनामक नवम गुण है । इसके विपर्ययसे अर्थात रूपआदिसहित अमूर्त्तत्वनामा दशम गुण है ॥ ५ ॥

व्याख्या । चेतनत्वमात्मनोऽनुभूतिरित्यनुभवरूपगुण. कथ्यते । योऽहं सुखदुःखादि

चेतये, अहं सुखी, अहं दुःखी इति चेतनाव्यवहारः । ततो जातिवृद्धिभग्नक्षतसंरोहणादिजीवनधर्मा भवन्तीति चैतन्यं सप्तमो गुणः ।७। एतस्माद्विपरीतमचैतन्यमजीवमात्रमजीवता जडत्वाच्चेतनावैकल्यमित्यचेतनत्वं गुणः ।८। रूपादियुक् मूर्त्तत्वं मूर्तता गुणः । रूपादिसन्निवेशाभिव्यङ्ग्यपुद्गलद्रव्यमात्रवृत्तित्वम् ।९। अमूर्त्तत्वं गुणो मूर्त्तत्वाभावसमनियतत्वमिति । १० । इति दशैव । अत्राचेतनत्वामूर्त्तत्वयोश्चेतनत्वमूर्त्तत्वाभावरूपत्वान्न गुणत्वमिति नाशङ्कनीयम् । अचेतनामूर्त्तद्रव्य वृत्तिकार्यंजनकतावच्छेदकत्वेन व्यवहारविशेषनियामकत्वेन च तयोरपि पृथग् गुणत्वात् तत्र पर्युदासार्थकत्वात्तत्र गर्भपदवाच्यताश्चानुष्णाशीतस्पर्श इत्यादौ व्यभिचारेण परेषामप्यभावत्वानियामकत्वाद्गत्यन्तरम् । अभावोऽपि कयाचित् व्यपेक्षया इति नयाश्रयणेन दोषाभावाच्चेति ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थः—आत्माका जो अनुभवरूप गुण है, वह चेतनत्व है । अर्थात् यह मैं सुख तथा दुःखआदिका अनुभव करता हूं, अथवा मैं सुखी हूं मैं दुःखी हूं यह जो व्यवहार होता है; सो चेतनत्वगुणसे ही होता है; और इस चेतनत्वसे ही उत्पन्न होके बड़ा होना, छिदे हुए फटे हुएका उत्पन्न होना व उगनाआदि जीवनधर्म होते हैं; इस लिये चेतनत्व यह सप्तम गुण है । और इस चैतन्यसे विपरीत अचेतनत्व गुण है; वह अजीवमात्रमें है, यह जड है इसलिये चेतनासे रहित है । ऐसे अचेतनत्वनामक अष्टम गुण है । रूपआदिका धारक मूर्त्तत्वनामक नवम गुण है । यह मूर्त्तत्व गुणरूप रस आदिकी स्थितिसे जानने योग्य है; और पुद्गल द्रव्यमें ही रहता है । और मूर्त्तत्वके अभावके साथ समनियत अमूर्त्तत्वनामा दशम गुण है । ऐसे ये सब मिलके दश गुण हुए । यहांपर अचेतनत्व तथा अमूर्त्तत्व ये दोनो चेतनत्व तथा मूर्तत्वके अभावरूप हैं; अर्थात् चेतनत्वका अभाव अचेतनत्व है; और मूर्त्तत्वका अभाव अमूर्त्तत्व है; इसलिये अचेतनत्व तथा अमूर्त्तत्व पृथक् गुण नहीं हैं; ऐसी शंका न करनी चाहिये; क्योंकि-अचेतन (चेतनधर्मरहित जड पदार्थ) तथा अमूर्त्त (धर्म जीवआदि) द्रव्यवृत्ति जो कार्य उस कार्यके जनकतावच्छेदकत्वरूपसे विशेष व्यवहार अर्थात् अचेतन तथा अमूर्त्तरूप व्यवहार-विशेषके नियामक कारणतावच्छेदक होनेसे अचेतनत्व और अमूर्त्तत्वको भी पृथक् गुणत्व है; और अचेतनत्व तथा अमूर्तत्व इन दोनो पदोंमें नञ् समास जो है सो पर्युदासार्थमें[1] है, इसलिये यहां अचेतनका अर्थ "चेतनसे भिन्न चेतनसदृश कोई द्रव्य और अमूर्तका अर्थ मूर्तसे भिन्न मूर्त्तसदृश द्रव्य" है । उन अचेतन तथा अमूर्त द्रव्योंमें रहनेवाला जो धर्म वही अचेतनत्व तथा अमूर्तत्व है । क्योंकि-चेतनभिन्न तथा चेतन-सदृश अचेतनत्वमें समासगर्भ वाच्यताका ही अंगीकार है । और अनुष्णाशीतस्पर्श

(१) नञ् दो प्रकारका है; एक पर्युदास और दूसरा प्रसज्य, इनमें पर्युदास तो सदृशका ग्राही होता है, जैसे अब्राह्मणको लाओ" यहां ब्राह्मणभिन्न ब्राह्मणसदृश किसी मनुष्यको लाओ ऐसा तात्पर्य है, और प्रसज्य निषेधक है; जैसे "अद्रव्य" से द्रव्याभावका ग्रहण होता है ।

अर्थात् शीत तथा उष्णसे भिन्न स्पर्श इत्यादि पदोंमें व्यभिचार होनेसे नैयायिकको भी नञ्‌को अभावनियामकता सर्वत्र नहीं है, इसलिये अमूर्त्त इससे मूर्तके अभावका नहीं किन्तु मूर्त्तसे भिन्न भावका ग्रहण करना चाहिये । अभाव तो किसी अपेक्षासे है । और इस नयके आश्रयसे कोई दोष नहीं ॥ ५ ॥

समान्येन समाख्याता गुणा दश समुच्चिताः ।
परस्परपरीहारात् प्रत्येकमष्ट चाष्ट च ॥ ६ ॥

भावार्थः—सामान्यरूपसे ये दश गुण संपूर्ण द्रव्योंको मिलाके कहे गये हैं; इनमे परस्परके परिहारसे अर्थात् परस्परविरोधी चेतनत्व अचेतनत्वआदिको छोडके शेष प्रत्येक द्रव्यमे आठ आठ गुण रहते हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या । एते दश गुणा सामान्यगुणा समुच्चित सर्वेषा द्रव्याणा समुच्चयेन कथिता । तत्र मूर्त्तत्वममूर्त्तत्वम् चेतनत्वमचेतनत्व चेति चत्वारो गुणा परस्परपरिहारेण तिष्ठन्ति । तत एकैकस्मिन्द्रव्ये प्रत्येक प्रत्येकमष्टौ प्राप्यते । तत्कथ, यत्र चेतनत्वं तत्राचेतनत्व नास्ति, यत्र च मूर्त्तत्वं तत्र चामूर्त्तत्वं नास्ति, एव द्वयोरपसरणाच्छेषमष्टकमेव तिष्ठति । तेन प्रतिद्रव्यमष्टैव गुणाः सामान्या. सन्तीति ज्ञेयम् ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थः—ये पूर्वोक्त दश गुण सामान्यरूपसे सब द्रव्योंके मिलाके कहे गये हैं । इनमेंसे मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व, चेतनत्व, तथा अचेतनत्व ये चार गुण परस्परके परिहारसे द्रव्यमे रहते है । इससे यह सिद्ध हुआ कि—एक एक द्रव्यमें आठ आठ गुण होते हैं. यह इस प्रकारसे है; कि—जहां चेतनत्व है; वहां अचेतनत्व नहीं है, ऐसे ही जहां मूर्त्तत्व है; वहां अमूर्त्तत्व नही रहता है । इस रीतिसे दोनोंके निकाललेनेसे शेष आठ गुण प्रत्येक द्रव्यमें रहते हैं, इस कारणसे प्रत्येक द्रव्यमे आठ ही सामान्य गुण है; ऐसा जानना चाहिये ॥ ६ ॥

अथ विशेषगुणान् व्याचिख्यासुराह ।

अब विशेषगुणोंका वर्णन करनेकी इच्छासे कहते हैं ।

ज्ञानं दृष्टिः सुखं वीर्यं स्पर्शगन्धौ रसेक्षणे ।
गतिस्थित्यवगाहत्ववर्त्तना हेतुतापराः ॥ ७ ॥

भावार्थः—ज्ञान, दर्शन, सुख, तथा वीर्य ये चार आत्माके विशेष गुण हैं; तथा रस, गन्ध, स्पर्श तथा वर्ण ये चार पुद्‌गलके विशेष गुण हैं; तथा गति, स्थिति, अवगाहन और वर्त्तना ये धर्मादि द्रव्योंके हेतुतापरक गुण है ॥ ७ ॥

व्याख्या । ज्ञानगुण ,दृष्टिर्दर्शनगुण , सुखमिति सुखगुण , वीर्यमिति, वीर्यगुणः, एते चत्वार आत्मनो विशेषगुणाः । पुन स्पर्शगन्धौ स्पर्शगुणः गन्धगुण', रसेक्षणे रसगुणः

ईक्षण वर्णगुण, एते चत्वारः पुद्गलस्य विशेषगुणा शुद्धद्रव्ये अविकृतरूपा एतेऽविशिष्टास्तिष्ठन्ति तत एते गुणा कथिता, विकृतस्वरूपास्ते पर्यायेषु मिलन्ति, इत्येव विशेषोऽत्र ज्ञेय'। तथा पुन. गत्यादयो गुणा हेतुतापरा एतावता गतिहेतुता, स्थितिहेतुता, अवगाहहेतुता वर्त्तनाहेतुता, एते चत्वारो गुणाः प्रत्येक धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायाकाशास्तिकायकालद्रव्याणा क्रमेण सन्ति विशेषगुणाश्चत्वार ॥७॥

व्याख्यार्थः—ज्ञानगुण १ दर्शनगुण २ सुखगुण ३ तथा वीर्यगुण ४ ये चारों आत्माके विशेष गुण हैं। और स्पर्शगुण १ गन्धगुण २ रसगुण ३ तथा वर्णगुण ४ ये चारों पुद्गलके विशेष गुण हैं। ये गुण शुद्ध द्रव्यमे अविकृतरूपसे रहते हैं। और विकृत (विकारसहित) होनेसे वे पर्यायोंमें मिलते हैं, यह विशेषता जाननी चाहिये। और गति आदि गुण हेतुतापरक हैं; इससे यह सिद्ध हुआ कि-गतिहेतुता, स्थितिहेतुता, अवगाह-हेतुता, तथा वर्त्तनाहेतुता ये चारों गुण एक एक धर्मास्तिकाय आदिके हैं, अर्थात् गतिहेतुता धर्मास्तिकायका, स्थितिहेतुता अधर्मास्तिकायका, अवगाहनहेतुता आकाशास्तिकायका, तथा वर्त्तनाहेतुता कालद्रव्यका, विशेषगुण हे। इस प्रकार ये गतिहेतुताआदि चारों धर्मास्तिकाय-आदि चारों द्रव्योंके क्रमसे विशेष गुण है ॥ ७ ॥

चैतन्यादिचतुर्भिस्तु युक्ताः षोडशसंख्यया।
विशेषेण गुणास्तत्राप्यात्मनः पुद्गलस्य षट् ॥८॥

भावार्थः—चैतन्यआदि चारो गुणोंके साथ पूर्वोक्त द्वादश गुण मिलके सोलह गुण होते हैं, उनमेसे आत्मा तथा पुद्गलके छः छः गुण होते हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या। अथैतेषा द्वादशगुणाना चैतन्यादिचतुर्भिर्युक्ताश्चेतनत्वाचेतनत्वमूर्त्तत्वादिभिश्चतुर्भि सहिता सन्त षोडश गुणा भवन्ति। तेषु गुणेषु पुद्गलद्रव्यस्य वर्णगन्धरसस्पर्शमूर्त्तत्वाचेतनत्वानि षट् सन्ति। आत्मद्रव्यस्य ज्ञानदर्शनसुखवीर्यामूर्त्तत्वचेतनत्वानीति षट् गुणा भवन्ति। अथान्येषा द्रव्याणा समुदायेन त्रय एव गुणा भवन्ति, एको निजगुण, अचेतनत्वम् अमूर्त्तत्वम्, इति विमृश्य धार्यम् ॥८॥

व्याख्यार्थः—अब इन द्वादश गुणोंके जब चेतनत्वआदि चारों गुणोंका योग होता है, अर्थात ये पूर्वोक्त द्वादश गुण जब चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व, और अमूर्तत्व इन चारो गुणोंसहित होजाते हैं, तब सोलह विशेष गुण हो जाते हैं। उन सोलह गुणोंमेसे पुद्गलद्रव्यके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मूर्तत्व ओर अचेतनत्व ये छह विशेषगुण होते हैं। और आत्म (जीव) द्रव्यके ज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य, अमूर्तत्व तथा चेतनत्व ये षट् विशेष गुण हैं। और अन्य द्रव्यके समुदायसे तीन ही गुण होते हैं। उनमेसे एक निजगुण तथा अचेतनत्व और अमूतत्व ऐसे दो ये, इस प्रकार विचारके निश्चय करना चाहिये ॥८॥

अन्येषां चैव द्रव्याणां त्रीणि त्रीणि पृथक् पृथक् ।
स्वजात्या चेतनत्वाद्याश्चत्वारोऽनुगता गुणाः ॥९॥

भावार्थः—अन्य द्रव्योंके पृथक् पृथक् तीन तीन गुण होते हैं। और निज जातिकी अपेक्षासे चेतनत्वआदि चार गुण अनुगत है ॥ ९ ॥

व्याख्या । अन्येषा द्रव्याणा पृथक् पृथक् त्रय' २ गुणा । यथा धर्मास्तिकायस्य गतिहेतुतागुणः, अचेतनत्वगुणः, अमूर्त्तत्वगुण । एव त्रयोऽधर्मास्तिकायस्य स्थितिहेतुत्वाचेतनत्वामूर्त्तत्वादयः । आकाशास्तिकायस्यावगाहहेतुताचेतनत्वामूर्त्तत्वादय । कालस्य वर्त्तनाहेतुत्वाचेतनत्वामूर्त्तत्वादय । इत्यादि ज्ञेयम् । अथ चेतनाद्याश्चात्वार सामान्यगुणा । चेतनत्वाचेतनत्वमूर्त्तत्वानि सामान्यगुणेष्वपि सन्ति विशेषगुणेषु च सन्ति । तत्र किं कारण चेतनत्वाद्याश्चत्वार सामान्यगुणा स्वजात्यपेक्षया अनुगतव्यवहारकर्त्तार सन्ति तस्मात्सामान्यगुणाः कथ्यन्ते ॥९॥

व्याख्यार्थः—अन्य अर्थात् पुद्गल तथा जीवसे भिन्न द्रव्योंके पृथक् २ तीन २ विशेष गुण हैं। जैसे धर्मास्तिकायके गतिहेतुता, अचेतनत्व और अमूर्त्तत्व ये तीन विशेषगुण हैं, ऐसे ही अधर्मास्तिकायके स्थितिहेतुता, अचेतनत्व तथा अमूर्तत्व ये तीन विशेषगुण हैं। आकाशास्तिकायके अवगाहनत्व, अचेतनत्व, और अमूर्त्तत्व ये तीन विशेषगुण हैं। कालके वर्त्तनाहेतुत्व, अचेतनत्व तथा अमूर्त्तत्व ये तीन विशेषगुण है। इत्यादि जानना चाहिये। और चेतनत्वआदि अर्थात् चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व, और अमूर्तत्व ये चार सामान्यगुण है। चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व तथा अमूर्त्तत्व ये चार सामान्यगुणोमे भी हैं; और विशेषगुणोंमे भी हैं; इसमें क्या कारण है ? ऐसा पूछो तो उत्तर यह है, कि चेतनत्वआदि चार सामान्यगुण निज आश्रयीभूत जातिकी अपेक्षासे अनुगत व्यवहारके करनेवाले हैं, इसलिये ये सामान्यगुण कहे जाते है ॥९॥

एत एव विशेषेण गुणा अपि जिनेश्वरैः ।
परजातेरपेक्षया ग्रहणेन परस्परम् ॥१०॥

भावार्थः—और परजातिकी अपेक्षासे परस्पर ग्रहण करनेसे इन्हीं चारों गुणोंको श्री जिनेश्वरोंने विशेषगुण भी कहा है ॥ १० ॥

व्याख्या । परजात्यपेक्षया चेतनत्वादयोऽचेतनत्वादिकेभ्य' स्वाश्रयव्यावृत्तिकराः सन्ति ततो विशेषगुणाः परापरसामान्यवत्सामान्यविशेषगुणत्वमेषामिति भाव । एत एव विशेषेणेति स्पष्टम् ॥१०॥

व्याख्यार्थः—चेतनकी अपेक्षा अचेतन पर [illegible] चेतनत्वआदि अचेतनत्वआदिकसे निज आश्रयमे [illegible] है।

भावार्थ—जैसे द्रव्यत्व सामान्य पृथिवीत्वआदिकी अपेक्षासे पर है; और द्रव्य, गुण, तथा कर्मके ऊपर रहनेवाली सत्ता जातिकी अपेक्षासे ऊपर भी है; ऐसे परापर सामान्यकी भाति चेतनत्वआदि गुणोंके सामान्यगुणता तथा विशेषगुणता ये दोनों है । **'एत एव विशेषेण'** इत्यादि पूर्वार्द्धका अर्थ तो स्पष्ट ही है, इसलिये व्याख्या नहीं की ॥ १० ॥

विशेषेण गुणाः सन्ति बहुस्वभावकाश्रयाः ।
अर्थेन ते कथं गुण्याः स्थूलव्यवहृतिस्त्वियम् ॥११॥

भावार्थः—अनेक स्वभावयुक्त पदार्थोंमे रहनेवाले विशेषगुण अनन्त है । उन सबकी पदार्थके साथ कैसे गुणना हो सकती है; इसलिये पुद्गलके विशेषगुण हैं, इत्यादि जो पूर्व कथन किया है, सो स्थूल व्यवहारसे जानना चाहिये ॥ ११ ॥

व्याख्या । ज्ञानदर्शनसुखवीर्या एत आत्मनो विशेषगुणा, स्पर्शरसगन्धवर्णा एते पुद्गलस्य विशेषगुणा., इत्येतद्यत्कथित तदिय स्थूलव्यवहृति स्थूलव्यवहार । यतश्चाष्टौ सिद्धगुणा, एकत्रिंशत्सिद्धगुणा, एकगुणकालकादय, पुद्गला अनन्ता, इत्यादिविचारणया विशेषगुणानामानन्त्योत्पत्ति । सा च छद्मस्थज्ञान-गोचरा नास्ति । अतोऽर्थेन ते कथं गुण्यास्तस्माद्धर्मास्तिकायादीना गतिस्थित्यवगाहनावर्त्तनाहेतुत्वोपयोग-ग्रहणाख्या' षडेवास्तित्वादय । सामान्यगुणास्तु विवक्षया अपरिमिता इत्येव न्याय्यम् । षण्णा लक्षणवता लक्षणानि षडेवेति हि को न श्रद्दधाति । गाथा 'नाण च दसण चेव चरित्त च तवो तहा । वीरिय उव ओगोय एव जीवस्स लक्खण । १ । सद्दधकार उज्जोया पभा छायातहेव य । वण्णरसगधफासा पुग्गलाणं तु लक्खण ।२।' इत्यादि तु स्वभावविभावलक्षणयोरन्योन्येनान्तरीयकत्वप्रतिपादनायेत्यादि पण्डितैर्विचार-णीयम् ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थः—ज्ञान, दर्शन, सुख तथा वीर्य ये आत्माके विशेषगुण हैं, तथा स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये पुद्गलके विशेषगुण है, इस प्रकार जो कथन किया गया है, सो स्थूल व्यवहारसे है, ऐसा समझना चाहिये । क्योंकि-सिद्धोंके आठ गुण हैं, पुनः प्रकारान्त-रसे सिद्धोंके ३१ इकतीस गुण है, कालआदि एक गुणके धारक है, पुद्गल अनन्त हैं; इसलिये उनके गुण भी अनन्त है, इत्यादि विचारके करनेसे विशेषगुणोंके अनन्तताकी उत्पत्ति होती है, और वह छद्मस्थ ज्ञानके गोचर नहीं है । इस कारणसे पदार्थके साथ उन सब विशेषगुणोंकी गणना कैसे हो सकती है; अर्थात् अल्पज्ञानावस्थामें उन सब विशेषगुणोका जानना तथा उनकी गणना करना दोनों ही असंभव हैं इस कारणसे धर्मास्तिकायआदिके गति, स्थिति, अवगाहन, वर्त्तनाहेतुता, उपयोग तथा ग्रहणरूप षट् प्रकारके ही गुण समझने चाहिये । और अस्तित्वआदि सामान्यगुण तो विवक्षासे अपरिमित (अपरिमाण) हैं, यही न्याय है, क्योंकि-षट् लक्षणवालोंके अर्थात् द्रव्योंके लक्षण भी ६ ही हैं; इस विषयमे कौन नहीं श्रद्धान करेगा और "ज्ञान, दर्शन, चारित्र,

तप, वीर्य, तथा उपयोग ये षट् जीवके लक्षण हैं ।१। शब्द, अंधकार, उद्योत, प्रभा, छाया, वर्ण, रस, गंध, तथा स्पर्श ये पुद्‌गलोंके लक्षण है ॥ २ ॥ इत्यादि जो कथन है; सो तो स्वभाव तथा विभाव लक्षणोंसे परस्परके भेदको प्रतिपादन करनेके लिये है; ऐसा पंडितोंको विचार लेना चाहिये ॥ ११ ॥

स्वभावगुणतो भिन्ना धर्ममात्रविवक्षया ।
स्वस्वरूपस्य मुख्यत्वं गृहीत्वा समुदाहृताः ॥ १२ ॥

भावार्थः—स्वभावगुणसे तथा धर्ममात्र विवक्षासे ये भिन्न हैं, परन्तु निज निज स्वरूपकी मुख्यताका ग्रहण करके ये गुण कहे गये है ॥ १२ ॥

व्याख्या । स्वभावगुणतो निजत्वव्यवहारेण धर्ममात्रविवक्षया अनुवृत्तिसबन्धेन चैते भिन्ना. पृथक् २ सन्ति न कोऽपि कश्चिन्मिश्रीभवति । परन्तु स्वस्वरूपस्य निजनिजरूपस्य मुख्यत्व प्राधान्य गृहीत्वा अनुवृत्तिसबन्धमात्रमनुसृत्य समुदाहृता ये स्वभावा सन्ति त एव गुणीकृत्य दर्शिता । तत इदमत्र बोध्यम्-धर्मापेक्षया अत्रैते गुणात्मका पदार्था. पृथक्स्वभावगुणतो भिन्ना उक्तास्तत्तु निजकीयनिजकीयरूपमुख्यता गृहीत्वैव स्वभावगुणीकृत्योपदिष्टा इत्यर्थ । तस्मादत्र गुणविभाग कथयित्वा अग्रे प्रतिपाद्यमानपद्ये स्वभावविभावयो कथनमुदाहरिष्यतीति ध्येयम् ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थः—स्वभावगुणसे अर्थात् निजत्व वा आत्मीयत्व व्यवहारसे और धर्ममात्रकी विवक्षासे अर्थात् अनुवृत्तिसंबन्धसे ये सब गुण पृथक् २ है, कोई किसीसे नहीं मिलता । परन्तु अपने अपने स्वरूपकी मुख्यता(प्रधानता)को ग्रहण करके अर्थात् अनुवृत्ति संबन्धमात्रका अनुसरण करके जो स्वभाव हैं, वे ही भिन्न करके दर्शाये हैं, इसलिये यहापर ऐसा जानना चाहिये कि—धर्मकी अपेक्षासे जो ये गुणरूप पदार्थ पृथक् पृथक् स्वभाववाले गुणसे भिन्न भिन्न कहे गये है, वे निज निज रूपकी मुख्यताको ग्रहण करके ही उस प्रकारके स्वभावके गुण करके उपदेश किये गये है, यह तात्पर्य है । इसलिये यहांपर प्रथम गुणका विभाग कहकर, आगे कहे जानेवाले श्लोकमे स्वभाव तथा विभावके कथनका उदाहरण दिया जायगा ऐसा समझना चाहिये ॥ १२ ॥

अस्तिस्वभाव ऐषोऽत्र स्वरूपेणार्थरूपता ।
स्वभावपरभावाभ्यामस्तिनास्तित्वकीर्त्तनात् ॥ १३ ॥

भावार्थः—यहापर पदार्थके निजस्वरूपसे जो अर्थरूपता है; वह अस्तिस्वभाव है । क्योंकि—स्व(अपने)भावसे अस्तित्व और परभावसे नास्तित्वका कथन होता है ॥ १३ ॥

व्याख्या । अत्रेति गुणप्रस्तावनाया प्रथममस्तिस्वभावस्तु एष स्वरूपेण निजकीयरूपेणार्थरूपता द्रव्ययाथात्म्य स्वद्रव्यस्वक्षेत्रस्वकालस्वभावैश्च भावरूपतैव ज्ञेया । कस्मात्स्वभावपरभावाभ्यामस्तिनास्तित्वकीर्त्तनात् । यथा स्वभावेनास्तित्वं स्वभावोऽस्ति तथैव परभावेन नास्तित्व स्वभावोऽप्यस्ति । ततोऽत्रास्तिस्वभाव कारणी वर्त्तते कथ तदस्तिस्वभावो हि तत्र

निजरूपेण भावरूपतास्ति । यथा परस्वभावेन नास्तिस्वभावानुभवन तथा निजभावेन स्वभावानुभवनमपि जायते । अत उभयत्र कार्यरूपोऽस्तिस्वभाव इति॥ १३ ॥

व्याख्यार्थः—यहाँ अर्थात् गुणके प्रस्ताव(प्रसंग)मे प्रथम अस्तिस्वभाव यह है, कि—वस्तुमे स्वरूपसे अर्थात् अपने रूपसे जो अर्थरूपता अर्थात् द्रव्यकी यथार्थता है; वही स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, और स्वभावसे भावरूपता है, ऐसा जानना चाहिये । क्योंकि-स्वभावसे अस्तित्व तथा परभावसे नास्तित्वका कथन है । भावार्थ–जैसे अपने भावसे अस्तित्व स्वभाव है, ऐसे ही परके भावसे नास्तित्वस्वभाव भी वस्तुमे है । इसलिये यहां अस्तिस्वभाव कारणीभूत है । वह किस प्रकारसे है, कि–स्वभाव ही वहाँ निजरूपसे भावरूपता है । जैसे परके भावसे नास्तिस्वभावका अनुभव होता है, वैसे ही निजभावसे स्वभावका भी अनुभवन होता है, इस हेतुसे अस्तित्व तथा नास्तित्व इन दोनोंमे कार्यरूप अस्ति स्वभाव है ॥ १३ ॥

न चेदित्थं तदा शून्यं सर्वमेव भवेदिदम् ।
परभावेन सत्त्वे तु सर्वमेकमयं भवेत् ॥ १४ ॥

भावार्थः—यदि ऐसा न हो अर्थात् अपने भावसे अस्तित्व न माना जावे तो यह संपूर्ण जगत् शून्य होजाय, और परभावसे यदि सत्त्व अङ्गीकार करे तो सव एकमय अर्थात् एकरूप ही होजाय ॥ १४ ॥

व्याख्या । चेद्यदि अस्तिस्वभावो नाङ्गीक्रियते परभावापेक्षया यथा नास्तित्व तथा स्वभावापेक्षयापि नास्तित्वावलम्बने सति सर्वं जगदिद प्रपचमानव्यतिकरमपि शून्य भवेत् । तस्मात्स्वद्रव्यापेक्षया अस्तिस्वभाव सर्वथैवाङ्गीकरणीय । परभावेन परद्रव्याद्यपेक्षयापि नास्तित्वस्वभावोऽप्यवश्यमङ्गीकर्त्तव्य इत्यर्थ । तथा च परभावेनापि सत्तामस्तिस्वभावमङ्गीकुर्वता सर्वस्वरूपेणास्तित्वे जायमाने च जगदेकरूप भवेत् । तत् सकलशास्त्रव्यवहारविरुद्धमस्ति । तस्मात्परापेक्षया नास्तिस्वभाव एव समस्ति । अथ सत्ता तु स्वभावेन वस्तुविषय ज्ञापयति, अत सत्तेति सत्यमस्ति । असत्ता तु स्वज्ञानेन परमुखनिरीक्षण कुरुते तत कल्पनया ज्ञानविषयत्वेन च असत्तेत्यसत्यमस्ति । इत्य बौद्धाना मत वर्त्तते ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थः—यदि अस्तिस्वभावको नहीं कहते हो तो जैसे परभावकी अपेक्षासे नास्तित्व है, वैसे ही स्वभावकी अपेक्षासे नास्तित्वका ग्रहण होजानेसे यह सव जगत् अर्थात् प्रपंच्यमान व्यतिकर भी शून्य होजायगा । इस कारणसे स्वकीय द्रव्य, क्षेत्रआदिकी अपेक्षा से अस्ति-स्वभावको अवश्यमेव मानना चाहिये, और इसी प्रकार परभावसे अर्थात् परद्रव्यआदिकी अपेक्षासे नास्तिस्वभाव भी अवश्य स्वीकृत करना चाहिये यह तात्पर्य है । और परभावसे अर्थात् अन्यके द्रव्य क्षेत्रआदिकी अपेक्षासे अस्तिस्वभावको स्वीकार करनेवालोके मतसे सर्व स्वभावसे अस्तित्व सिद्ध होजानेपर संपूर्ण जगत् एकरूप ही होजायगा, और सर्वथा समस्त जगत्का एकरूप हो जाना सव शास्त्रोंसे विरुद्ध है, इसलिये परकी अपेक्षासे

नास्तिस्वभाव ही समीचीन है। "अब सत्ता तो अपने अस्तिस्वभावसे वस्तुविषयताको ज्ञापित करती है; अर्थात् वस्तुको जताती है; इसलिये सत्ता यह सत्य है, और असत्ता अपने असत्विषयक ज्ञानसे केवल परके मुखकी ओर ताकती है; इसलिये केवल कल्पनासे ज्ञानका विषय होनेसे अर्थात् कल्पनामात्रसे ज्ञानमें भासनेसे असत्ता असत्य (मिथ्या) है" ऐसा बौद्धोंका मत है ॥ १४ ॥

तदेव खण्डयन्नाह ।

अब इसी असत्ताको मिथ्या कहनेवाले बौद्धोंके मतका खंडन करते हुए कहते हैं।

यत्सत्तावदसत्ता तु न स्फुरेद् व्यञ्जकं विना ।
तत्सन् शरावगन्धोऽपि विना नीरं न संभवेत् ॥ १५ ॥

भावार्थः—जैसे सत्ता तत्क्षण स्फुरायमान होती है, वैसे जो असत्ता नही स्फुरायमान होती है; तो इसमे व्यंजकका नहीं मिलना कारण है, क्योंकि—शराबमें विद्यमान शराबका गंध भी जलके विना नहीं जाना जाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या । यत्सत्तावत् तत्क्षणमेवासत्ता तु न स्फुरेत्, तत्, व्यञ्जक विना व्यञ्जकस्यामिलनवशत । परन्तु शून्यत्वेन, अथ च तुच्छत्येन नह्यास्त । तत्र दृष्टान्तमाह । तदिति उदाहरणसन् विद्यमान शरावे वर्तमान: शरावगन्धोऽपि नीर विना नीरस्पर्शनमन्तरेण न सम्भवेत् न ज्ञायते । एतावता गन्धापेक्षा असत्या नास्ति किन्तु केषाचिद्वस्तूना गुणा· स्वभावेनानुभूयन्ते, केषाचिच्च प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्या एव सन्तीत्येतद्वस्तुवैचित्र्यमस्ति । परन्त्वेकस्यैव कस्यचिद्धर्मस्य न्यूनत्वकथने बहुव्यवहारविलुप्तिर्जायते । उक्त च श्रीमद्यशोविजयोपाध्यायैर्भाषारहस्यप्रकरणे "ते हुति परावेक्खा वजयमुहदसिणोऽवि णयतुच्छा । विट्ठमिण वेचित्त सरावकप्पूरगधाण" ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थः—जो सत्ताकी भांति असत्ता उसी क्षण स्फुरित (प्रकट) नहीं होती है सो व्यंजकके विना अर्थात् व्यंजकके न मिलनेसे तत्काल स्फुरित नहीं होती। परन्तु असत्ता शून्य है अथवा तुच्छ है, इसवास्ते स्फुरित नही होती यह बात नहीं है। इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं। सूत्रमें तत् शब्द जो है सो उदाहरणका प्रदर्शन करता है इस लिये उदाहरण यह है कि शराब अर्थात् सरवा (मृत्तिकाका बना हुआ कोरा पात्र) जो है उसमे विद्यमान जो उस शराबका गंध है वह भी जलके स्पर्शविना नहीं जाना जाता । इससे तात्पर्य यह है कि शराबमें विद्यमान गंध असत्य नहीं है किन्तु सत्य ही है। परन्तु वह जो जलस्पर्शके विना नहीं जाना जाता है इसमें वस्तुकी विचित्रताही कारण है। कितनेही पदार्थोंके गुण स्वभावसेही अनुभूत होते हैं और कितनेही पदार्थोंके गुण प्रतिनियत जो व्यंजक हैं उनसेही जाने जाते हैं यह वस्तुस्वभावकी विचित्रता है। परन्तु वस्तुमें तत्क्षण वह धर्म स्फुरित न हो तो उसकी न्यूनता (कमी) कह देनेसे बहुतसे व्यवहारोंको लोप हो जाता है। और इस विषयमें श्रीयशोविजयजी उपाध्यायने "भाषा-

रहस्यप्रकरण"मे कहा भी है कि "नास्तिस्वभाव परकी अपेक्षा रखते हैं और तुच्छनयके विषय है और व्यंजकका मुख देखा करते है । यह वस्तुका वैचित्र्य शराव तथा कपूरके गंधमे देखा हुआ है अर्थात् जैसे शराव तथा कपूरका गंध व्यंजक विना प्रकट नहीं होता वैसे नास्तिस्वभाव भी व्यंजककी अपेक्षा रखता है ॥ १५ ॥

यत्स्वस्वानेकपर्यायैर्भिन्नं द्रव्यं तदेव हि ।
नित्यानित्यस्वभावेन पर्यायपरिणामता ॥ १६ ॥

भावार्थः—जो निज निज अनेक पर्यायोसे भिन्न अर्थात् भेदक द्रव्य है वही नित्य तथा अनित्य स्वभावसे पर्यायकी परिणामता है ॥ १६ ॥

व्याख्या । यत्स्वस्वानेकपर्यायैर्निजनिजक्रमभाविभि. श्यामत्वरक्तत्वादिभिर्भिन्न भेदक द्रव्य वर्त्तते परन्तु तदेव हि निश्चित द्रव्य तदेव यत्पूर्वमनुभूतमभविष्यदित्येतत्तत्त्वज्ञान यस्माज्जायते तन्नित्यस्वभावत्व कथ्यते "तद्भावाव्यय नित्यमिति" सूत्रम् । प्रध्वसाप्रतियोगित्वं नित्यत्वमित्यस्याप्यत्रैव पर्यवसान केनचिद्रूपेणैव तल्लक्षणव्यवस्थिते । अनित्यस्वभावपर्यायपरिणतिर्येन प्राप्यते, येन च रूपेणोत्पादव्ययौ स्त, तेन रूपेणानित्यस्वभावोऽस्ति । ततो नित्यानित्यस्वभावेन पर्यायपरिणामता ज्ञेया ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थः—जो अपने अपने क्रमभावी श्यामत्व तथा रक्तत्व आदि पर्यायोसे भिन्न अर्थात् भेदक द्रव्य है परन्तु निश्चय करके वही द्रव्य है जो पहले अनुभवमे आया हुआ है और आगे अनुभवमे आवेगा, ऐसा तत्त्वज्ञान जिसके द्वारा होता है उसको नित्यस्वभाव कहते हैं । क्योकि "तद्भावाव्ययं नित्यम्" "जिसके स्वभावका नाश न हो वही नित्य है" ऐसा सूत्र है । और 'जो ध्वंसाभावका अप्रतियोगी है वह नित्य है, इस लक्षणका भी यहा ही समावेश है; क्योंकि चाहे जैसा लक्षण करो अविनाशीस्वरूपकी स्थितिमे तात्पर्य है । और अनित्य स्वभावरूप पर्यायोंका परिणाम जिसके द्वारा प्राप्त होता है तथा जिस रूपसे उत्पत्ति और नाश होता है उस रूपसे अनित्यस्वभाव है । इस कारणसे नित्य और अनित्य स्वभावसे पर्यायोंका परिणाम जानना चाहिये ॥ १६ ॥

सद्वस्तु नाशयन् रूपान्तरेणाभाति यद्द्विधा ।
सत्सामान्यविशेषाभ्यां स्थूलार्थान्तरनाशता ॥ १७ ॥

भावार्थः—विद्यमान वस्तुको रूपान्तरसे नष्ट करता हुआ जो द्रव्य दो प्रकारका भासता है सो सत् सामान्य और विशेषसे स्थूल अर्थान्तरकी नाशता होती है ॥ १७ ॥

व्याख्या । सद्वस्तु विद्यमान वस्तु रूपान्तरेण पर्यायविशेषेण नाशयन्नवस्थान्तरमापादयन् यद्द्रव्य द्विधा द्विभेदमेतद्रूपेण नित्यमेतद्रूपेणानित्य चेति वैचित्र्यमाभाति । यथा च सत्सामान्यविशेषाभ्यां स्थूलार्थान्तरनाशतेति विशेषस्य सामान्यरूपत्वादनित्यत्व, यथा घटनाशेऽपि

मृद्द्रव्यानुवृत्तेः । तथा पुन सामान्यस्यापि स्थूलार्थान्तरघटादिनाशेऽनित्यत्व, घटनाशे मृन्न घट इति प्रतीतेः ॥१७॥

व्याख्यार्थः—विद्यमानवस्तुको रूपान्तरसे अर्थात् पर्यायविशेषसे एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें प्राप्त करते हुए जो द्रव्य दो भेदयुक्त अर्थात् इस रूपसे नित्य है और इस रूपसे अनित्य है इस प्रकार विचित्रतासे भासता है, वहाँ सत्सामान्य तथा विशेषसे स्थूल अर्थान्तरकी नाशता है जैसे-विशेपके सामान्यरूपसे अनित्यता है । दृष्टान्त-जैसे घटके नाश होनेपर भी मृत्तिकारूपकी अनुवृत्ति अन्य पर्यायोमे होती है वैसे सामान्यके भी स्थूल पदार्थांतर घट आदिका नाश होनेपर अनित्यता है । क्योंकि घटरूपसे जो मृत्तिका है वह घट नहीं है ऐसी प्रतीति होती है ॥१७॥

नित्यत्वं नास्ति चेत्तत्र कार्यं नैवान्वयं विना ।
कार्यकालेऽप्यसन् हेतुः परिणतिं विगोपयेत् ॥१८॥

भावार्थः—यदि पदार्थकी नित्यता नही मानोगे तो अन्वयके विना कार्यकी उत्पत्तिही न होगी । और कार्यकालमें भी अविद्यमान हेतु परिणामको नहीं होने देगा ॥ १८ ॥

व्याख्या । चेद्यदि नित्यत्व नास्त्यथ चैकान्तक्षणिकमेव स्वलक्षणमस्ति । तत्र त्वन्वय विना कार्यं नो निष्पद्यते । यत कारणक्षण कार्यक्षणोत्पत्तिकाले च निर्हेतुकनाशमनुभवन्नसन्नेवास्ति । तच्च कार्यक्षणपरिणतिं कथ कुर्यात्, असत्कारणक्षण कार्यक्षण करोति तदा विनष्टकारणादथवानुत्पन्नकारणात्कार्यं निष्पन्न युज्यते, तदा तु कार्यकारणभावस्य विडम्बना जायते । अवहित एव य कारणक्षण कार्यक्षण च कुरुव एव यदोच्यते तदापि रूपालोकमनस्कारादिक्षणरूपादीनां विषय उपादानालोकादिकविषये च निश्चितमिति व्यवस्था कथ घटते । यतोऽन्वय विना शक्तिमात्रविषय उपादाननिमित्तविषयेऽपि कथयितुर्व्यवहारो न स्यात्, तस्मादुपादानमित्यन्वयित्वेन मन्तव्यम् । अथान्वयित्व च तदेव नित्यस्वभावत्व मन्तव्यमित्यर्थ ॥१८॥

व्याख्यार्थः—यदि पदार्थकी नित्यता नहीं है किन्तु सर्वथा क्षणिक रूपही पदार्थका लक्षण है ऐसा मानते हो तो इस माननेमें कारणके अन्वय अर्थात् किसी स्वभावकी अनुवृत्ति विना कार्य नही सिद्ध हो सकता । क्योंकि कारणका क्षण कार्यक्षणके उत्पत्ति-कालमें भी हेतुरहित होकर नाशका अनुभव करता हुआ असत्‌रूप ही है ओर वह असत् कारणक्षण कार्यक्षणका परिणाम कैसे करेगा ? क्योंकि जब असत् कारणक्षण ही कार्य-क्षणकी उत्पत्तिको करेगा तब विनष्ट कारणसे कार्य उत्पन्न होता है अथवा अनुत्पन्न (नहीं पैदा हुए) कारणसे कार्य उत्पन्न होता है ऐसा कथन करना ठीक होता है । और नष्ट हुए तथा अनुत्पन्न कारणसे कार्य सिद्ध होता है ऐसा कथन करोगे तो कार्यकारणभावका मानना यह विडम्बनाही है । **भावार्थ**—नष्ट तथा अनुत्पन्न कारण कार्यको कैसे कर

सकता है ? अपि तु नहीं कर सकता । अब यदि यह कहो कि अवहित जो कारणक्षण है वही कार्यक्षणको भी करता है तब भी रूपका देखना तथा मनका व्यापार करना इत्यादि-के क्षणसहित रूपादिके विषयमे तथा उपादानकारण जो आलोकादि हैं उनके विषयमे कारणक्षण निश्चित है यह व्यवस्था कैसे घटित हो सकती है ? क्योंकि, अन्वयके विना शक्तिमात्रके विषयमे और उपादान निमित्तके विषयमें भी कथन करनेवालेका व्यवहार नहीं हो सकता । क्योंकि, वह उपादानता तो क्षणिक होनेसे उसी क्षणमे नष्ट होगयी फिर कार्यदशामे (घटरूप अवस्थामे) उपादान कारण (मृत्तिका) है यह व्यवहार कैसे हो सकता है ? । इसलिये उपादान कारणकी कार्यदशामे अनुवृत्ति रहती है यह वार्ता अवश्य मन्तव्य है । जो अन्वयपना है वही नित्य स्वभावत्व है ऐसा मानना चाहिये यह अर्थ है ॥ १८ ॥

सर्वथा नित्यता नास्ति न स्यादर्थक्रिया तदा ।
दलस्य कार्यरूपत्वानुत्पन्नत्वं विषीदति ॥१९॥

भावार्थः—और सर्वथा कारणरूपकी नित्यता भी नहीं है क्योंकि सर्वथा नित्यता माननेमे अर्थक्रिया न होगी, क्योंकि कारणके सर्वथा नित्यपनेमे कार्यरूपसे उत्पत्ति नहीं घटित होती है ॥ १९ ॥

व्याख्या । यदि सर्वथा नित्यस्वभावो मन्तव्य अथाप्यनित्यता अनित्यतास्वभाव. सर्वथा नास्त्येवमङ्गीकारेऽर्थक्रिया न स्यादर्थक्रिया न घटते । यतो दलस्य कारणस्य कार्यरूपत्वानुत्पन्नत्व विषीदति, कारणस्य कार्यरूपता परिणति कथचिदुत्पन्नत्वमेवागतम्, सर्वथा अनुत्पन्नत्व तु विषीदति विघटित भवतीति । अपर च यद्येव कथ्यते कारण तु नित्यमेव तद्वृत्ति कार्यं त्वनित्यमेव । तदा कार्यकारणयोरभेदसबन्धः कया युक्त्या घटते । भेदसबन्धाङ्गीकारे तत्सबन्धान्तरादिगवेषणया अनवस्था भवेद् । तत कथचिदनित्यस्वभावोऽपि माननीय. । इति भावार्थ ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थः—यदि सर्वथा (एकान्तरूपसे) नित्य स्वभावही माना जाय और अनित्य स्वभाव सर्वथा नहीं है ऐसा माना जाय तो अर्थक्रिया नहीं हो सकती । कारण कि कारणके कार्यरूप अनुत्पन्नता विघटती है अर्थात् कारणकी जो कार्यरूपमें परिणति है उससे कथंचित् उत्पन्नता ही आई और अनुत्पन्नता तो सर्वथा संगत नहीं होती है । और यदि ऐसा कहते हो कि कारण तो नित्यही है और उसमे रहनेवाला कार्य अनित्य ही है तब कार्य और कारणका जो अभेदसंबन्ध माना गया है वह किस युक्तिसे सिद्ध होगा ? क्योंकि नित्यता तथा अनित्यताका अभेदसंबन्ध नहीं हो सकता । तथा यदि कार्य और कारणका भेदसंबन्ध मानो तो वह संबन्ध किस संबन्धसे रहता है ? जो संबन्ध उसमे रहता है वह किस संबन्धसे है ?

इत्यादि संबन्धोंके खोज करनेसे अनवस्था दोष हो जायगा । इसलिये कथंचित् अनित्य स्वभाव भी अवश्य माननेके योग्य है । इस प्रकार श्लोकका तात्पर्य है ॥१९॥

स्वभावैकाश्रयत्वे त्वेकस्वभावविलासता ।
अनेकार्थप्रवाहेणानेकस्वभावसंभवः ॥२०॥

भावार्थः - स्वभावोका एकाश्रय स्वीकार करनेपर एक स्वभावकी विलासता है तथा अनेक स्वभावयुक्त पदार्थके प्रवाहसे अनेक स्वभावका भी संभव है ॥ २० ॥

व्याख्या । स्वभावैकाश्रये स्वभावो हि सहभावी धर्मस्तस्याधारत्वे स्वभावैकाश्रयत्वे त्वेक-स्वभावो यथा रूपरसगन्धस्पर्शानामाधारो घटादिरेक कथ्यते । नानाधर्माधारत्व एकस्वभावता नानाक्षणा-नुगमनत्वे नित्यस्वभावता इत्यय विशेषो ज्ञेय' । मृदादिद्रव्यस्य स्थासकोशकुसूलादिका अनेके द्रव्यप्रवाहाः सन्ति तेनानेकस्वभावप्रकाशे पर्यायत्वेनादिष्ट द्रव्य क्रियते, तदा आकाशादिद्रव्येष्वपि घटाकाशादिभेदेनैतत्स्व-भावदुर्लभता नास्ति । एवमनेकार्थप्रवाहेणानेकस्वभावसमव इति ॥२०॥

व्याख्यार्थः—स्वभावका अर्थ हे द्रव्यके साथ होनेवाला धर्म, उसके आधारको एक माननेसे एक स्वभाव होगा । जैसे-रूप, रस, गंध तथा स्पर्शका आधार (आश्रय) घट आदि पदार्थ एक कहा जाता है । और नानाप्रकारके धर्मोंका आधार होनेपर एकस्वभावता अर्थात् नानाक्षणमे वही मृत्तिकारूप द्रव्यका जो अनुगमन (अनुवृत्ति) है वह नित्यस्व-भावता है, यह विशेष जानना चाहिये । और मृत्तिका आदि द्रव्यके पिंड, कोश, कुसूल आदि अनेक द्रव्यप्रवाह होते रहते है इससे अनेकस्वभावयुक्त भी पर्याय रूपसे द्रव्य होता है । और जब ऐसा हुआ तब आकाश आदि द्रव्योमें भी घट आकाश, मठ आकाश, आदि भेदोंसे नानास्वभावता (अनेक स्वभावपना) दुर्लभ नहीं है । इस प्रकारसे नाना-प्रकारके स्वभावयुक्त द्रव्यका प्रवाह होनेसे द्रव्य नानास्वभावका धारक है, यह भी पक्ष संभव है ॥ २० ॥

विनैकत्वं विशेषो न सामान्याभावतो लभेत् ।
अनेकत्वं विना सत्ता विशेषाभावतो नहि ॥२१॥

भावार्थः—एक स्वभावके अभावमें सामान्यके विना विशेषकी प्राप्ति नही होती और अनेक स्वभावके विना विशेषका अभाव होने से सत्ता (सामान्य) की प्राप्ति नहीं होती है ॥ २१ ॥

व्याख्या । एकत्व विना एकस्वभाव विना सामान्याभावेन विशेषो न प्राप्यते । तथा अनेकत्व विना अनेकस्वभावमन्तरेण सत्ता अपि न घटते । तत एकानेकेति स्वभावद्वयमङ्गीकर्त्तुं योग्यम् । तथैव विशेषाभावतो नहीति, विशेषमन्तरा सामान्य न, सामान्यमन्तरा विशेषो नेति । एक विना अनेकता न, अनेक विना नैकत्वमिति ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थः—एकस्वभावके विना सामान्यका अभाव हो जावेगा और सामान्यके अभावसे विशेषकी प्राप्ति नहीं होती, ऐसेही अनेक स्वभावके विना सर्ववर्त्तिनी सत्ता भी नहीं घटित होती। इसलिये एक तथा अनेक ये दोनों स्वभाव वस्तुके अंगीकार करने चाहिये। ऐसेही विशेषके विना सामान्यरूप नहीं। अर्थात् विशेषके विना सामान्य और सामान्यके विना विशेष नहीं है। एकके विना अनेकता नहीं है और अनेकके विना एकत्व नहीं है ॥२१॥

संज्ञासङ्ख्यादिभेदेन भेदस्वभावता द्वयोः।
अभेदवृत्तिलक्षणं यत्तदेवाभेदभावनम् ॥२२॥

भावार्थः—संज्ञा तथा संख्या आदिके भेदसे गुण गुणी आदिके भेद स्वभाव हैं। और अभेदवृत्ति जो लक्षण है वही अभेद-भावना है ॥ २२ ॥

व्याख्या। द्वयोरिति गुणगुणिनो पर्यायपर्यायिणो कारककारकिनो संज्ञासंख्यादिभेदेन कृत्वा भेदस्वभावता ज्ञातव्या। यदभेदवृत्तिलक्षणं भेदरहितवृत्तेर्लक्षणवस्य तदेवाभेदस्वभावोऽभेदभावनं ज्ञेयम् ॥२२॥

व्याख्यार्थः—सूत्रमे "द्वयोः" यह जो पद है इससे गुण गुणी, पर्याय पर्यायी, तथा कारक और कारकी (जिसमे कारकका व्यवहार होता है उसे कारकी कहते हैं) इन दो दो के संज्ञा, संख्या आदिके द्वारा भेद स्वभावपना जानना चाहिये। और भेदवृत्तिसे रहित जो लक्षण है उस लक्षणसहितका ही अभेदस्वभाव जानना चाहिये ॥२२॥

भेदं विनैकतामीषां ततो व्यवहृतिक्षयः।
अनभेदात्कथ बोधो ह्यनाधारवतोर्द्वयोः ॥२३॥

भावार्थ—भेदस्वभावके विना इन सब द्रव्य, गुण तथा पर्यायोंकी एकता हो जायगी, और सबकी एकता होनेसे व्यवहारका अभाव होगा तथा अभेदके विना आधार-शून्य दोनो गुणपर्यायोंका बोध भी कैसे होगा ॥२३॥

व्याख्या। भेद विना भेदस्वभाव विना आमीषा सर्वद्रव्यगुणपर्यायाणामेकता ऐक्य स्यात्। तेन कृत्वा इद द्रव्यम्, अय गुण., अय पर्याय, इति व्यवहारस्य विरोधो जायते। अन्यथाभेदस्वभावो यदि न कथ्यते तदा अनाधारवतोर्निराधारयोर्द्वयोर्बोध कथ भवेत्। आधाराधेययोरभेद विना द्वितीय सबन्धो न घटते। अत्र प्रवचनसारगाथा "पविभत्तपदेसत्त पुधत्तमिदि सासण हि वीरस्स। अणत्तमत्तभावो ण तब्भव भवदि कधमेग। १।" ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थः—भेद स्वभावके विना इन सब द्रव्य, गुण तथा पर्यायोंकी एकता होजायगी और सबकी एकता होनेसे यह द्रव्य है, यह गुण है, तथा यह पर्याय है इत्यादि व्यवहारका विरोध होता है और यदि अभेद स्वभाव नहीं कहते हैं तो आधाररहित दोनोका बोध भी कैसे होवे क्योकि आधार तथा आधेयके अभेद विना दूसरा संबन्ध

घटित नहीं होता है । इस विषयमे प्रवचनसारकी गाथा भी है। उसका भाव यह है कि प्रविभक्तप्रदेशता है वही पृथक्त्व है ऐसा श्रीवीरभगवान्‌का उपदेश है और जो अन्यत्व है वह अतद्भाव है अर्थात् उसका स्वभाव नहीं है। क्योंकि वह उसमें नही होता इसलिये दोनों एक नही है अर्थात् गुण गुणी रूपतासे एकता नहीं है ॥ २३ ॥

अवस्थितात्मरूपस्याविर्भावाद्भव्यमिष्यते ।
सदाश्रयन्परं भावमभवन्नितरः स्वतः ॥ २४ ॥

भावार्थः—अवस्थित द्रव्यभावके अविर्भावसे भव्यस्वभाव है तथा सदा परभावका आश्रय करता है वह स्वभावसे इतर (भिन्न) अर्थात् अभव्य स्वभाव है ॥ २४ ॥

व्याख्या । अवस्थितात्मभावस्यानेककार्यकारणशक्तिक यदवस्थितद्रव्य तस्यावस्थितद्रवस्याविर्भावात्क्रमिक विशेषान्ताविर्भावादभिव्यङ्ग्य भव्य भव्यस्वभावमिष्यते । अथ सदा त्रिकाल पर भाव परद्रव्यानुगतित्व श्रयन्परस्वभावेन परिणमन्य स्यात्तत्स्वत स्वभावत इतरोऽभव्यस्वभाव इति कथ्यते ।१०। ‘अण्णोण्ण पविसता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स । मेलताविय णिच्च सगसगभाव ण विजहति । १ ।’ इति भावस्वभावार्थो ज्ञेय ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थः—अनेक कार्यकारणकी शक्तियुक्त जो अवस्थित द्रव्य है उस अवस्थित (विद्यमान) द्रव्यके क्रमसे जो आविर्भाव उससे जानने योग्य भव्यस्वभाव माना गया है ।९। और सदा (त्रिकालमे) जो परस्वभावसे परिणमन करता है वह स्व (अपने) भावसे भिन्न अर्थात् अभव्य स्वभाव कहा जाता है । १० । और परस्पर एक दूसरेके प्रदेशमें प्रवेश करते हुए तथा परस्पर अवकाशको देते हुए एवं नित्य मिलते हुए भी द्रव्य अपने अपने भावको नहीं छोड़ते है । यह भावस्वभावका अर्थ जानना चाहिये ॥ २४ ॥

शून्यत्वं कूटकार्येण भव्यभावं विना भवेत् ।
अभव्यत्वं विना द्रव्यान्तरता द्रव्ययोगतः ॥ २५ ॥

भावार्थः—भव्यस्वभावके विना असत्यकार्यके साथ योग होनेसे शून्यवत्ता होती है । और अभव्य स्वभावके विना द्रव्यके संयोगसे अन्य द्रव्यकी उत्पत्ति होती है ॥ २५ ॥

व्याख्या । भव्यभाव विना भव्यस्वभावमन्तरेण कूटकार्येणासत्यकार्येण योगे शून्यत्व शून्यवत्त्व भवेत् । किन्तु परभावे भवेन्नहि स्वभावे च भवेत्तदा भव्यत्व स्यादिति । अथ पुनरभव्यत्व विना अभव्यस्वभावानङ्गीकारे द्रव्ययोगत. द्रव्यस्य संयोगाद्द्रव्यान्तरता द्रव्यान्यत्व जायते । यस्माद्धर्माधर्मादीना जीवपुद्गलयोरेकावगाहनावगाढकारणेन कार्यंसकरोऽभव्यस्वभावेनैव न भवेदिति । तत्तद्द्रव्याणा तत्तत्कार्यहेतुताकल्पनमप्यभव्यत्वस्वभावगर्भितमेवास्ते । आत्मादे स्ववृत्त्यनन्तकार्यजननशक्त्या भव्य, तत्तत्सहकारिसमवधानेन तत्तत्कार्योपधायकताशक्तिश्च तथा भव्यतेति । तथा भव्यतयैवानतिप्रसङ्ग इति तु हरिभद्राचार्य· ॥२५॥

व्याख्यार्थः—भव्यस्वभावके विना असत्यकार्यका योग होनेसे शून्यवान्‌पना होवे । तात्पर्य यह कि परभावमें नहीं होवे और स्वभावमें हो तब भव्य भाव होता है । और अभव्य

स्वभावके न अंगीकार करनेपर द्रव्यके संयोगसे अन्यद्रव्यता होती है। इससे धर्म अधर्म आदि द्रव्योंके तथा जीव और पुद्गलके एक प्रदेशमे अवगाहना रूप अवगाढ कारणसे जो कार्यसंकरता नहीं होती है सो अभव्यस्वभावसेही नहीं होती है। और उन उन द्रव्योंके उन उन द्रव्योंके कार्योंका हेतुरूपसे जो कल्पन है वह भी इस अभव्यस्वभावमे ही गर्भित है। तात्पर्य यह कि आत्मा आदि द्रव्योंके अपनेमे रहनेवाले अनन्त कार्योंको उत्पन्न करनेकी जो शक्ति है उस शक्तिसे तो भव्यभाव है और उन उन सहकारी कारणोंके सन्निधानसे उन उन कार्योंकी उत्पादक जो शक्ति है वह अभव्य भाव है। और ऐसा माननेसे भव्यभावके साथ अतिव्याप्ति नहीं होती है। यह हरिभद्राचार्यजी कहते हैं ॥ २५ ॥

पारिणामिकस्वभावः परमभाव आहितः ।
विनैनं मुख्यता द्रव्ये प्रसिद्धया दीयते कथम् ॥ २६ ॥

भावार्थः—पारिणामिकस्वभाव जो है उसको परमभाव कहते हैं। इस परमभावके विना द्रव्यमे प्रधानता प्रसिद्धरूपसे कैसे दी जावे? ॥ २३ ॥

व्याख्या। स्वलक्षणीभूतपारिणामिकभावप्रधानतया परमभाव आहित । यथा ज्ञानस्वरूप आत्मा। परिणामे भव. पारिणामिक. स चासौ स्वभावश्च पारिणामिकस्वभाव । परं प्रकृप्ट ज्ञानादि परम तच्च भाव परमभाव इत्यनेनात्मा ध्वन्यते। यदि हि परमभाव स्वभावो न कथ्यते तदा द्रव्यविषये प्रसिद्धतया प्रसिद्धरूप कथ दीयते। अनन्तधर्मात्मकवस्तुन एकधर्मपुरस्कारेणालाप्यते यत्तदेव परमताया लक्षण ज्ञेयमिति। एते एकादश स्वभावा सर्वेषा द्रव्याणा धारणीया.। एन परमभाव विना द्रव्ये द्रव्यविषये मुख्यता प्राधान्य प्रसिद्धया प्रसिद्धरूपेण कथ दीयत इत्येवमिति ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थः—अपने निजलक्षणभूत पारिणामिक भावकी प्रधानतासे परम भाव कहा गया है। जैसे—आत्मा ज्ञानस्वरूप है। परिणाममे जो हो उसे पारिणामिक कहते हैं। पारिणामिक ऐसा जो स्वभाव वह पारिणामिक स्वभाव है। उत्कृष्ट जो ज्ञान आदि सो परम हैं। परम जो भाव वह परम भाव है और इससे आत्मा ध्वनित होता है।११। यदि परम भावको स्वभाव नहीं कहैं तो द्रव्यमे प्रसिद्धरूप कैसे दिया जावे? क्योंकि, अनन्तधर्मवाले द्रव्यको जो एक धर्मको मुख्य करके उससे कहा जावे वही परम भावका लक्षण है, ऐसा जानना चाहिये। ये पूर्वोक्त एकादश (ग्यारह) स्वभाव छहों द्रव्योंके विषयमे ही धारण करने चाहिये। इस अंतिम परमभावके विना द्रव्यके विषयमे प्रधानता प्रसिद्ध रूपसे कैसे योजित कर सकते हो?। इस रीतिसे अस्तित्व आदि सब भावोंकी आवश्यकता दर्शायी गई है ॥ २७ ॥

इत्थं च सामान्यतया स्वभावा,
एकादशामी कथिताः श्रुतोक्ताः।

आप्तोक्तिमभ्यस्य निरस्य जाड्य-
मर्हत्क्रमाभोजरता भवन्तु ॥ २७ ॥

भावार्थः—इस प्रकार ये शास्त्रोक्त सामान्यरूपसे द्रव्योंके एकादश स्वभाव कहे गये है। भव्यजीवोंको उचित हे कि वे इनका पूर्णरूपसे अभ्यास करके और अपनी अज्ञानताको दूर करके श्रीजिनदेवोके चरणकमलोंकी सेवामें तत्पर होवें ॥ २७ ॥

व्याख्या। इत्थ च पूर्वोक्तप्रकारेण सामान्यतया सामान्यस्वभावसर्वद्रव्याधारतया स्वभावाः द्रव्याणा प्रकृतयः अमी प्रत्यक्षप्रमाणविषयीकृता कथिताः कण्ठतोऽर्थतश्चोक्ता. श्रुतोक्ता. श्रुते शास्त्र उक्ताः प्रतिपादितास्तान्स्वभावान्सम्यक् स्वबुद्धया अभ्यस्य अभ्यासीकृत्य जाड्य मौर्ख्यं निरस्य दूरीकृत्यार्हत्क्रमाम्भोजरता अर्हता तीर्थंकृता क्रमाः पादास्त एवाम्भोजानि कमलानि तत्र रक्ता आसक्ताः सादरा भवन्तु। श्रुतबोधस्यैतन्माहात्म्य श्रीजिनभजनसादरत्वमेवेति ध्येयम्। अत्र श्लेषेण भोजेति सन्दर्भकर्त्तुर्नामसङ्केतश्चेति। अथान्यग्रन्थाधिकार। अस्तित्वम् १ वस्तुत्वम् २ द्रव्यत्वम् ३ प्रमेयत्वम् ४ अगुरुलघुत्वम् ५ प्रदेशत्वम् ६ चेतनत्वम् ७ अचेतनत्वम् ८ मूर्त्तत्वम् ९ अमूर्त्तत्वम् १० द्रव्याणा दश सामान्यगुणा.। प्रत्येकमष्टावष्टौ। सर्वेषा दशसामान्यगुणाना मध्ये षट् सामान्यगुणा, चत्वार सामान्यविशेषगुणा, ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि, स्पर्शरसगन्धवर्णा, गतिहेतुत्वम्, स्थितिहेतुत्वम्, अवगाहनाहेतुत्वम्, वर्त्तनाहेतुत्वम्, चेतनत्वम्, अचेतनत्वम्, मूर्त्तत्वम्, अमूर्त्तत्वम्, द्रव्याणा षोडश विशेषगुणा, प्रत्येक जीवपुद्गलयो, इतरेषा प्रत्येक त्रयो गुणा, अन्तस्थाश्चत्वारो गुणा स्वजात्यपेक्षया सामान्यगुणा', विजात्यपेक्षया त एव विशेषगुणा.। इति गुणाधिकारः ॥ २७ ॥

इति द्रव्यानुयोगतर्कणाया कृतिभोजसागरविनिर्मितायामेकादशोऽध्याय. ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थः—भव्य जीव इस पूर्वोक्त प्रकारसे सामान्य स्वभाव संपूर्ण द्रव्योंके आधारसे प्रत्यक्ष प्रमाणके विषयमें लाये हुए शास्त्रमें कहे हुए द्रव्योंके एकादश ११ भेद जो कंठसे तथा अर्थसे कहे है, उन स्वभावोंको पूर्ण रीतिसे अभ्यासगोचर करके तथा उनके अभ्यासद्वारा मूर्खताको दूर करके श्रीतीर्थंकरोंके चरणरूपी कमलोमें विनयसहित आसक्त (तत्पर) होवे। क्योंकि शास्त्रज्ञानका यही माहात्म्य है कि श्रीजिनेन्द्रकी सेवामे आदर करै, यह समझना चाहिये। यहां श्लेषसे भोज यह ग्रन्थकारके नामका संकेत है। अब अन्य ग्रन्थका अधिकार करते हैं। अस्तित्व १ वस्तुत्व २ द्रव्यत्व ३ प्रमेयत्व ४ अगुरुलघुत्व ५ प्रदेशत्व ६ चेतनत्व ७ अचेतनत्व ८ मूर्त्तत्व ९ तथा अमूर्त्तत्व १० ये दश द्रव्योंके सामान्य गुण हैं। सामान्य गुण प्रत्येक द्रव्यमें आठ आठ रहते हैं। इन सब सामान्य गुणोंमें छह तो सामान्य गुण हैं और अन्तके चार सामान्य गुण भी है और विशेष गुण भी हैं। ज्ञान १ दर्शन २ सुख ३ वीर्य ४ स्पर्श ५ रस ६ गंध ७ वर्ण ८ गतिहेतुता ९ स्थितिहेतुता १० अवगाहनहेतुता ११ वर्त्तनाहेतुता १२ चेतनत्व १३ अचेतनत्व १४ मूर्त्तत्व १५ अमूर्त्तत्व १६ ये द्रव्योंके सोलह विशेष

गुण हैं। इन सोलह विशेष गुणोंमें जीवके छः छः गुण हैं, पुद्गलके भी छ छः गुण हैं, और अन्य धर्मादि चारों द्रव्योंमे प्रत्येकके तीन तीन गुण हैं। अंतके चेतनत्व- आदि चार गुण अपनी जातिकी अपेक्षासे सामान्य गुण हैं और परजातिकी अपेक्षासे विशेष गुण हैं। इस प्रकार गुणोंका अधिकार है ॥ २७ ॥

इति श्रीआचार्योपाधिधारक—पं० ठाकुरप्रसाद प्रणीत—भाषाटीकासमलङ्कृताया द्रव्यानुयोगतर्कणाव्याख्यायामेकादशोऽध्याय ॥ ११ ॥

अथ स्वभावाध्याय व्याचिख्यासुराह् ।

अव इस द्वादश (बारहवें) अध्यायमें स्वभावोंका निरूपण करनेकी इच्छासे यह श्लोक कहते हैं ।

चैतन्यं चेतना ख्याता त्वचैतन्यमचेतना ।
चेतनत्वं विना जन्तोः कर्माभावो भवेद्ध्रुवम् ॥ १ ॥

भावार्थः—चैतन्य चेतनाका नाम है और अचैतन्य अचेतनाका नाम है। इस चैतन्य नामक गुणके विना जीवके निश्चय करके कर्मोंका अभाव हो जावे ॥ १ ॥

व्याख्या। चिती सज्ञाने चेतति चेतयते वा चेतनस्तस्य भावश्चैतन्य चेतनाव्यवहारश्चेतनस्वभाव' १ तद्विपरीतमचैतन्यमचेतनस्वभाव २ चेतनत्व विना जन्तोर्जीवस्य कर्माभावो भवेदिति रागद्वेषरूप कारण चेतना ज्ञानावरणादिकर्मणोऽभाव । यत "स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुनाश्लिष्यते यथा गात्रम् । रागद्वेषक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवम् । १ ।" एव यदि जीवस्य सर्वथा अचेतनस्वभाव कर्माभाव एवेति ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ-—'चिती' धातुका संज्ञान अर्थात् जानना अर्थ है। जो स्वयं चेतै वा दूसरोंको चितावै उसको चेतन कहते हैं। उस चेननका जो भाव (धर्म) है उसको चैतन्य कहते हैं। और चेतनाका जो व्यवहार है सोही चेतनस्वभाव है। १। तथा चेतनस्वभावसे जो विपरीत है वह अचैतन्य वा अचेतन स्वभाव है। २। इनमें चेतन स्वभावके विना अर्थात् चेतनस्वभाव न माननेपर जीवके कर्मोंका अभाव होगा, क्योंकि कर्मबन्धमें जो राग तथा द्वेषरूप कारण है वह चेतना अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्मोंका अभाव है अर्थात् चेतनासे ही कर्मोंका बन्ध होता है। क्योंकि जैसे तैल आदिसे लिप्त शरीरवाले जीवका शरीर धूलसे लिप्त हो जाता है, ऐसेही राग तथा द्वेषसे आर्द्रीभूत (गीले हुए) जीवके ही कर्मोंका वन्धन होता है। इस कथनके अनुसार यदि जीवके चेतन स्वभाव न मानकर, सर्वथा अचेतन स्वभावही माने तो कर्मोंका अभावही होगा ॥ १ ॥

अचैतन्यं विना जीवे चैतन्यं केवलं यदि ।
ध्यानध्येयेष्टशिष्याणां का गतिर्जायते तदा ॥२॥

भावार्थः—यदि अचेतन स्वभावसे रहित केवल चेतन स्वभावही जीवमें मानो तो ध्यान, ध्येय (जिसका ध्यान किया जाता है उसे ध्येय कहते है), गुरु और शिष्य इनकी क्या गति होगी ? ॥ २ ॥

व्याख्या । अचैतन्य वर्जयित्वा केवल चैतन्य जीवे कथ्यते तदा अचेतनकर्मद्रव्योपश्लेषजनितचेतना-विकाराहते शुद्धसिद्धसादृश्य भवेदिति निश्चयः । तदा ध्यानध्येयगुरुशिष्याणा का गतिर्न कापि गति । ध्यानं किं ध्यायते, ध्येयश्च को भवति, को गुरु, शिष्योऽपि क इति व्यवस्थाभङ्ग स्यात्, सर्वशास्त्रव्यवहारश्चान्यथा स्यात् । शुद्धस्याविद्याया वृत्त्यापि क उपकारो भवति । तस्मादलवणा यवागूरितिवदचेतन आत्मा इदमपि कथंचित्कथ न धर्मो जायते ॥ २ ॥

व्याख्यार्थः—यदि अचेतन स्वभावको छोड़कर, केवल चेतन स्वभावही जीवमें कहा जावे तो अचेतन जो कर्मद्रव्य है उसके संबन्धसे उत्पन्न जो चेतनामें विकार है उसका अभाव हो जानेसे सब जीवोंमे शुद्ध जो सिद्ध जीव है उनकी समानता हो जाय अर्थात् अचेतन कर्मोंके अभावसे सब जीव सिद्धसमान हो जावे ऐसा निश्चय है । और सब जीवोंके सिद्धता होनेपर ध्यान, ध्येय, गुरु और शिष्य इनकी क्या गति (व्यवस्था) हो ? अपितु कुछ भी गति नहीं अर्थात् ध्यान किसको ध्यावे ? ध्यान करने योग्य कौन हो, गुरु कौन रहे और शिष्य भी कौन रहे ? अर्थात् कोई न रहे । क्योंकि, सब जीव समान हो गये इसलिये ध्यान, ध्येय, गुरु और शिष्यकी व्यवस्थाका नाश हो जाय और समस्त शास्त्रोंमे जो ध्यान आदिका व्यवहार होता है वह शास्त्रीय व्यवहार भी मिथ्या हो जाय । शुद्ध द्रव्यके अविद्याकी वृत्ति माननेसे भी क्या उपकार होता है ? इसलिये लवणरहित यवागू (लपसी) के सदृश अचेतन आत्मा है यह भी धर्म कथंचित् कैसे नहीं होता है ? अर्थात् होता ही है ॥ २ ॥

मूर्ति दधाति मूर्त्तत्वममूर्त्तत्वं विपर्ययात् ।
जीवस्य यदि मूर्त्तत्वं न तदा संसृतिक्षयः ॥३॥

भावार्थः—मूर्तिको धारण करता है इसलिये मूर्त्तत्व गुण है और जो मूर्त्तिको नहीं धारण करे वह अमूर्त्तत्व गुण है । यदि जीवके मूर्त्तत्व गुण न मानो तो संसारका क्षय (नाश) हो जावे ॥ ३ ॥

व्याख्या । मूर्त्तिः रूपरसगन्धस्पर्शादिसन्निवेशता तस्या धरणस्वभावो मूर्त्तत्व मूर्त्तस्वभाव । तस्माद्विपरीत तदमूर्त्तत्वममूर्त्तस्वभाव । यदि जीवस्य कथचिन्मूर्त्ततास्वभावो न भवेत्तदा शरीरादिमबन्धं विना गत्यन्तरसक्रमो न भवति, गत्यन्तरसक्रम विना ससारस्याभावो भवेदिति भाव ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थः—रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिका जो एक स्थानमे सन्निवेश (स्थिति वा रचना) है वह मूर्ति है, उस मूर्तिको धारण करनेका जो स्वभाव है वह मूर्त्त स्वभाव है। और मूर्त्तसे जो विपरीत (विरुद्ध) अर्थात् मूर्तिको न धारण करनेका जो स्वभाव है वह अमूर्त्त स्वभाव है । यदि जीवके कथंचित् मूर्त्त स्वभाव न हो तो संसारका अभाव हो जायगा । क्योंकि जीवके शरीर आदिके संवन्ध विना एक गतिसे दूसरी गतिमें गमन नहीं होता । और शरीर आदि मूर्त्त हैं । मूर्त्तका अभाव जीवमे माननेसे शरीर आदिके संबन्धका अभाव माना गया और शरीरादि संवन्धके अभावमें अन्य गति मे गमनका अभाव हुआ और जव अन्य गतिमें गमनका अभाव हुआ तो संसारका अभाव हुआ । अर्थात् जीवके एक गतिसे दूसरी गतिमे जो जाना है वही संसार है, अतः गत्यन्तरका अभाव हुआ तो संसारका नाश हुआ ही ॥३॥

अमूर्त्तत्वं बिना मोक्षः सर्वथा घटते न हि ।
एकप्रदेशता चेहाखण्डबन्धनिवासता ॥४॥

भावार्थः—यदि आत्माके सर्वथा मूर्त्त स्वभावही माना जावे तो आत्माको मोक्ष कदापि नहीं हो सकता । ओर अखन्डवन्धनिवासताको एकप्रदेशस्वभाव कहते है ॥४॥

व्याख्या । अथ यदि लोकदृष्टव्यवहारेण मूर्त्तस्वभाव एव आत्मा अङ्गीक्रियते तदा मूर्त्तत्व हेतुसहस्रैरप्यमूर्त्तत्व न भवेत् । एव सति मोक्षो न घटामाटीकते । तस्मान्मूर्त्तत्वसंवलितस्य जीवस्याप्यन्तरङ्गतया अमूर्त्तस्वभाव एव मन्तव्य इति । अथैकप्रदेशस्वभाव एकप्रदेशता सा चेहैकत्वपरिणतिरखण्डाकारबन्धस्य सन्निवेशस्तस्य निवासता भाजनत्व ज्ञातव्यम् । निष्कर्षस्त्वयम्–अखण्डतया आकृतीनां सन्निवेश परिणमनव्यवहारस्तस्य भाजनमाधाराधेयत्वमेकप्रदेशतोच्यत इति ॥४॥

व्याख्यार्थः—अब लोकके दृष्ट (देखे हुए) व्यवहारसे यदि आत्मा सर्वथा मूर्त्त स्वभावही है ऐसा मानते हो तव तो मूर्त्त स्वभावके हजारों हेतुओ (युक्तियों) से भी अमूर्त्तता नहीं होगी और जब आत्मा कभी अमूर्त्त न होगा तो मूर्त्त स्वभावके अभावके विना जीवके मोक्ष कदापि घटित नहीं हो सकता क्योंकि मूर्त्त शरीर आदिका संबन्ध जव नित्य वना हुआ है तब मोक्ष कैसे हो सकता है ? इसलिये मूर्त्त स्वभावसे मिले हुए जीवके अंतरंगपनेसे अमूर्त्त स्वभाव भी मानना चाहिये । और एक प्रदेश स्वभाव जो है वही एक प्रदेशता है । उस एकत्व परिणतिको यहां अखंडाकार बन्धके सन्निवेशका भाजन जानना चाहिये । तात्पर्य यह कि अखड रूपसे जो आकारोंका सन्निवेश अर्थात् परिणमन व्यवहार है उसका जो भाजन अर्थात् आधाराधेयपना है उसको एकप्रदेशता कहते हैं ॥४॥

भिन्नप्रदेशता सैवानेकप्रदेशता हि या ।
न चेदेकप्रदेशत्वं भेदोऽपि बहुधा भवेत् ॥५॥

भावार्थः—और जो अनेकप्रदेशता है उसीका नाम भिन्नप्रदेशता है। अब यदि एकप्रदेशता न मानो तो भेद भी अनेक प्रकारका हो जायगा ॥ ५॥

व्याख्या। भिन्नप्रदेशता सैवानेकप्रदेशस्वभावता। भिन्नप्रदेशयोगेन तथा भिन्नप्रदेशकल्पनया अनेकप्रदेशव्यवहारकारणयोग्यत्वमुच्यते। यद्येकप्रदेशस्वभावो न स्यात्तदा असङ्ख्यातप्रदेशादियोगेन बहुवचनवृत्त्यैकस्य धर्मास्तिकायस्यैक इति व्यवहारासम्भव. स्यात्, बहुधा बहवो धर्मास्तिकाया इत्यादिव्यवहारापत्ति. स्यादिति ॥५॥

व्याख्यार्थः—जो भिन्न प्रदेशता है वही अनेकप्रदेशस्वभावता है। तात्पर्य यह कि भिन्न प्रदेशके योगसे तथा भिन्न प्रदेशकी कल्पनासे अनेक प्रदेशके व्यवहारकारणयोग्यता कही जाती है। अब यदि एक प्रदेश स्वभाव न हो तो असंख्यात प्रदेश आदिके योगसे बहुवचनकी प्रवृत्ति होनेसे एक जो धर्मास्तिकाय द्रव्य माना गया है उसके एक इस व्यवहारकी असंभवता हो जायगी और धर्मास्तिकाय बहुत है इत्यादि व्यवहारकी आपत्ति होगी। **भावार्थ**—असंख्यात प्रदेशोंके धारक धर्मास्तिकायको जो एक द्रव्य माना है वह एकप्रदेशत्वके न माननेसे एक न रहेगा ॥५॥

निष्कम्पत्वं सकम्पत्वं विनानेकप्रदेशताम् ।
कथं च घटतेऽणूनां सङ्गतिः सर्वदेशजा ॥६॥

भावार्थः—तथा अनेक प्रदेश स्वभावके विना निष्कंपत्व और सकंपत्व व्यवहार नहीं हो सकता और आकाशादि द्रव्यके अणुओंका सर्वज तथा देशज संयोग भी किस प्रकार घट सकता है ॥६॥

व्याख्या। अनेकप्रदेशस्वभावो द्रव्यस्य यदि न कथ्यते तदा घटाद्यवयविनो देशत· सकम्पा देशतो निष्कम्पा दृश्यन्ते ते च कथ समवन्ति ॥ अथावयवकम्पेऽप्यवयवी निष्कम्प इति कथ्यते तदा चलतीति प्रयोगासभव एव भवेद्। देशवृत्तिकम्पस्य यथा परम्परासबन्धोऽस्ति तद्वद्देशवृत्तिकम्पाभावस्यापि परम्परा सबन्धोऽस्ति। तस्माद्देशतश्चलता देशतोऽचलता चेत्यस्खलितव्यवहारेणानेकप्रदेशस्वभावो मन्तव्यः। तथा चानेकप्रदेशस्वभावो नाङ्गीक्रियते तदा आकाशादिद्रव्यस्याणुसङ्गति परमाणुसयोग कथ घटते। सर्वजो देशज इति ॥६॥

व्याख्यार्थः—अब यदि द्रव्यका अनेक प्रदेश स्वभाव नहीं कहते हो तो घट आदि अवयवी किसी देशमें कपन (संचलन) सहित हैं और किसी देशमे कंपनरहित हैं ऐसे देख पड़ते हैं सो वे कंपसे सहित तथा रहित कैसे हो सकते हैं। क्योंकि यदि एकही प्रदेश है तो वह या तो सकम्प ही होगा या निष्कंप ही होगा। अब कदाचित् यह कहो कि एक प्रदेशस्वभाव अवयवके कंपसहित होनेपर भी अवयवी निष्कंप है इसलिये सकंप तथा निष्कंप दोनों व्यवहार हो सकते हैं तो अवयवी (घट आदि) चलता है यह जो प्रयोग है सो होही नहीं सकेगा। क्योंकि, जैसे एकदेश अवयववृत्ति

कंपनका तुम परम्परासंबन्ध मानकर, उससे अवयवीको सकंप कहते हो उसी प्रकार एकदेशवृत्ति जो निष्कंप है उसके परंपरासंबंधसे अवयवीमे निष्कंप भी कहोगे। इसलिये एकदेशसे अवयवी चलता है और एक प्रदेशसे अवयवी नहीं चलता यह जो अखंडित व्यवहार है इससे द्रव्यका अनेक प्रदेश स्वभाव है ऐसा मानना योग्य है। और यदि द्रव्यका इसी प्रकार अनेक प्रदेश स्वभाव अंगीकार नहीं करते हो तो आकाश आदि द्रव्यका सर्वज तथा देशज परमाणु संयोग कैसे वन सकता है ? । अव देशज तथा सर्वज संयोग क्या है ? इसको अग्रिम श्लोकसे स्पष्ट करते है ॥ ६ ॥

देशसकलभेदाभ्यां द्विधा दृष्टा जगत्स्थितिः ।
प्रत्येकं दूषणं तत्र ब्रूते वृत्तिश्च संमतेः ॥७॥

भावार्थः—देश तथा सर्वके भेदसे जगतकी स्थिति दो प्रकारकी देखी गई है। इनमेसे एक किसी पक्षके माननेसे संमति ग्रंथकी वृत्ति दूषण देती है ॥ ७ ॥

व्याख्या। एका वृत्तिर्देशतोऽस्ति यथा कुण्डलेनेन्द्रस्य, द्वितीया सर्वतोऽस्ति यथा समानवस्त्रद्वयस्य, तत्र प्रत्येक दूषण समतिवृत्तौ कथितम् । यत परमाणोराकाशादेश्च देशवृत्तिमङ्गीकुर्वतामाकाशादिकानां प्रदेशानङ्गीकारेऽप्यागच्छति । अथ च सर्वतोवृत्तिमङ्गीकुर्वता परमाणुराकाशादिप्रमाणत्वं लभते । उभयाभावे तु परमाणोरवृत्तित्व भवेत् । यावद्विशेषाभावस्य सामान्याभावनियतत्वादित्यादि ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थः—एक वृत्ति तो देशसे (एक देशसे संबंध रखनेवाली) है जैसे कुण्ड-लके साथ इन्द्रकी और दूसरी सर्व देशसे है जैसे समान आकारवाले दो वस्त्रोंके। उनमें प्रत्येक पक्षमे समति ग्रंथकी वृत्तिमे दूषण कहा गया है। क्योंकि परमाणु और आकाश आदिके एकदेशवृत्ति स्वीकार करनेवालोंके जो संयोग है वह यदि आकाश आदिके प्रदेश न माने जावे तो भी हो सकता है। और सर्व देशसे वृत्ति स्वीकार करनेवालोंके मतसे परमाणु आकाश आदिकी प्रमाणताको प्राप्त होता है अर्थात् जितना बड़ा आकाश है उतनाही बडा परमाणु भी होगा। और एकदेश तथा सर्वदेश दोनों ही वृत्तियोंको न माने तो परमाणुकी अवृत्ति ही होगी। एकदेश व सर्वदेश कोई वृत्ति न रहनेसे सामान्यसे वृत्तिका अभाव हो जायगा। क्योंकि समस्त विशेषभाव सामान्यके अभावके समनियत है इत्यादि ॥ ७ ॥

स्वभावादन्यथाभावो विभावोऽपि महद्वयथा ।
नानादेशादिकर्मोपाधिर्यतो घटते कथम् ॥८॥

भावार्थः—स्वभावसे अन्यथा भावरूप विभाव भी महान्यथारूप है। क्योंकि इस विभाव स्वभावके विना जीवके नाना देशकाल आदिसे उत्पन्न कर्मोपाधि कैसे घटित हो सकती है ? अर्थात् नहीं घटित हो सकती ॥ ८ ॥

व्याख्या । स्वभावाद् योऽन्यथाभाव स विभावस्वभाव कथ्यते । इति तु महद्दूषणारूप लगति । एतश्च विभावस्वभावस्याङ्गीकरण विना जीवस्य नानादेशादिकर्मोपाधिः कथ घटते । नानादेशाद्यनियतदेश-कालादिविपाकिकर्मोपाधिर्जीवस्यालग्ना युज्यते । तत उपाधिसवन्धयोग्यानादिविभावस्वभाव इति ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थः—निजस्वभावसे जो द्रव्यका अन्यथाभाव है उसको विभावस्वभाव कहते हैं । सो यह तो महाव्याधिरूप लगता है । और इस विभावस्वभावके अंगीकार न करनेसे जीवके नानादेशादि कर्मोपाधि कैसे बन सकती है ? तात्पर्य यह कि विभाव स्वभावके स्वीकार विना अनियत देश और काल आदिके संबन्धसे विपाकीभूत (फल देनेमें अभिमुख) जो कर्म हैं उन कर्मोरूप जो उपाधि है वह जीवके साथ नहीं लग सकती । इस कारणसे उपाधिसंयोगके योग्य अनादि विभाव-स्वभाव भी मानना योग्य है ॥ ८ ॥

शुद्धो भावः केवलमन्यश्चोपाधिकः स्मृतः ।
शुद्धं विना न मुक्तिश्च विनाऽशुद्धं न लेपता ॥ ९ ॥

भावार्थः—केवल निजस्वरूप मात्रसे जो स्थिति है वह शुद्धभाव है और उपाधिसे उत्पन्न हुआ अशुद्ध भाव है । शुद्ध भावके विना मुक्ति नहीं होती और अशुद्ध भावके विना जीवके कर्मोंका बन्धन नहीं होता है ॥ ९ ॥

व्याख्या । केवलत्व शुद्धो भाव, उपाधिभावरहितान्तर्भावपरिणतत्वं शुद्धस्वभावत्वम् । अन्योऽशुद्धभाव औपाधिक, उपाधिजनितबहिर्भावपरिणमनयोग्यता ह्यशुद्धस्वभावता । यदि शुद्धभावाङ्गी-कारत्व न क्रियते तदा मुक्तिर्न घटते, पुनश्चाशुद्धभावाङ्गीकारत्व न क्रियते तदा कर्मलेपो न घटते । अतएव शुद्धस्वभावस्य कदाप्यशुद्धता न स्यादशुद्धस्वभावस्यापि पश्चाच्छुद्धता न स्यात् । एकमेकान्तादिमत निरस्योभयस्वभावाङ्गीकरणे न किमपि दूषण भवेत् ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थः—केवलपना जो है वह शुद्धभाव है अर्थात् उपाधिभावसे रहित केवल द्रव्यके अन्तर्गत भावका जो परिणाम है वह शुद्ध स्वभाव है । और इससे अन्य अशुद्ध भाव है । वह उपाधिसे उत्पन्न होता है । अर्थात् उपाधिसे उत्पन्न जो बाह्यभाव है उस बाह्य भावके परिणमनरूप जो योग्यता है वही अशुद्ध स्वभाव है । अत्र यदि शुद्ध भावका स्वीकार न करे तो मुक्ति नहीं हो सकती है और यदि अशुद्ध स्वभावको नहीं मानें तो जीवके कर्मोंका संबन्ध नहीं बनता है । इसी कारणसे शुद्ध स्वभावके तो कभी अशुद्धता नहीं होती है और अशुद्ध स्वभावके कभी शुद्धता नहीं होती । इस प्रकार एकान्तवाद आदिका खंडन करके शुद्ध और अशुद्ध इन दोनों स्वभावोंके माननेमे कोई दूषण नहीं है ॥ ९ ॥

एकत्र निश्चितो भावः परत्र चोपचर्यते ।
उपचरितभावः स विनैनं नो परज्ञता ॥ १० ॥

भावार्थः—एक स्थानमे निश्चित जो भाव है वह दूसरे स्थानमें उपचारमे लाया जाता है । इसीको उपचरित भाव कहते हैं । इसके विना परका ज्ञान नहीं हो सकता ॥ १० ॥

व्याख्या । एकत्र निश्चितो भाव नियमितैकस्थानस्य भावस्य परस्थानोपचरणेनोपचरतिस्वभावता जायते । स उपचरितस्वभावो यदा नाङ्गीक्रियते तदा स्वपरव्यवसायिज्ञानवानात्मा किमु कथ्यते । ततो ज्ञानस्य स्वविषयत्व त्वनुपचरितमेवास्ते । अथ परविषयत्व तु परापेक्षया प्रतीयमानत्व, तथा परनिरूपित-सबन्धत्वेनोपचरितमरित । इत्थमुपचरितस्वभावता द्विप्रकारास्ति ॥ १० ॥

व्याख्यार्थः—जो भाव एक स्थानमे निश्चित है अर्थात् जिस स्वभावकी सत्ता एक पदार्थमे नियमसे है उस स्वभावका जब अन्य स्थानमे उपचार (आरोप) करते हैं तब उसको उपचरित—स्वभावता हो जाती है। उस उपचरित स्वभावको यदि नहीं स्वीकार करे तो आत्मा अपने और परके(दोनोंके) विषयमे व्यवसायात्मक ज्ञानका धारक है यह कैसे कहा जावे ? इस कारणसे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानके स्वविषयत्व अर्थात् अपना जो ज्ञान है वह तो अनुपचरित (उपचाररहित) ही है और परकी अपेक्षासे जो जानता है वह परनिरूपित संबन्धसे उपचरित है । और इस प्रकार जो उपचरित स्वभाव है वह दो प्रकारका है । यही आगेके श्लोकमे कहते है ॥ १० ॥

कर्मजः सहजश्चैतौ मूर्त्ताचेतनभावयोः ।
जन्तोराद्यो द्वितीयोऽपि सिद्धस्य विमलात्मनः ॥ ११ ॥

भावार्थः—एक कर्मजनित उपचरितभाव है और दूसरा सहज उपचरितभाव है । ये दोनों मूर्त्त तथा अचेतन भावमे होते हैं । और प्रथम भेद तो संसारी जीवके होता है और दूसरा निर्मल आत्माके धारक सिद्ध जीवोंके होता है ॥ ११ ॥

व्याख्या । कर्मज एक सहजो द्वितीय एतौ द्वौ भेदौ मूर्त्ताचेतनभावयो स्त. । तत्र पुद्गलसबद्धस्य प्राणिनो मूर्त्तत्वमस्ति । अथ चाचेतनत्वमप्यस्ति तत्त् यज्जीवस्य कथ्यते प्रथम तत्र तु गौर्वाहीक इति न्यायानुसरणेनोपचरितोऽस्ति कर्मजनितत्वात् । तस्मादत्र यत्कर्मजनितोपचरितस्वभावत्व तज्जन्तोर्द्वितीयोऽपि सहजोपचरितस्वभावोऽपि सिद्धस्य निर्मलस्य । परज्ञत्व तु तत्र किमपि कर्मोपाधिजमस्ति तन्न स्यात् । तदुक्तमाचारसूत्रे "अकम्मस्स ववहारो ण विज्जइ कम्मुणा उवाहि जायत्तिति" एवमेते दश स्वभावा नियतद्रव्यवृत्तय. सन्तीति ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थः—प्रथम उपचरित स्वभाव कर्मसे उत्पन्न होता है और द्वितीय उपच-रितभाव सहज (स्वाभाविक) है। ये दोनों उपचरित भावके भेद मूर्त्त और अचेतनके

विषयमे होते हैं। उनमें पुद्‌गलसे संबद्ध प्राणीके मूर्त्तत्व है और अचेतनत्व भी है और इसीलिये प्रथम उपचरित भाव जीवके है। और यह कर्मजनित होनेसे। "गौर्वाहीकः" "यह बोझा ढोनेवाला गौ (पशु) है" इस न्यायके अनुसार उपचरित है। इसलिये यहां, जो कर्मजनित उपचरित स्वभावता है सो जीवके कही गई है। और दूसरा जो सहजोपचरित स्वभाव है वह निर्मल (कर्मरहित) सिद्ध जीवके है। सिद्धोमें परका जो जानना है वह किसी कर्मकी उपाधिसे है ऐसा जो कहो तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि आचाराङ्ग सूत्रमें कहा है कि, "कर्मरहित जीवके व्यवहार नही रहता है, क्योंकि उपाधि जो है सो कर्मसे होती है"। इस प्रकार ये दश १० स्वभाव पूर्वोक्त चेतनत्व आदि नियत द्रव्यवृत्ति है ॥ ११ ॥

अमी दश विशेषेण स्वभावाश्चैकविंशतिः ।
सर्वे पुद्‌गलजीवानां पञ्चदशाप्यनेहसः ॥ १२ ॥

भावार्थः—ये दश स्वभाव ओर पूर्वकथित सत्तादि एकादश ये सब मिलके २१ भाव पुद्‌गल और जीवके है ओर कालके पन्द्रह १५ स्वभाव है ॥ १२ ॥

व्याख्या। अमी दश स्वभावा पूर्वोक्ता एकादश स्वभावा उभये मिलिता एकविंशतिसख्या जायन्ते। तत्र पुद्‌गलाना जीवाना च प्रत्येकमेकविंशति स्वभावा भवन्ति। तथा अनेहस कालद्रव्यस्य पञ्चदश भावा भवन्ति। मूलव एकविंशतिभावा सन्ति। तेभ्यः षट् निष्कास्यन्ते तदा पचदश अवशिष्यन्ते। तानेवाग्रेतनपद्येन व्याकरोति ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थः—चेतनत्व आदि ये दश स्वभाव तथा सत्ता आदि पूर्वकथित एकादश स्वभाव, दोनो मिलके इक्कीस २१ होते है। इनमे पुद्‌गलके इक्कीस भाव है और जीवके भी एकविंशति २१ भाव ही है। और कालके पन्द्रह स्वभाव हैं। आरंभसे जो इक्कीस भाव हैं उनमेसे छ भाव जब निकाले जाते हैं तो पन्द्रह बाकी बचते हैं। अब आगेके श्लोकमें उन्हींका निरूपण करते हैं ॥ १२ ॥

प्रदेशानेकता चित्ता मूर्त्तता च विभावता ।
शुद्धताऽशुद्धता चेति षड् हीनाः कालगोचराः ॥ १३ ॥

भावार्थः—बहुप्रदेशत्व, चेतनत्व, मूर्त्तत्व, विभावत्व, शुद्धत्व और अशुद्धत्व इन छह स्वभावोसे रहित शेष पन्द्रह स्वभाव कालके है ॥ १३ ॥

व्याख्या। बहुप्रदेशस्वभाव १ चित्तेति चेननस्वभाव २ मूर्त्ततेति मूर्त्तस्वभावः ३ विभावता विभावस्वभाव ४ शुद्धता शुद्धस्वभाव ५ अशुद्धता अशुद्धस्वभाव ६ एते षडेकविंशतिभ्यो निष्कास्यन्ते तदा पञ्चदश सर्वे कालस्वभावा ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थः—बहुप्रदेशस्वभाव, चेतनस्वभाव, मूर्त्तस्वभाव, विभावस्वभाव, शुद्धस्वभाव और अशुद्ध स्वभाव ये छह भाव जब इक्कीसमेसे निकालते हैं तो पन्द्रह रहते हैं, ये सव पन्द्रह स्वभाव कालके है ॥ १३ ॥

आदिमेन समायुक्ता धर्मादीनां तु षोडश ।
स्वभावाः संभवन्त्येव पूर्वोक्तानां प्रसंगतः ॥ १४ ॥

भावार्थः—निकाले हुए छह स्वभावोंसे प्रथम जो बहुप्रदेशस्वभाव है उस सहित धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यके सोलह सोलह स्वभाव होते हैं; क्योंकि ऐसा पहले कह आये हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या । आदिमेन बहुप्रदेशस्वभावेन समायुक्ता अन्यपञ्चवर्जितास्तदा षोडश स्वभावा धर्माधर्माकाशास्तिकायाना भवन्ति । यत "एकविंशति भावा स्युर्जीवपुद्गलयोर्मता । धर्मादीना षोडश स्यु काले पञ्चदश स्मृता" इत्यादि ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ—जब भाव निकाले हुए छह भावोंमेंसे प्रथम बहुप्रदेशस्वभावसे सहित और शेष पाँच भावोंसे रहित हुए तो सब सोलह स्वभाव हुए । ये सोलह सोलह स्वभाव धर्मास्तिकायके, अधर्मास्तिकायके और आकाशास्तिकायके होते हैं । क्योंकि "जीव और पुद्गल २१ भाव हैं, धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्यके सोलह सोलह भाव हैं; कालमे पन्द्रह भाव माने गये हैं । ऐसा पूर्वपाठ है ॥ १४ ॥

एवं प्रमाणस्य नयस्य बोधादिमान्स्वभावान्परिभाव्य चित्ते ।
आप्तक्रमाम्भोजप्रसत्तिलब्धमानन्दरूपं परमं श्रयन्ताम् ॥ १५ ॥

भावार्थः—हे भव्यजीवो ! इस प्रकार प्रमाण तथा नयके ज्ञानसे इन स्वभावोंको चित्तमे विचारके श्रीजिनेन्द्रके चरणकमलोंके प्रसादसे प्राप्त जो आनन्दरूप ज्ञान है उसका आश्रय करो ॥ १५ ॥

व्याख्या । अनया दिशा प्रमाणस्य स्वपरव्यवसायिज्ञानस्य, नयस्य प्रमाणेन निर्णीतार्थस्यैकांश-प्रतिपादकवचनं नयस्तस्य, बोधादनुभवादिमान् स्वभावान् चित्ते मनसि परिभाव्य पर्यालोच्याप्तस्य श्रीजिनस्य क्रमौ पादौ तावेवाम्भोज कमल तस्य प्रसत्त्या प्रसादेन लब्ध प्राप्तमानन्दरूप स्वानुभवरूप परम ज्ञान श्रयन्तां सेवन्तामिति । भोजेति सन्दर्भकर्तुर्नामापि ॥ १५ ॥

इति द्रव्यानुयोगतर्कणाव्याख्यायां कृतिश्रीभोजसागरनिर्मितायां
द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थः—भो भव्यजनो ! इस प्रकार अपने तथा परके व्यवसायात्मक ज्ञानरूप प्रमाणके और प्रमाणसे निश्चित अर्थके एक अंशके प्रतिपादक वचनरूप नयके अनुभवसे इन स्वभावोंको मनमें विचार कर, श्रीजिनेन्द्रके चरणरूप कमलके प्रसादसे प्राप्त जो अपने अनुभवरूप ज्ञान है उसका सेवन करो । यहा "भोज" यह श्लेषसे ग्रंथकारका नाम भी है ॥ १५ ॥

इति श्रीठाकुरप्रसादशास्त्रिविरचितभाषानुवादसमलङ्कृतायां द्रव्यानुयोग-
तर्कणायां द्वादशोऽध्याय ॥ १२ ॥

अथात्र स्वभावाना निदर्शनमाह् ।

अब इस त्रयोदश अध्यायमे स्वभावोंका दृष्टान्त कहते हैं—

अस्तिस्वभाव आम्नातः स्वद्रव्यादिग्रहे नये ।
ग्राहकत्वेऽन्यद्रव्याणां नास्तिस्वभाव ईरितः ॥१॥

भावार्थः—स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नयसे अस्तिस्वभाव कहा गया है और पर-द्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नयसे नास्तिस्वभाव कहा गया है ॥ १ ॥

व्याख्या । स्वद्रव्यादिग्रहे नये द्रव्यार्थिकनयमते द्रव्याणामस्तिस्वभाव आम्नातः कथित । १ । तथा द्वितीयो नास्तिस्वभावोऽस्ति, अन्यद्रव्याणा ग्राहकत्वे परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यर्थिकनये ईरित' कथित. । २ । उक्त च "सर्वमस्तिस्वरूपेण परद्रव्येण नास्ति च" इति वचनात् ॥ १ ॥

व्याख्यार्थः—अपने द्रव्य क्षेत्र आदिको ग्रहण करनेवाले द्रव्यार्थिक नयके मतमें द्रव्योंका अस्तिस्वभाव कहा गया है ।१। तथा अन्य द्रव्योंको ग्रहण करनेवाले परद्रव्यादि-ग्राहक द्रव्यार्थिकनयके मतसे द्रव्योके दूसरा नास्तिस्वभाव कहा गया है ।२। ऐसा अन्यत्र वचन भी कहा हुआ है कि "अपने रूपसे सब है और परद्रव्यसे सब नास्ति (नहीं) है" ॥ १ ॥

उत्पादव्ययगौणत्वे नित्यः सत्तासमाश्रितः ।
पर्यायार्थिके [1]कोऽपि ज्ञेयोऽनित्यस्वभावकः ॥२॥

भावार्थः—उत्पाद और व्ययकी गौणतामे सत्ता ग्राहक द्रव्यार्थिकनयसहित नित्यस्वभाव है और उत्पाद तथा व्ययके ग्राहकपर्यायार्थिक नयमें अनित्य स्वभाव है; ऐसा जानना चाहिये ॥ २ ॥

व्याख्या । तथा सत्तासमाश्रित सत्ताग्राहकद्रव्यार्थिकनययुक्तो नित्यो नित्यस्वभाव. कथित । कस्मिन्सत्युत्पादव्ययगौणत्वे कश्चित्तृतीय । पर्यायार्थिकनय उत्पादव्ययग्राहको भवति तन्मतेऽनित्यस्वभावः, कश्चित्पर्यायार्थिकनय उत्पादव्ययग्राहको भवन्ननित्यस्वभाव स्यादिति ॥ २ ॥

भावार्थः—और उत्पाद तथा व्ययकी गौणता होनेपर सत्ताका ग्राहक जो द्रव्यार्थिक नय है उससे युक्त नित्यस्वभाव तीसरा कहा गया है । ३ । तथा पर्याया-र्थिक नय उत्पाद और व्ययका ग्राहक होता है इसलिये उसके मतमें अनित्य स्वभाव ४ है । तात्पर्य यह कि उत्पाद तथा व्ययकी अप्रधानता होनेपर सत्ताग्राहक द्रव्यार्थिक नयके मतमें नित्य स्वभाव है और सत्ताग्राहक द्रव्यार्थिक नयको अप्रधानता में उत्पत्ति तथा नाशका ग्राहक जो पर्यायार्थिक नय है इसके मतसे चोथा अनित्य-स्वभाव होता है ॥२॥

(१) त्रिष्वपि पुस्तकेष्वयमेव पाठ ।

भेदसंकल्पनामुक्त एकस्वभाव आहितः ।
अन्वयद्रव्यार्थिके चानेकद्रव्यस्वभावकः ॥३॥

भावार्थः—भेदकी कल्पनासे रहित द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे द्रव्यका एकस्वभाव कहा गया है और अन्वय द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे अनेक स्वभाव माने गये हैं ॥३॥

व्याख्या । भेदकल्पनारहितशुद्धद्रव्यार्थिकनये भेदकल्पनामुक्त एकस्वभावः कथितः ५ अन्वयद्रव्यार्थिकनयेऽनेकद्रव्यस्वभावोऽनेकस्वभाव ६ इत्यर्थः । कालान्वये सत्ताग्राहको देशान्वये चान्वयग्राहको नयः प्रवर्तत इति ॥३॥

व्याख्यार्थः—भेदकी कल्पनासे रहित शुद्ध (सत्तामात्रके ग्राहक) द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे द्रव्यका एक स्वभाव (५) कहा गया है तथा भेदकल्पनासहित अन्वय द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षामें द्रव्यका अनेक स्वभाव (६) भी कहा गया है । तात्पर्य यह कि जहां पदार्थमें कालका अन्वय होता है वहां तो सत्ताका ग्राहक द्रव्यार्थिक नय प्रवृत्त होता है और देशके अन्वयमें अन्वयग्राहक द्रव्यार्थिक नय प्रवृत्त होता है ॥३॥

सद्भूतव्यवहाराच्च गुणगुण्यादिभेदता ।
भेदकल्पनराहित्ये तस्याभेदः प्रकीर्त्तितः ॥४॥

भावार्थः—सद्भूत व्यवहार नयसे गुण गुणी आदिके भेदस्वभावता होती है और भेदकल्पनाकी शून्यतादशामें गुणादिका अभेद कहा गया है ॥ ४ ॥

व्याख्या । सद्भूतव्यवहाराच्च सद्भूतव्यवहारनयात् गुणगुण्यादिभेदता । गुणगुणिनो, पर्यायपर्यायिणो, कारककारकिणोर्भेदस्वभाव सप्तम । भेदकल्पनराहित्ये भेदकल्पनारहितशुद्धद्रव्यार्थिकनयमतेऽभेद स्वभाव प्रकीर्तित ।८। यत्र कल्प्यमानस्यान्यनिगीर्णत्वेन ग्रहस्तत्रैकस्वभावो यथा घटोऽयमिति, यत्र विषयविषयिणोर्विविक्तत्वेन ग्रहस्तत्राभेदस्वभावो यथा नीलो घट इति । सारोपसाध्यवसानयोर्निरूढत्वाद्यमेव प्रकारभेद । प्रयोजनवत्यौ तु ते यदृच्छानिमित्तकत्वे स्वभावभेदसाधके । इति परमार्थः ॥४॥

व्याख्यार्थः—सद्भूतव्यवहार नयसे गुण गुणी, पर्याय पर्यायी और कारक कारकवानका भेद स्वभाव है और यह भेद स्वभाव सप्तम है ।७। और भेदकल्पनारहित शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके मतमें तो अभेद स्वभाव कहा गया है ।८। जहांपर कल्पनीय पदार्थ निगीर्णस्वभाव है अर्थात् जहां कल्प्यमान वस्तु नहीं भासता है, वहांपर एक स्वभाव अर्थात् अभेद स्वभाव है। जैसे "अयं घटः" यह घड़ा है" यहां यह नहीं जनाया गया कि यह घट नील है वा पीत है, इसलिये घटपदसेही उसका रूप विषय निगल लिया गया है । और जहांपर विषय और विषयीका पृथक् २ भान (ग्रहण) होता है, वहांपर अभेद स्वभाव है । जैसे—"नीलः घटः" "नीला घट" यहांपर सारोपा तथा साध्य

वसाना निरूढा लक्षणासे यह प्रकार भेद है । और प्रयोजनवती सारोपा तथा साध्यवसाना लक्षणा तो यदृच्छानिमित्तसे स्वभावभेदसाधक है । यह यहांपर भावार्थ है ॥ ४ ॥

परमभावग्राहके तु भव्याभव्यौ च पर्ययौ ।
शुद्धाशुद्धौ ततश्चोक्तौ चैतन्यमात्मनः स्मृतम् ॥५॥

भावार्थः—परमभावग्राहक नयके मतमें भव्य तथा अभव्य स्वभाव है और शुद्ध स्वभाव तथा अशुद्ध स्वभाव भी परमभाव ग्राहक नयके मतसे ही है तथा चेतन स्वभाव आत्माके माना गया है ॥ ५ ॥

व्याख्या । भव्याभव्यौ च स्वभावौ परमभावग्राहके नये मन्तव्यौ । भव्यतास्वभावो निरूपितोऽस्ति, अभव्यतास्वभाव उत्पन्नस्वभावस्य तथा परमभावस्य साधारण्यमस्ति । ततोऽत्रास्तिनास्तिस्वभावाविव स्वपरद्रव्यादिग्राहकनययो प्रवृत्तिर्न भवेत् । तथा शुद्धाशुद्धस्वभावौ तूक्तौ ज्ञेयौ । यथा पूर्वत्र परमभावग्राहकनये तद्वद् ज्ञेयाविति । तथा चैतन्य चेतनस्वभाव आत्मन आत्मारामस्य स्मृत नान्येषाम्, आत्मा ससारस्थः चेतन इति । ९ । १० । ११ । १२ । १३ ॥५॥

व्याख्यार्थः—परमभाव ग्राहक नयकी अपेक्षा भव्य स्वभाव तथा अभव्य स्वभाव मानने योग्य हैं । भव्यता स्वभाव पूर्व प्रकरणमे कह आये है और अभव्यता स्वभाव उत्पन्न स्वभाव तथा परम भावकी साधारणतामें है । इसलिये यहांपर अस्ति नास्ति स्वभावों के समान स्वकीय तथा परकीय द्रव्यादि ग्राहक नयोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है अर्थात् जैसे अस्ति स्वभाव स्वद्रव्यादिग्राहक नयसे और नास्तिस्वभाव परद्रव्यादिग्राहक नयकी अपेक्षासे माना गया है, यह बात यहा नहीं है । और शुद्ध तथा अशुद्ध स्वभाव जैसे पूर्व प्रकरणमें कह आये है वैसे यहां भी समझने चाहिये । और चेतन स्वभाव केवल जीवके ही है, अन्य द्रव्योंके नहीं । क्योकि जो संसारी जीव है वह चेतन है ॥ इस प्रकार इस श्लोकमे भव्य ९ अभव्य १० शुद्ध ११ अशुद्ध १२ और चेतन १३ इन ५ भावोका वर्णन किया गया है ॥ ५ ॥

अव चैतन्यादिस्वरूप कथयन्नाह ।

अव चेतनता आदिका स्वरूप कहते हुए श्लोक पढ़ते हैं ।

असद्भूतव्यवहारात्कर्मनोकर्मचेतना ।
परमभावग्राहके तस्याचेतनधर्मता ॥६॥

भावार्थः—असद्भूतव्यवहार नयसे कर्म तथा नोकर्ममें ही चेतनाका व्यवहार होता है और परमभावग्राहक नयसे उस कर्म नोकर्मजनित चेतन स्वभावके अचेतन धर्मपना है ॥ ६ ॥

व्याख्या । असद्भूतव्यवहारादसद्भूतव्यवहारनयात्कर्मनोकर्मणो कर्माणि ज्ञानावरणादीनि नोकर्माणि मनोवचनकायात्मकानि ततो द्वन्द्वस्तयोरेव चिच्चेतनस्वभाव. स्यात्, चेत–

नसंयोगकृतपर्यायस्तत्रास्ति । तत इद शरीरमावश्यक जानामीत्यादिव्यवहारोऽत एव भवति मृत दहतीतिवत् । पुन परमभावग्राहकनये तस्य कर्मनोकर्मजनितचेतनस्वभावस्याचेतनधर्मता अचेतनस्वभावत्व, यथा घृतमनुष्ण-मित्यादिवत् ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थः—असद्भूतव्यवहार नयसे ज्ञानावरण आदि कर्म और मन, वचन, कायरूप नोकर्म इन दोनोंमे चेतन स्वभाव है, क्योंकि कर्म और नोकर्म इन दोनोंमें चेतनके संयोगसे किया हुआ पर्याय है । इसी कारण उस चेतनसंयोगकृतपर्यायसे 'मृतकको भस्म करता है' इस व्यवहारकी भांति 'इस शरीरको मैं आवश्यक (जरूरी) जानता हू' इत्यादि व्यवहार होता है । और परमभावग्राहक नयके मतमे तो उस कर्म तथा नोकर्मसे उत्पन्न चेतन भावके अचेतन स्वभावपना है, जैसे 'अनुष्ण (ठंढा) घृत इत्यादिकी भांति ॥ ६ ॥

असद्भूतव्यवहारे जीवाचेतनधर्मता ।
परमभावग्राहके मूर्त्तनोकर्मकर्मता ॥७॥

भावार्थः—असद्भूतव्यवहार नयसे जीवमे अचेतनस्वभावता है और परमभावग्राहक नयमे नोकर्म तथा कर्म मूर्त्त हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या । असद्भूतव्यवहारनये जीवतीति जीवस्तस्याचेतनधर्मस्तस्य भावो जीवाचेतनधर्मतास्ति । अतएव जडोऽयमचेतनोऽयमित्यादिव्यवहारोऽस्ति । एतेनानुमिनोमि जानामीति प्रतीत्या विलक्षणाज्ञानसिद्धि-र्वेदान्तिनामपास्ता, सद्भूतव्यवहारनयग्राह्यगुणाचेतनस्वभावेनैव तदुपपत्ते । अथ परमभावग्राहकनये मूर्ता नोकर्मकर्मता मूर्त्तनोकर्मकमता वर्त्तते । कर्मनोकर्मणोर्मूर्त्तस्वभावोऽस्तीत्यर्थ ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थः—असद्भूतव्यवहार नयके मतसे जो प्राण धारण करता है वह जीव है। उसके अचेतनधर्मपना जो जीवाचेतनधर्मता वह है अर्थात् जीव अचेतन स्वभावका धारक है । इस अचेतन स्वभावके माननेसे ही यह जीव अचेतन है, जड़ है इत्यादि व्यव-हार होता है । इससे "मैं अनुमान करता हू, जानता हूँ, इत्यादि प्रतीति (अनुभव) से विलक्षण (अनिर्वचनीय) अज्ञानकी सिद्धि होती है" इस वेदान्तियोंके कथनका खंडन हुआ, क्योंकि असद्भूतव्यवहार नयसे ग्रहण करनेयोग्य जो अचेतन स्वभाव है इस अचेतन स्वभावसे ही उस अज्ञानकी सिद्धि हो जाती है । और परमभावग्राहक नयसे मूर्त्त ऐसी नोकर्मकर्मता वर्त्तती है अर्थात् कर्म तथा नोकर्मके मूर्त्त स्वभाव हैं ॥७॥

असद्भूतव्यवहारे जीवमूर्त्तत्वमिष्यते ।
परमे पुद्गलं हित्वा द्रव्यामूर्त्तत्वमाहितम् ॥८॥

भावार्थः—असद्भूतव्यवहारनयके मतमे जीव मूर्त्त स्वभावका भी धारक है और परमभावग्राहक नयमे पुद्गलको छोड़कर सब द्रव्योंमे अमूर्त्तस्वभावता स्थापित की गई है ॥ ८ ॥

व्याख्या । असद्भूतव्यवहारे जीवमूर्त्तत्वमपि जीवस्य मूर्त्तत्व जीवमूर्त्तस्वभाव इष्यत । अतएव अयमात्मा दृश्यते, अमुमात्मान पश्यामीति व्यवहारोऽस्ति । तथानेन स्वभावेन "रक्तौ च पद्मप्रभवासुपूज्यौ" इत्यादि वचनानि सन्ति । अथ च परमभावग्राहकनये पुद्गलद्रव्यं विना द्रव्याणाममूर्त्तत्व द्रव्यामूर्त्तत्वमाहितं स्थापितम् । अन्यानि सर्वाण्यपि द्रव्याण्यमूर्त्तस्वभावन्तीत्यर्थं ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थः—असद्भूतव्यवहार नयके मतमे जीवका भी मूर्त्त स्वभाव माना गया है। इसीसे 'यह आत्मा देख पडता है,' इस आत्माको में देखता हूँ' इत्यादि व्यवहार होता है; और "श्रीपद्मप्रभ तथा श्रीवासुपूज्य ये दोनों तीर्थंकर रक्त (लाल) वर्णके धारक हैं" इत्यादि वचन है। तथा परमभावग्राहक नयकी अपेक्षासे पुद्गलद्रव्यके विना द्रव्योंके अमूर्त्तस्वभाव रक्खा गया है अर्थात् पुद्गलद्रव्यके सिवाय अन्य सब द्रव्य अमूर्त्त स्वभावके धारक हैं। यह अर्थ है ॥ ८ ॥

उपचारात्पुद्गलेऽपि नास्त्यमूर्त्तस्वभावता ।
व्यवह्रियतेऽनुगमात्तदेव चोपचर्यते ॥ ९ ॥

भावार्थः—पुद्गलमें उपचारसे भी अमूर्त्तस्वभावता नहीं है, क्योंकि अनुगमसे जिसका व्यवहार होता है उसी भावका उपचार भी होता है ॥ ९ ॥

व्याख्या । उपचारात्पुद्गलद्रव्येऽमूर्त्तस्वभावता नास्ति । यतश्चेतनसयोगेन देहादौ यथा चेतनत्वमुपचर्यंते तथैवामूर्त्तत्व नोपचर्यंते । तस्मादसद्भूतव्यवहारेऽपि पुद्गलस्यामूर्त्तस्वभावो न कथनीय । प्रत्यासत्तिदोषेणामूर्त्तत्व तत्र कथ नोपचरितव्यमिति तदेवोपपादयन्नाह । व्यवह्रियतेऽनुगमादेकसम्बन्धदोषाद्भावत्व व्यवह्रियते तदेवोपचर्यंते परन्तु सर्वधर्मस्योपचारो न स्यात्तथाचारोपे सति निमित्तानुसरण-मनु निमित्तमनुसृत्यारोप इति न्यायो नाश्रयणीय इति भाव. ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थः—उपचारद्वारा भी पुद्गल द्रव्यमें अमूर्त्तस्वभावता नहीं है। इसीसे चेतनके संयोगसे जैसे देह आदिमें चेतनका उपचार किया जाता है उसी प्रकार अमूर्त्तके संयोगसे देहमे अमूर्त्तका उपचार नहीं होता है। इस कारणसे असद्भूतव्यवहार-नयसे भी पुद्गल द्रव्यका अमूर्त्त स्वभाव है ऐसा कथन नहीं करना चाहिये। अब प्रत्या-सत्ति दोषसे वहांपर अमूर्त्तताका उपचार क्यों नहीं करना चाहिये इसीका उपादान करते हुए "व्यवह्रियतेऽनुगमात्" इत्यादि उत्तरार्द्धसे कहते हैं कि अनुगम अर्थात् एकसबंध-दोषसे जिस भावका व्यवहार होता है उसी भावका उपचार भी होता है परन्तु सर्वथा सर्व धर्मके अभावमें सब धर्मका उपचार नहीं होता। और इससे यह सिद्ध हुआ कि जहां आरोप करना हो वहाँ आरोपके निमित्तका अनुसरण करना चाहिये। और आरोप करके पश्चात् निमित्तका अनुसरण करना इस न्यायको नहीं धारण करना चाहिये। यह भाव है ॥ ९ ॥

अशेषोऽनुगतश्चार्थः संमतौ हि प्रकाशितः ।
यथाम्बुपयसोर्भेदो न यावदन्त्यवैशिष्ट्यम् ॥ १० ॥

भावार्थः—यह संपूर्ण जीव पुद्गलका अनुगत संवन्ध संमतिमें प्रकाशित है, क्योंकि जैसे दुग्ध और जलका अन्त्य विशेष विना भेद नहीं हो सकता, वैसेही इनका भी भेद नहीं हो सकता ॥ १० ॥

व्याख्या । हीति निश्चितम् । अयमभिप्रायः अनुगतात्यन्तसबन्ध' सर्वोऽप्यर्थं समतौ प्रकाशित । यथा स्वनुगतत्वे दृष्टान्तमाह । अम्बुपयसो. क्षीरनीरयोर्भेदो विभजना पृथक्त्वमिति तावन्नास्ति यावदन्त्यवैशिष्ट्यमन्त्यविशेषपर्यंन्त यावत् । अन्त्यविशेषे शुद्धपुद्गला जीवलक्षणेन पृथक् क्रियन्ते । यथा औदारिकादिवर्गणानिष्पन्नाच्छरीरादेर्ज्ञानघनासंख्येयप्रदेश आत्मा भिन्न इति । अत्र गाथा "अणुण्णाणुगयाण इमवत वन्निविभयणमजुत्त । जह दुद्धपाणियाण जावत विसेस पज्जाया । १ ।" इत्य कथयता यदि मूर्त्तता पुद्गलद्रव्यविभाजकान्त्यविशेषोऽस्ति तदा तस्या उपचार आत्मद्रव्येण कथ भवेत् । अथ च यद्यत्र विशेषो- नास्ति तदान्योन्यानुगमनेनामूर्त्तताया उपचार.. पुद्गलद्रव्येण कथ न भवेदित्याशङ्का केषाचिद्भवति । ता शङ्का निराचिकीर्षुः प्रतिपादयन्नाह ॥ १० ॥

व्याख्यार्थः—अभिप्राय यह है कि निश्चयरूपसे अनुगत अर्थात् अत्यन्त संवन्धरूप सब अर्थ संमतिमे प्रकाशित किया गया है । अब यथा इत्यादि उत्तरार्द्धसे अनुगततामें दृष्टान्त कहते हैं । जैसे मिले हुए जल और दूधका विभाग (भेद) जबतक अंतिम विशेष नहीं होता तबतक नहीं होता है, इसी प्रकार अन्तके विशेषमे ही शुद्ध पुद्गल जीवलक्षणसे पृथक् किये जाते हैं । भाव यह है कि जैसे जलका तथा दूधका विभाग अंतिम दाह क्रियारूप विशेष अथवा पदार्थविज्ञान विशेषसे होता है, ऐसेही जीवकी मुक्तिदशारूप विशेषमे पुद्गलका जीवसे विभाग होता है । जेसे कि औदारिक आदि वर्गणाओंसे सिद्ध शरीर आदिसे ज्ञानघन असंख्यात प्रदेशोंका धारक आत्मा भिन्न है । इस विषयमे अन्यत्र गाथा कही है कि "जैसे दूध और पानीका अन्त्यविशेष पर्याय तक भेद नहीं होता उसी प्रकार परस्पर अनुगत पदार्थोंका भेद नहीं होता है, यह कहना अयुक्त है ।" इस प्रकार कहनेवालोंके यदि मूर्त्तपना पुद्गल द्रव्यको जुदा करनेवाला अन्तका विशेष है तो उसका उपचार आत्मद्रव्यके साथ कैसे होवे । और यदि अन्त्य विशेष नहीं है तो जीव पुद्गलका परस्पर अनुगम होनेसे जैसे मूर्त्तताका उपचार आत्मद्रव्यके साथ होता है ऐसे ही अमूर्त्तताका उपचार पुद्गल द्रव्यके साथ क्यों न होगा ? ऐसी आशका किन्हींकी होती है, इसलिये उस शंकाको दूर करनेके लिये कहते हैं ॥ १० ॥

मूर्तिर्यत्रानभिभूता नास्ति तत्राप्यमूर्त्तता ।
यत्राभिभूतामूर्त्तित्वं मूर्त्यनन्त्यं हि तेषु च ॥ ११ ॥

भावार्थः—जहांपर मूर्त्त स्वभाव तिरोहित नहीं है, वहॉपर अमूर्त्त स्वभाव है ही नहीं; और जहॉ आत्मद्रव्यमे कर्म है, वहॉ अमूर्त्तता तिरोहित नहीं है; किन्तु, वहॉपर मूर्त्तता अन्त्यरहित अनुगमसे है ॥ ११ ॥

व्याख्या । यत्र पुद्गलद्रव्यस्य मूर्तिर्मूर्त्तता अभिभूता नास्ति किन्तुद्भूताऽस्ति तत्रामूर्त्ततास्वभावो न भवति । अमूर्त्तता ह्यपुद्गलद्रव्यस्यान्त्यविशेष. । अथ च यत्रात्मद्रव्ये कर्म भवति न तत्रामूर्त्तताभिभूतास्ति । तत्र चामूर्त्तता अनन्त्यानुगमजनितसाधारणधर्मरूपा भवति । तथा चान्योन्यानुगमाविशेषेऽपि कश्चिदेव किञ्चित्केनचित्कथचिदभिभूयत इति यथागमव्यवहारमाश्रयणीयम् ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थः—जहॉ पुद्गलद्रव्यका मूर्त्त स्वभाव अभिभूत (छिपा हुआ) नही है किन्तु उद्भूत (प्रकट) है वहा अमूर्त्तता स्वभाव नहीं होता है। क्योंकि अमूर्त्तता पुद्गलसे भिन्न द्रव्यका अन्त्य विशेष है । और जहाँ आत्मद्रव्यमें कर्म होता है वहा भी अमूर्त्तता अभिभूत नहीं है। क्योंकि वहांपर अमूर्त्तता अन्त्यसे भिन्न अनुगमसे उत्पन्न साधारण धर्मरूप है । इस प्रकार पुद्गल तथा जीवद्रव्यके अनुगममे विशेषता न होनेपर भो कही कोई भाव किसीसे किसी प्रकारसे अभिभूत होता है इस प्रकार शास्त्रके व्यवहारके अनुसार अंगीकार करना चाहिये ॥ ११ ॥

अन्त्यो भावः पुद्गलस्यापीत्थमत्र विलुप्यते ।
असद्भूतनये तेन परोक्षोऽणुरमूर्त्तकः ॥ १२ ॥

भावार्थः—पुद्गलका अन्त्य भाव भी इसी प्रकार यहा लुप्त हो जाता है, इसीसे असद्भूतनयके मतमे परोक्ष परमाणु अमूर्त्त माना गया है ॥ १२ ॥

व्याख्या । उपचारेणाप्यमूर्त्तस्वभाव पुद्गलस्य न स्यादिति कथयता मतेऽन्त्यो भाव एकविंशतितम स्वभाव पुद्गलस्य विलुप्तो भवति तदा पुन "एकविंशतिभावा स्युर्जीवपुद्गलयोर्मता" इत्येतद्वचनव्याघातादपसिद्धान्तोऽपि जायते । अथ तच्छङ्कापनोदायाह अमद्भूतव्यवहारनये तेन कारणेन य परोक्षः पुद्गलपरमाणुरस्ति तस्यामूर्त्तता कथिता । व्यावहारिकप्रत्यक्षागोचरत्वममूर्त्तत्व प्रमाणोपचरित मत्त स्वीक्रियत इत्यर्थ ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ.—उपचारसे भी पुद्गलके अमूर्त्तस्वभाव नहीं होता ऐसा कहनेवालोंके मतमे पुद्गलका अन्तका भाव अर्थात् इक्कीसवॉ स्वभाव नष्ट हो जायगा और पुद्गलका जब अमूर्त्तस्वभाव नहीं रहेगा तब पूर्व प्रसंगमें जो ऐसा कहा है कि "पुद्गल तथा जीव इन दोनोंमे प्रत्येकके एकविंशति २१ भाव है" इस वचनका व्याघात होनेसे सिद्धान्तकी भी हानि होती है । क्योंकि जब इक्कीसमेंसे एक अमूर्त्त स्वभाव निकल जायगा तब तो पुद्गलके बीस स्वभाव ही रहेंगे । इस प्रकारकी शंकाको दूर करनेके लिये कहते है कि इसी कारणसे असद्भूत व्यवहार नयमें जो परोक्ष पुद्गल परमाणु है उसके अमूर्त्तता कही

गई है। तात्पर्य यह कि व्यवहारिक प्रत्यक्षके अगोचर रूप अमूर्तस्वभाव प्रमाणसिद्ध उपचरित भक्त (कथंचित्) स्वीकार किया जाता है ॥ १२ ॥

पुद्गलाणोश्च कालाणोरेकदेशस्वभावता ।
परमे परद्रव्यस्य भेदकल्पनवर्जितः ॥ १३ ॥

भावार्थः—परम भाव ग्राहक नयके मतसे कालाणु तथा पुद्गल परमाणुकी एक-प्रदेश-स्वभावता है। और अन्य द्रव्यका भी भेदकल्पनावर्जित शुद्धद्रव्यार्थिक एक स्वभाव कहलाता है ॥ १३ ॥

व्याख्या । पुद्गलपरमाणोस्तथा कालाणो परमे परमभावग्राहकनय एकप्रदेशस्वभावता कथ्यते । तथा परद्रव्यस्य कालपुद्गलवर्जितान्यद्रव्यस्य भेदकल्पनवर्जित' शुद्धद्रव्यार्थिक एकप्रदेशस्वभाव' कथ्यते ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थः—परम भाव ग्राहक नयमे पुद्गल परमाणु तथा कालके अणुकी एकप्रदेश-स्वभावता कही गई है। तथा भेदकी कल्पनासे वर्जित शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे काल और पुद्गलद्रव्यके भी एकप्रदेशस्वभाव कहा गया है ॥ १३ ॥

शुद्धद्रव्यार्थिकेऽनेकप्रदेशत्वं विनाणुकम् ।
पुद्गलाणोः स्वभावत्वमुपचारेण तत्पुनः ॥ १४ ॥

भावार्थः—शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे परमाणुको छोडकर, संपूर्ण द्रव्योंका अनेकप्रदेश-स्वभाव है। और पुद्गलके अणुके तो अनेकप्रदेशस्वभावता उपचारसे है ॥ १४ ॥

व्याख्या । शुद्धद्रव्यार्थिके भेदकल्पनासापेक्षशुद्धद्रव्यार्थिकनयेऽणुक परमाणु विना सर्वेषा द्रव्याणामनेकप्रदेशत्वमनेकप्रदेशस्वभाव कथ्यते । अन्यच्च पुद्गलाणो' पुद्गलपरमाणोस्तदनेकप्रदेशस्वभा-वत्व भवितु योग्यतास्ति । तत. उपचारेणानेकस्वभावत्व कथ्यते । कालाणोश्चोपचारकारणता नास्ति ततस्तस्य सर्वथापि स्वभावो नास्ति ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थः—भेदकल्पनासापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे परमाणुके सिवाय अन्य सब द्रव्योंका अनेकप्रदेशस्वभाव कहा गया है। और पुद्गलके परमाणुके उस अनेकप्रदेश-स्वभाव होनेकी योग्यता है अर्थात् वह पुद्गलपरमाणु अनेकप्रदेशस्वभाव हो सकता है इस कारण उपचारसे उसके अनेकप्रदेशस्वभावताका कथन किया गया है। और कालके अणुमें कोई उपचारकारणता नहीं है इस हेतुसे उसके यह अनेकप्रदेशस्वभाव सर्वथा नहीं है ॥ १४ ॥

शुद्धाशुद्धार्थिके विद्धि विभावाख्यस्वभावकान् ।
शुद्धे शुद्धस्वभावाः स्युरशुद्धे शुद्धवर्जिताः ॥ १५ ॥

भावार्थः—हे शिष्य, शुद्धाशुद्ध द्रव्यार्थिकनयमें विभाव नामक स्वभावोंका बोध करो। शुद्ध द्रव्यार्थिक नयमे शुद्ध स्वभावोंकी और अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयमें अशुद्ध स्वभावोंकी स्थिति है।

व्याख्या । शुद्धाशुद्धार्थिके नाम्नि द्रव्यार्थिकनये समुच्चयेन विभावादिस्वभावान् विद्धि जानीहि । शुद्धे शुद्धद्रव्यार्थिकनये शुद्धस्वभावान् जानीहि । अशुद्धेऽशुद्धस्वभावान् जानीहि । शुद्धे शुद्धस्वभावाः स्युरशुद्धेऽशुद्धस्वभावा इति ज्ञेयम् ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ—शुद्धाशुद्धार्थिक नामक द्रव्यार्थिक नयमें समस्त विभाव स्वभावोंको जानो और शुद्ध द्रव्यार्थिक नयमें शुद्ध स्वभावोंको जानो तथा अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयमें अशुद्ध स्वभावोंको जानो । भावार्थ यह है कि शुद्ध द्रव्यार्थिकमे शुद्ध भाव तथा अशुद्ध द्रव्यार्थिकमें अशुद्ध भाव होते हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ १५ ॥

असद्भूतव्यवहारादुपचारस्वभावकाः ।
इति स्वभावविज्ञानं कर्त्तव्यं शुभमिच्छता ॥१६॥

भावार्थः—असद्भूत व्यवहार नयसे उपचरित स्वभाव रहते हैं । इस प्रकार कल्याणके अभिलाषी जीवको स्वभावोंका विज्ञान करना चाहिये ॥ १६ ॥

व्याख्या । असद्भूतव्यवहारनयादुपचारस्वभावका उपचरितस्वभावा ज्ञातव्या. । इतीति समाप्तौ । स्वभावविज्ञान स्वभावनययोजना शुभ कल्याण हित आयुष्य ज्ञान चेच्छता अभिलषता कर्त्तव्यमिति ॥१६॥

व्याख्यार्थः—असद्भूतव्यवहार नयकी अपेक्षासे सब उपचरित स्वभावोंको जानना चाहिये । सूत्रमें इति शब्द अध्यायकी समाप्तिका बोधक है । और यह स्वभावोंमें नयोंकी योजना जिस पुरुषको कल्याण, हित, आयुष्य तथा ज्ञानकी अभिलाषा है उसको करनी चाहिये ॥ १६ ॥

अनुपचरिताः स्वीयभावास्ते तु गुणाः खलु ।
एकद्रव्याश्रिता गुणाः पर्याया उभयाश्रिताः ॥१७॥

भावार्थः—जो अनुपचरित अपने भाव हैं वे गुण हैं । और वे गुण एक द्रव्यके आधार रहते हैं; और पर्याय उभयके आश्रित रहते हैं ॥ १७ ॥

व्याख्या । अत्र दिगम्बरप्रस्तावना वर्त्तते । कुत्रापि स्वसमयेऽप्युपस्कृता वर्त्तते परन्त्वत्र किमपि चिन्त्य वर्त्तते तेन तद्दूषण निराचिकीर्षुराह । अनुपचरिता उपचारवर्जिता ये निजकीयस्वभावास्ते गुणा, गुणाना हि सहभावित्वादुपचारो न विद्यते । निष्कर्षस्त्वयम् स्वभावो हि गुणपर्यायाभ्या भिन्नो न स्यात्त-स्माद्योऽनुपचरितो भावः स एव गुण इति, अथ यश्चोपचरित स पर्याय. कथ्यते । अतएव द्रव्याश्रिता गुणाः, उभयाश्रिता. पर्याया । तथोक्तमुत्तराध्ययने गाथाद्वारा-"गुणाणमासवो दव्वं एण दव्वसिया गुणा । लक्खण पज्जयाण तु उभओ अस्सिआ भवेत्ति । १ ।" ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थः—यहाँपर दिगम्बरमतका प्रस्ताव (प्रसंग) है । और यह प्रसंग कहीं श्वेताम्बरसिद्धान्तमें भी है, परन्तु इस विषयमें कुछ विचारणीय हैं, इसलिये उसके दूष-णको दूर करनेकी इच्छासे कहते हैं । उपचारसे रहित जो अपने स्वभाव हैं वे गुण हैं

क्योंकि गुण सहभावी हैं, इसलिये उनमें उपचार नहीं होता है। तात्पर्य यह कि कोई स्वभाव गुण पर्यायोंसे भिन्न नहीं है इसलिये जो अनुपचरित भाव है वही गुण और जो उपचरित भाव है वही पर्याय कहा जाता है। और इसी कारणसे केवल द्रव्यके आश्रय जो रहें वे गुण हैं, और द्रव्य, गुण दोनोंके आश्रय जो रहें वे पर्याय हैं। इस विषयमे उत्तराध्ययनसूत्रमें गाथा द्वारा कहा है कि "गुणोंका आश्रय द्रव्य है अतएव द्रव्याश्रितत्व गुणोंका लक्षण है, और दोनोंके आश्रय रहना, यह पर्यायोंका लक्षण है" ॥ १७ ॥

एवं स्वभावोपगता गुणास्तु भेदेन सम्यक्कथिताश्च योग्याः ।
अर्हत्क्रमाम्भोजसमाश्रितानां भव्यात्मनां ज्ञानगुणार्थमत्र ॥

भावार्थः—इस प्रकार इस अध्यायमे श्रीजिनेन्द्रके चरणकमलोंके आश्रित भव्य जीवोंको ज्ञानगुणकी प्राप्तिके लिये हमने शास्त्रोक्त योग्य स्वभावसे प्राप्त गुण अच्छी रीतिसे भेद करके कहे हैं ॥ १८ ॥

इति द्रव्यानुयोगतर्कणाया त्रयोदशोऽध्यायः ।

व्याख्या । यदि च स्वद्रव्यादिग्राहकेणास्तिस्वभाव, परद्रव्यादिग्राहकेण नास्तिस्वभाव., इत्यादि स्वभावोपगता गुणा स्वभावसहिता इत्युपगम्यते । तदोभयोरपि द्रव्यार्थिकविषयत्वात्सप्तभङ्ग्यामाद्यद्वितीय-योर्भङ्ग्योर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाश्रयेण प्रक्रिया भज्येतेत्याद्यत्र बहु विचारणीयम् । एवमनया रीत्या स्वभावा स्वभावयुक्ता गुणाश्च भेदेन प्रकारकथनेन सम्यक्शास्त्रोक्तरीत्या कथिता प्रकाशिता. । श्रीमद्वाचकमुख्यय-शोविजयपाठकमतल्लिकारचितप्राकृतपाठद्दष्टा लिखिता इत्यर्थ. । किमर्थमत्र कस्मै कार्याय कथिता इति प्रयोजनपद ज्ञानगुणार्थं केषामर्हतां वीतरागाणा क्रमाश्चरणास्तएवाम्भोजानि कमलानि तत्र समाश्रिताना शरणीभूताना भव्यात्मना भव्यलोकाना ज्ञानगुणार्थं मया कथिता इत्यर्थं ॥ १८ ॥

इति श्रीकृतिभोजसागरनिर्मिताया द्रव्यानुयोगतर्कणाव्याख्याया
त्रयोदशोऽध्यायः ।

व्याख्यार्थः—यदि अपने द्रव्य क्षेत्र आदिका ग्राहक होनेसे अस्तिस्वभाव और पर-कीय द्रव्यक्षेत्रादिका ग्राहक होनेसे नास्तिस्वभाव है, इत्यादि स्वभावसे उपगत गुण हैं ऐसा स्वीकार करते हो तब तो दोनोंके द्रव्यार्थिक नयका ही विषयपना होनेसे सप्तभंगीमें प्रथम-भंग '(स्यादस्त्येव) कथंचित् है ही और द्वितीयभंग (स्यान्नास्त्येव) कथंचित् है ही नहीं' इन दोनों भंगोंमे द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिकके आश्रय जो प्रक्रिया है उसका भंग होगा, इत्यादि बहुत कुछ वहांपर विचारणीय है। इस पूर्वोक्त रीतिसे स्वभाव तथा स्वभाव-सहित गुण प्रकारोंके कथनद्वारा शास्त्रोक्त रीतिसे प्रकाशित किये हैं अर्थात् श्रीमान् वाचक मुख्य यशोविजयजी उपाध्यायद्वारा विरचित प्राकृतपाठ में देखे हुए लिखे है। किस

प्रयोजनके लिये कहे है ? कि श्रीजिनेन्द्रके चरणरूपी कमलोंके शरणको प्राप्त जो भव्यजन हैं, उनको ज्ञानगुणकी प्राप्ति हो इसलिये मैंने कहे हैं। यह तात्पर्य है ॥ १८ ॥

इति श्रीपण्डितठाकुरप्रसादशर्मविरचितभाषाटीकासमलङ्कृतायां द्रव्यानुयोगतर्कणायाँ त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ पर्यायभेदानाह।

अब पर्यायके भेदोंको कहते हैं।

नत्वा जिनं प्रवक्ष्यामि पर्यायोत्कीर्तनं मुदा।
व्यञ्जनार्थविभेदेन तद्द्विभेदं समासतः ॥१॥

भावार्थः—श्रीजिनेन्द्रको नमस्कार कर, आनन्दपूर्वक इस अध्यायमें पर्यायोंका वर्णन करूंगा। वह पर्यायोका वर्णन समास (संक्षेप) से व्यंजन और अर्थके भेदसे दो प्रकारका है ॥ १ ॥

व्याख्या। जिनं वीतराग नत्वा नमस्कृत्य पर्यायोत्कीर्त्तनं पर्यायाणामुत्कीर्त्तनं पर्यायोत्कीर्त्तनं मुदा हर्षेण प्रवक्ष्यामि। यदित्युत्तरापेक्षाया तत्पर्यायोत्कीर्त्तनं समासत सक्षेपाद् व्यञ्जनार्थविभेदेन व्यञ्जन चार्थश्च तयोर्विभेद' प्रत्येक योजना व्यञ्जनभेदेनार्थभेदेन तत्कीर्त्तनं पर्यायस्य द्विभेद द्विप्रकारकमित्यर्थः ॥ १ ॥

व्याख्यार्थः—श्रीवीतरागको नमस्कार करके, हर्षसे पर्यायों का उत्कीर्त्तन (निरूपण) इस चतुर्दश १४ अध्यायमे कहूँगा। 'यत्' यह आगेके कथनकी अपेक्षामें है जो पर्यायका निरूपण संक्षेपसे व्यंजन और अर्थके भेदसे अर्थात् व्यंजनके भेदसे तथा अर्थके भेदसे दो प्रकारका है ॥ १ ॥

तत्र व्यञ्जनपर्यायस्त्रिकालस्पर्शनो मतः।
द्वितीयश्चार्थपर्यायो वर्त्तमानाणुगोचरः ॥२॥

भावार्थः—उन दोनो भेदोंमेंसे प्रथम व्यंजन पर्याय त्रिकालस्पर्शी कहा गया है; और दूसरा अर्थ पर्याय वर्त्तमान सूक्ष्मकालवर्ती माना गया है ॥ २ ॥

व्याख्या। तत्र तयोर्द्वयोरुत्कीर्त्तनयोर्मध्य आद्यो व्यञ्जनपर्यायस्त्रिकालस्पर्शनो मतोऽनुगतकालकलितः कथित। यस्य हि त्रिकालस्पर्शन पर्याय. स च व्यञ्जनपर्याय। यथाहि—घटादीना मृदादिपर्यायो व्यञ्जनपर्यायो मृन्मय. सुवर्णादिधातुमयो वा घट कालत्रयेऽपि मृदादिपर्यायत्व व्यञ्जयति, तथा द्वितीयोभेदोऽर्थपर्याय वर्त्तमानाणुगोचर सूक्ष्मवर्त्तमानकालवर्त्ती अर्थपर्याय यथाहि—घटादेस्तत्तत्क्षणवर्ती पर्यायः यस्मिन्काले वर्त्तमानतया स्थितस्तत्तत्कालापेक्षाकृतविद्यमानत्वेनार्थपर्याय उच्यत इत्यर्थ ॥ २ ॥

व्याख्यार्थः—उन दोनो उत्कीर्त्तनोंमें प्रथम जो व्यजन पर्याय है वह त्रिकालस्पर्शी है अर्थात् पूर्वापर अनुगत सब कालके साथ वह पर्याय स्पर्श करता है। तात्पर्य यह कि जिसका स्पर्श भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान इन तीनों कालोंमें होता है वह व्यञ्जन पर्याय है।

जैसे-घटादिका मृत्तिका आदि पर्याय व्यञ्जन पर्याय है अर्थात् मृन्मय अथवा सुवर्णादिमय घट तीनों कालोंमें पर्यायत्व अर्थात् मृत्तिका आदि पर्यायको प्रकाश करता है। और द्वितीय भेद अर्थपर्याय है। यह अर्थपर्याय वर्त्तमान अणुका विषय है अर्थात् सूक्ष्म वर्त्तमान कालवर्ती अर्थ पर्याय है। जैसे घट आदिका उस उस क्षणमें रहनेवाला पर्याय जिस कालके क्षणमें वर्त्तमानतासे स्थित है उस उस कालकी अपेक्षासे उत्पत्तिद्वारा विद्यमान होनेसे वह अर्थपर्याय कहा जाता है। भाव यह है कि जिस क्षणमे घट विद्यमान है उसी क्षणकी विद्यमानतासे वह घट अर्थपर्याय है ॥ २ ॥

अथ तयो प्रत्येक द्वैविध्य दर्शयन्नाह।

द्रव्यतो गुणतो द्वेधा शुद्धतोऽशुद्धतस्तथा।
शुद्धद्रव्यव्यञ्जनाख्यश्चेतनो सिद्धता यथा ॥३॥

भावार्थः—उन पर्यायोंके द्रव्यसे तथा गुणसे दो भेद हैं और शुद्ध तथा अशुद्धके द्वारा भी दो भेद हैं। शुद्ध द्रव्यव्यंजननामा शुद्ध द्रव्यव्यंजन पर्याय जैसे चेतनमें सिद्धता पर्याय है ॥ ३ ॥

व्याख्या। द्रव्यतो द्रव्यपर्यायो भवति तथा गुणतो गुणपर्यायोऽपि भवति, एव द्वेधा द्विप्रकारः स्यात्। तथाहि द्रव्यव्यञ्जनपर्यायो गुणव्यञ्जनपर्याय इति। तथा पुनस्तेनैव प्रकारेण शुद्धत शुद्धद्रव्यव्यञ्जन-पर्याय, अशुद्धतोऽशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायश्च द्विप्रकारः। तत्र तेषु भेदेषु शुद्धद्रव्यव्यञ्जनाख्य शुद्धद्रव्यव्यञ्जन-पर्याय कस्मिन्भवति चेतने यथा सिद्धता चेतनद्रव्यस्य यथा सिद्धपर्याय.। अय हि केवलभावाज्ज्ञेय' ॥३॥

व्याख्यार्थः—द्रव्यसे तो द्रव्यपर्याय होता है और गुणसे गुण पर्याय होता है, इस प्रकार दो भेद होते हैं। जैसे द्रव्यव्यंजन पर्याय तथा गुणव्यंजन पर्याय होता है। और उसी प्रकारसे शुद्धसे शुद्ध द्रव्यव्यजन पर्याय होता है तथा अशुद्धसे अशुद्ध द्रव्यव्यंजन पर्याय होता है ऐसे दो भेद हैं। अब उन भेदोंमेसे शुद्ध द्रव्यव्यंजन नामक शुद्ध द्रव्यव्यं-जन पर्याय किसमे होता है, जैसे चेतनमें सिद्धता अर्थात् चेतनद्रव्यका सिद्ध पर्याय है। यह शुद्ध द्रव्यव्यंजन पर्याय केवल भावसे जानना चाहिये ॥ ३ ॥

पुनर्भेदोपदेशमाह।

फिर भेदका उपदेश करते हैं।

अशुद्धद्रव्यव्यञ्जनो नरादिर्बहुधामतः।
गुणतोऽपीत्थमेवात्र कैवल्यमतिचिन्मुखः ॥४॥

भावार्थः—अशुद्ध द्रव्यव्यंजन पर्याय मनुष्य देव आदि अनेक प्रकारका माना गया है और इसी प्रकार गुणसे भी जानने अर्थात् शुद्ध गुणव्यंजन पर्याय तथा अशुद्ध गुणव्यंजन पर्याय ये दो भेद गुणसे हैं। इनमें प्रथम भेदमें केवलज्ञान आदि और दूसरे भेदमें मतिज्ञानादि पर्याय हैं ॥४॥

व्याख्या। अशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायोऽशुद्धद्रव्यव्यञ्जनो नरादिरादिशब्दाद्देवनारकतिर्यगादयो बहुधा मतास्तदपेक्षया नरादिर्बहुधा मत । अत्र हि द्रव्यभेद पुद्गलसंयोगजनितोऽस्ति । मनुष्यादिभेदेनैव भेदः । गुणतोऽपीत्यमेव । गुणव्यञ्जनपर्यायो द्विप्रकार । तत्र प्रथम शुद्धगुणव्यञ्जनपर्यायः कैवल्य केवलज्ञानादिरूपः, द्वितीयोऽप्यशुद्धगुणव्यञ्जनपर्यायो मतिचिन्मुख. । मतिश्रुतावधिमनःपर्ययरूप इति ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थः—अशुद्ध द्रव्यव्यंजन पर्याय मनुष्य, देव, नारक और तिर्यञ्च आदि रूपसे अनेक प्रकारका माना गया है, इसीकी अपेक्षासे "नरादिर्बहुधः मतः" यह सूत्रमें पाठ है। यहांपर द्रव्यका भेद पुद्गल संयोगसे उत्पन्न है, अतः मनुष्य आदिके भेदसे यह भेद होता है। गुणसे भी इसी प्रकार है अर्थात् गुणव्यंजन पर्याय भी दो प्रकारका है। उनमें प्रथम शुद्ध गुणव्यंजन पर्याय जो है, वह तो केवलज्ञान आदिरूप पर्याय है। और दूसरा अशुद्ध गुण व्यंजन पर्याय मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा मनःपर्यय ज्ञान आदि स्वरूप है ॥ ४ ॥

पुन. कथयति ।

फिर भी पर्यायका भेद कहते हैं।

ऋजुसूत्रमतेनार्थपर्यायः क्षणवृत्तिमान् ।
आभ्यन्तरः शुद्ध इति तदन्योऽशुद्ध ईरितः ॥ ५ ॥

भावार्थः—ऋजुसूत्र नयके मतसे अर्थपर्याय क्षणवृत्तिवाला है। आभ्यन्तर तो शुद्ध अर्थपर्याय है और उससे अन्य अशुद्ध अर्थपर्याय कहा गया है ॥ ५ ॥

व्याख्या। ऋजुसूत्रमतेनर्जुसूत्रादेशेनार्थपर्याय, आभ्यन्तर. शुद्धार्थपर्याय. क्षणवृत्तिमान् क्षणपरिणतः । तदन्यस्तदतिरिक्तोऽशुद्ध ईरित. । यो यस्मादल्पकालवर्त्ती पर्यायः स च तस्मादल्पत्वविवक्षया अशुद्धार्थपर्यायः कथ्यते ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थः—ऋजुसूत्रनयके आदेशसे आभ्यन्तर (अन्तरंग)का जो है वह शुद्ध अर्थपर्याय है और क्षणमात्रवृत्ति है अर्थात् शुद्धार्थपर्याय क्षणक्षणमें परिणामको प्राप्त होना है। और उससे अन्य अशुद्ध अर्थपर्याय कहा गया है। तात्पर्य यह कि जो जिस पर्यायसे अल्पकालवर्त्ती पर्याय है वह पर्याय उस अधिक कालवर्त्ती पर्यायसे अल्पत्वकी अपेक्षासे अशुद्ध अर्थपर्याय कहा जाता है ॥ ५ ॥

अत्र वृद्धवचनसंमतिं दर्शयति ।

इस विषय में वृद्धों के वचनरूप संमति दर्शाते हैं।

नरो हि नरशब्दस्य यथा व्यञ्जनपर्ययः ।
बालादिकोऽर्थपर्यायः संमतौ भणितस्त्वयम् ॥ ६ ॥

भावार्थः—जैसे नर शब्दका नर पर्याय व्यंजनपर्याय कहा गया है, वैसेही संमति ग्रन्थमें बाल आदि अर्थपर्याय कहा गया है ॥ ६ ॥

व्याख्या । नरो हि नरशब्दस्य यथा व्यञ्जनपर्यय इति । यथा पुरुषवाच्यजन्ममरणकालपर्यंन्त एकोऽनुगतनरत्वपर्याय' स च पुरुषस्य व्यञ्जनपर्यायोऽस्ति, समतिविषये बालादिकस्तु पुनरर्थपर्यायः कथित । अयमिति इदम प्रत्यक्षत्वे साक्षात्समतिदृष्ट इति । अत्र गाथा "पुरिसम्मि पुरिससद्दो जम्माइ मरणकाल-पज्जतो । तस्सओ बालाईया पज्जवभेया बहु विगप्पा ॥ १ ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थः—जैसे नरशब्दका नर व्यंजनपर्याय है, तात्पर्य्य यह कि पुरुप शब्दसे वाच्य पुरुपपर्याय जन्मसे आदि लेकर मरणकालपर्यन्त एक अनुगत रूपसे नरत्व पर्याय है और वह पुरुपका व्यंजन पर्याय है और बाल आदिक अर्थपर्याय हैं ऐसा संमति ग्रंथमें कहा है, अर्थात् यह विषय साक्षात् संमतिमे देखा हुआ है । यहां संमतिकी गाथा है कि "जैसे पुरुपमे पुरुष यह शब्द जन्मसे मरणतक रहता है यह व्यंजन पर्याय है और उस पुरुषमे बाल, युवा, इत्यादि जो भेद हैं ये सब अर्थपर्याय हैं ॥ ६ ॥

अथ केवलज्ञानादिक शुद्धगुणव्यञ्जनपर्याय एव भवति, तत्रार्थपर्यायो नास्तीत्येतादृशी कस्यचिद्दिक्पटाभासस्याशङ्कास्ति ता निराकरोति ।

अब "केवल ज्ञान आदि शुद्ध गुणव्यञ्जन पर्याय ही हैं, उनमें अर्थपर्याय नहीं है," ऐसी किसी दिगम्बराभासकी शंका है, उसको दूर करते हैं ।

षड्गुणहानिवृद्धिभ्यां यथाऽगुरुलघुस्तथा ।
पर्यायः क्षणभेदाच्च केवलाख्योऽपि संमतः ॥ ७ ॥

भावार्थः—जैसे पड्गुणी हानिवृद्धिसे अगुरुलघु पर्याय माना है, उसी प्रकार क्षणके भेदसे केवलाख्य गुण पर्यायके भी अर्थ पर्याय माना गया है ॥ ७ ॥

व्याख्या । षड्गुणहानिवृद्धिभ्यामगुरुलघुपर्याया यथा कथिता पडगुणहानिवृद्धिलक्षणा अगुरुलघु-पर्याया. सूक्ष्मार्थपर्याया इतिवत्पर्याय क्षणभेदात्केवलाख्योऽपि समतः क्षणभेदात्केवलज्ञानपर्यायोऽपि भिन्नो भिन्न एव दर्शितः । यत "पढमसमये योगभवत्थकेवलनाणे" अपढमसमये सजोगिभवत्थकेवलनाणे" इत्यादिवचनात्तदृजुसूत्रादेशेन शुद्धगुणस्याप्यर्थपर्याया मन्तव्या ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थः—जैसे षड्गुणी हानि वृद्धिसे अगुरुलघु पर्याय कहे हैं अर्थात् जैसे षड्गुणी हानि वृद्धिलक्षण अगुरुलघु पर्याय अर्थात् सूक्ष्मार्थ पर्याय हैं ऐसेही क्षणके भेदसे केवल ज्ञान नामक पर्याय भी भिन्न भिन्न ही देखा गया है, क्योंकि, प्रथम समयमें योगभवस्थ केवलज्ञानमें, द्वितीयसमय सयोगी भवस्थ केवलज्ञानमे" इत्यादि वचन हैं, इसलिये ऋजुसूत्रनयके आदेशसे शुद्ध गुणके भी अर्थपर्याय मानने चाहिये ॥ ७ ॥

सद्द्रव्यव्यञ्जनोऽणुश्चाशुद्धपुद्गलपर्यवः ।
द्व्यणुकाद्या गुणाः स्वीयगुणपर्यायसंयुताः ॥ ८ ॥

भावार्थः—शुद्ध द्रव्यव्यंजन परमाणु जो है वह शुद्ध पुद्गल पर्याय है और द्व्यणुकादि अशुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय हैं। ये अपने २ गुण पर्यायों सहित हैं॥८॥

व्याख्या। सद्द्रव्यव्यञ्जनोऽणुः शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपरमाणु शुद्धपुद्गलपर्यवस्तस्य नाशो नास्ति। तथा द्व्यणुकादिका अशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाः सयोगजनितत्वात्। कीदृशाः स्वीयगुणपर्यायसंयुताः पुद्गलद्रव्यस्य शुद्धगुणव्यञ्जनपर्याया अशुद्धगुणव्यञ्जनपर्यायास्ते निज २ गुणाश्रिता मन्तव्या। यत. परमाणुगुणो यः स च शुद्धगुणव्यञ्जनपर्यायस्तथा द्विप्रदेशादिगुणो य स चाशुद्धगुणव्यञ्जनपर्याय ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थः—शुद्ध द्रव्यव्यंजन परमाणु जो है वह शुद्ध पुद्गल पर्याय है। क्योंकि; उसका नाश नहीं होता है। और व्याणुक आदि अशुद्ध द्रव्यव्यंजन पर्याय हैं। क्योंकि, संयोगसे उत्पन्न होनेके कारण नाशवान् हैं। ये कैसे हैं कि अपने गुण तथा पर्याय करके सहित हैं। अर्थात् पुद्गल द्रव्यके जो शुद्ध गुणव्यंजन पर्याय और अशुद्ध गुणव्यंजन पर्याय हैं, वे अपने अपने गुणके आश्रित मानने चाहिये। क्योंकि, जो परमाणुका गुण है वह तो शुद्ध गुणव्यंजन पर्याय है; और जो द्विप्रदेश आदिका गुण है वह अशुद्ध गुणव्यंजन पर्याय है ॥ ८ ॥

सूक्ष्मार्थपर्यवाः सन्ति धर्मादीनामितीव ये।
कथयन्ति न किं तेऽमुं जानन्त्यात्मपरार्थतः ॥ ९ ॥

भावार्थः—धर्मादि द्रव्यके सूक्ष्म अर्थपर्याय हैं ऐसा जो दिगम्बर कहते हैं सो क्या वे स्वपरबोधसे इस क्षणपरिणामरूप अर्थपर्यायको नहीं जानते ॥ ९॥

व्याख्या। धर्मादीना धर्मास्तिकायादीना सूक्ष्मार्थपर्यवा शुद्धद्रव्यव्यजनपर्यायाः सन्ति, इतीव ये कथयन्त्येतादृशहठ कुर्वन्ति ते जना हठ त्यक्त्वा आत्मपरार्थत निजपरप्रत्ययादृजुसूत्रादेशेन चामु क्षणपरिणतिरूप पूर्वोक्तमर्थपर्यायमपि केवलज्ञानादिवन्न किं किमिति कथ न जानन्ति हठ त्यक्त्वा कथ नाङ्गीकुर्वन्ति। किं च तेषु धर्मास्तिकायादिष्वपेक्षया अशुद्धपर्यायोऽपि भवति न चेत्तदा परमाणुपर्यन्तविश्रामः पुद्गलद्रव्येऽपि न भवति, इत्यभिप्रायेण कथयन्नाह ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ.—धर्मास्तिकाय आदि द्रव्योंके सूक्ष्म अर्थ पर्याय अर्थात् शुद्ध द्रव्यव्यंजन पर्याय हैं, ऐसा जो हठ करते हैं, वे हठ करनेवाले मनुष्य हठको छोड़कर; अपने, प्रत्ययसे अथवा परके प्रत्ययसे और ऋजुसूत्रनयके आदेशसे इस क्षणपरिणाम रूप पूवकथित अर्थ-पर्यायको भी केवल ज्ञान आदिकी भाँति क्यों नहीं जानते? अर्थात् अपने हठको छोडकर क्यों नहीं स्वीकार करते। यह आक्षेप है। और भी, उन धर्मास्तिकाय आदिमें अपेक्षासे अशुद्ध पर्याय भी होता है, यदि ऐसा न हो तो पुद्गल द्रव्यमें भी परमाणु तक विश्राम नहीं होता है। इस अभिप्रायसे श्लोक कहते है ॥ ९॥

यथाऽऽकृतिश्च धर्मादेः शुद्धो व्यंजनपर्यवः ।
लोकस्य द्रव्यसंयोगादशुद्धोऽपि तथा भवेत् ॥ १० ॥

भावार्थः—जैसे धर्म आदि द्रव्यके लोकाकाश प्रमाणसे शुद्ध व्यंजन पर्याय है, ऐसेही लोकमे रहनेवाले द्रव्योंके संयोगसे अशुद्ध व्यंजन पर्याय क्यों न हो ? अर्थात् होनाही चाहिये ॥ १० ॥

व्याख्या । धर्मास्तिकायादेराकृतिर्लोकाकाशमानसंस्थानरूपा यथा वर्त्तते तथा शुद्धो व्यंजनपर्यवः शुद्धद्रव्यव्यंजनपर्यायः कथ्यते परनिरपेक्षत्वेनेति । तथा लोकस्य द्रव्यसयोगाल्लोकवर्त्ती द्रव्यसयोगरूपोऽशुद्ध-द्रव्यव्यजनपर्यायोऽपि तस्य लोकस्य द्रव्यसयोगान्निरपेक्षत्व कथयन्विरोध नोत्पादयति । विरोध कोऽपि नास्तीत्यर्थः. ॥ १० ॥

व्याख्यार्थः—जैसे धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यका आकार लोकाकाश प्रमाण स्थिति-रूप है, इसलिये परद्रव्यकी निरपेक्षासे वह शुद्ध द्रव्यव्यंजन पर्याय है ऐसा कथन होता है; ऐसेही लोकके द्रव्योंके संयोगसे अर्थात् लोकमे रहनेवाले जो द्रव्य हैं उन द्रव्योंका धर्मादि द्रव्यके साथ संयोगरूप अशुद्ध द्रव्यव्यजन पर्याय भी है, और उस लोकके द्रव्य सयोगसे निरपेक्षक होनेसे किसी विरोधको भी नहीं उत्पन्न करता, अर्थात् कोई विरोध नहीं है ॥ १० ॥

अथाकृति पर्यायो भविष्यति, सयोग पर्यायो न भविष्यतीत्याशङ्का परिहरन्नाह ।

अब आकृति पर्याय हो सकती है और संयोग नहीं इस आशकाको दूर करते हुए कहते हैं ।

आकृतेरिव संयोगः पर्यवः कथ्यते यतः ।
उत्तराध्ययनेऽप्युक्तं पर्यायस्य हि लक्षणम् ॥ ११ ॥

भावार्थः—आकृतिके समान संयोग भी पर्याय कहलाता है । क्योंकि, उत्तराध्ययन सूत्रमें भी पर्यायका लक्षण कहा है ॥ ११ ॥

व्याख्या । सयोगोऽप्याकृतेरिवाकृतिवत्पर्याय' कथ्यते । यतो हेतो' पर्यायस्य लक्षण हीति निश्चितमुत्तराध्ययनेऽप्युक्त कथितम् । ततोऽस्य लक्षण सभेदमपि श्रीउत्तराध्ययनादेवावसेयमिति ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थः—संयोग भी आकृति (आकार) के समान पर्याय कहा जाता है । क्योंकि, निश्चय रूपसे पर्यायका लक्षण **उत्तराध्ययन** सूत्रमे भी कहा है । इसलिये भेदसहित पर्यायका लक्षण श्री**उत्तराध्ययन**सूत्रसे ही जानना चाहिये ॥ ११ ॥

पुनस्तदेवाह ।

फिर पर्यायके विषयमें ही कहते हैं ।

एकत्वं च पृथक्त्वं च संख्या संस्थानमेव च ।
संयोगश्च विभागश्चेतीत्थं मनसि चिन्तय ॥१२॥

भावार्थः—एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग तथा विभाग इन सबको पर्याय रूपसे मनमें विचारो ॥१२॥

व्याख्या । एकत्वं १ पृथक्त्वम् २ एतद्द्वय तथा पुनः सख्या १ सस्थानम् २ एतद्द्वय च पुनः सयोगः १ विभाग' २ एतद्द्वय चेत्यादि पट्क द्वित्वपरिणत मनसि चिन्तय । स्वचेतोगोचरीकुरुष्वेत्यर्थः । तथा च तत्र गाथा–"एगत्त च पुहुत्त च सख्या सठाणमेव च । सयोगो य विभागो य पज्जवाणं तु ळक्खण ।१।" इत्येतग्दाथोक्त पर्यायभेदभावना भावयितव्या ॥१२॥

व्याख्यार्थः—एकत्व १ पृथक्त्व २ ये दोनों, संख्या १ संस्थान २ (आकृति वा अवयव-रचना) ये दोनों, पुनः संयोग १ तथा विभाग २ ये दोनों, इन तीन द्वन्द्व अर्थात् छहको मनमे पर्याय रूप विचारो । अर्थात् अपने चित्तमें इनको पर्यायके भेद समझो । ऐसी ही यहांपर उत्तराध्ययनकी गाथा है–"एकत्व १ पृथक्त्व २ संख्या ३ संस्थान ४ संयोग ५ और विभाग ६ ये पर्यायके लक्षण हैं । इस गाथामें जो (एकत्व आदि) कहे हैं, उनमें पर्यायके भेदकी भावना करनी चाहिये । भावार्थ–उत्तराध्ययनमें संयोगको भी पर्याय माना है ॥ १२ ॥

पुनः प्रकृतमेवार्थमाह ।

फिर उसी पर्याय विषयको कहते हैं ।

उपचारी न वाऽशुद्धो यद्यप्यन्याश्रितो भवेत् ।
असद्भूता मनुष्याद्यास्तदा नाशुद्धयोगकाः ॥१३॥

भावार्थः—जो उपचरित है वह यद्यपि परद्रव्याश्रित हो परन्तु अशुद्ध नहीं हो सकता । यदि ऐसा मानते हो, तब तो असद्भूत मनुष्य आदि भी अशुद्धपर्याययोगी नहीं होंगे ॥१३॥

व्याख्या । उपचारी न भवत्यशुद्धो यद्यप्यन्याश्रितो भवेत्परद्रव्यसयोगी स्यात्तथाप्युपचारी अशुद्धतां नाप्नोति । अथ च यद्येवं कथयिष्यथ यद्यदि च धर्मास्तिकायादीना परद्रव्यसयोगोऽस्ति तदुपचरितपर्याय इति कथ्यते, परन्त्वशुद्धपर्याय इति न कथ्यते, द्रव्यातथात्वहेतुष्वेवाशुद्धत्वव्यवहारोऽस्तीति, तत्तस्माद् मनुष्यादिपर्यायोऽप्यशुद्ध इति न कथयत, असद्भूतव्यवहारनयग्राह्यत्वेनासद्भूत इति कथयत । तद्धि तन्त्वादिपर्यायवदेकद्रव्यजनकावयवसघातस्यैवाशुद्धद्रव्यव्यजनपर्यायत्व च कथयता चतुरस्रं लगेदिति । तस्मादपेक्षानपेक्षाभ्यां शुद्धाशुद्धानेकान्तव्यापकत्वमेव श्रेय इति । तदेवाग्रेतने पद्ये प्रतिपादयिष्यति । पुनरक्षरार्थस्त्वेवम् । असद्भूता मनुष्याद्यास्तदा अशुद्धयोगका नेति ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थः—उपचारवान् यद्यपि परद्रव्यका संयोगी होवै तथापि वह अशुद्धताको नहीं प्राप्त होता है । अब यदि ऐसा कहते हो कि, धर्मास्तिकाय आदि द्रव्योंका परद्रव्यके

साथ संयोग है; इसीसे उनको उपचरित पर्याय कहते हैं परन्तु अशुद्ध पर्याय नहीं कहते। क्योंकि द्रव्यके अतथाभावके (अन्यपनेके) हेतुओंमे ही अशुद्धताका व्यवहार है, इस कारण, मनुष्य आदि पर्याय भी अशुद्ध है; ऐसा न कहो। किन्तु असद्भूत व्यवहार नयसे ग्राह्य होनेसे असद्भूत है, ऐसा कहो। क्योंकि वह तन्तु आदि पर्यायकी तरह एकद्रव्यजनक जो अवयवसंघात (अवयवोंका समूह) उसीको अशुद्ध द्रव्यव्यंजनपर्यायता कहनेवालेके चतुरस्र लगेगा। इसलिये अपेक्षासे शुद्ध और अपेक्षारहिततासे अशुद्ध इस प्रकार अनेकान्त व्यापकता ही श्रेष्ठ है। और इसको आगेके श्लोकमें प्रतिपादित करेंगे। अक्षरोंका अर्थ तो यह है कि, यदि उपचारी अशुद्धताको नहीं प्राप्त होता; तो मनुष्य आदि भी अशुद्ध पर्यायके योगी नहीं हैं ॥ १३ ॥

पुन कथयति।

पुनः उसी विषयको कहते हैं।

धर्मादेरन्यपर्यायेणात्मपर्यायतोऽन्यथा।
अशुद्धताविशेषो न जीवपुद्गलयोर्यथा ॥१४॥

भावार्थः—धर्मास्तिकाय आदिके परपर्यायसे तथा अपने पर्यायसे विलक्षणता है; और जैसे जीव, पुद्गलमें अशुद्धताका विशेष नहीं है; वैसे इनमें भी नहीं है ॥१४॥

व्याख्या। धर्मादिर्धर्मास्तिकायादेरन्यपर्यायेण परपर्यायेणात्मपर्यायेणात्मपर्यायत स्वपर्यायादन्यथा विषमत्वं विलक्षणत्व ज्ञातव्यम्। यत कारणादशुद्धताया विशेषो नास्ति यथा जीव पुद्गलयोर्विषये अशुद्धताविशेषो नास्ति ॥१४॥

व्याख्यार्थः— धर्मास्तिकाय आदिके परपर्याय तथा आत्मपर्यायसे विलक्षणता जाननी चाहिये। क्योंकि, जैसे जीव और पुद्गलके विषयमें अशुद्धता विशेष नहीं है, वैसे यहां भी अशुद्धताका विशेष नहीं है।

अथ प्रकारान्तरेण चतुर्विधपर्याया नयचक्रे कथितास्तानेव दर्शयन्नाह।

अब नयचक्रमे अन्य प्रकारसे पर्यायोंके जो चार भेद कहे हैं; उन्हीं भेदोंको दर्शाते हुए आगेका श्लोक कहते हैं।

स्वजातेश्च विजातेश्च पर्याया इत्यमर्थके।
स्वभावाच्च विभावाच्च गुणे चत्वार एव च ॥१५॥

भावार्थः—द्रव्यके विषयमे इसी प्रकार स्वजातीयसे तथा विजातीयसे पर्याय होते हैं। ऐसेही गुणके विषयमे भी स्वभाव गुणसे तथा विभाव गुणसे पर्याय होते हैं। इस प्रकार पर्यायके चार भेद हुए ॥१५॥

व्याख्या। इत्यममुना प्रकारेण स्वजाते पर्याया सजातीयद्रव्यपर्याया, विजाते पर्याया विजातीयद्रव्यपर्यायाश्चार्थके द्रव्ये द्रव्यविषये भवन्ति। स्वभावाच्च पुनर्विभावादिति स्वभाव-

गुणपर्यायाः, विभावगुणपर्याया. इत्य चत्वारो भेदा द्रव्यगुणभेदात्पर्यायाणा कथनीयाः । [स्वजातीयद्रव्यपर्यायः, विजातीयद्रव्यपर्याय., स्वभावगुणपर्याय', विभावगुणपर्याय , इति चत्वारो द्रव्यगुणयोर्भेदा भावनीया इति ॥१५॥

व्याख्यार्थः—इस प्रकारसे स्वकीय जातिसे जो पर्याय होते हैं वे सजातीय पर्याय कहलाते हैं, तथा परजातिसे जो पर्याय होते हैं वे विजातीय पर्याय कहलाते हैं। और स्वभावसे तथा विभावसे गुणमें पर्याय होते हैं। अर्थात् स्वभाव गुणपर्याय, और विभाव गुणपर्याय दो भेद हैं। ऐसे द्रव्य और गुणके भेदसे पर्यायोंके चार भेद कहने चाहिये। अर्थात् सजातीय द्रव्यपर्याय १ विजातीय द्रव्यपर्याय २ स्वभाव गुणपर्याय ३ तथा विभाव गुणपर्याय ४. इस प्रकार दो भेद द्रव्यके तथा दो भेद गुणके इन दोनोंको मिलाके, चार भेद द्रव्य गुण दोनोंके विचारने चाहिये ॥१५॥

अत्र पूर्वोक्ताना भेदानामुदाहरणमाह ।

अब पूर्वोक्त सजातीय द्रव्यपर्याय आदि भेदोंके उदाहरण कहते हैं ।

द्व्यणुकं च मनुष्याश्च केवलं मतिचिन्मुखाः ।
दृष्टान्ता प्रायिकास्तेषु नाणुरन्तर्भवेत्क्वचित् ॥१६॥

भावार्थः—द्व्यणुक सजातीय द्रव्यपर्याय हैं, मनुष्य आदि विजातीय द्रव्यपर्याय हैं तथा केवल ज्ञान स्वभाव गुणपर्याय है और मतिज्ञान आदि विभाव गुणपर्याय हैं। ये दृष्टांत प्रायिक है। क्योंकि, इनमें, कहीं भी अणुका अन्तर्भाव नहीं होता है ॥१६॥

व्याख्या । द्व्यणुकं चेति द्विप्रदेशादिस्कन्ध. स च सजातीयद्रव्यपर्यायः, कथ तत् । द्वयोः परमाण्वोः सयोगे सति द्व्यणुकमेतावता द्रव्यद्वय सगत्यैकद्रव्य भवतीति सजातीयद्रव्यपर्याय' १ । मनुष्याश्च मनुजादिपर्याया विजातीयद्रव्यपर्याय इति, जीवपुद्गलयोर्योगे सति मनुष्यत्वव्यवहारो जायते, एतावता विजातीयद्रव्यद्वयं सगत्यैकद्रव्यं निष्पन्नमिति विजातीयद्रव्यपर्यायः २ । अथ केवलमिति केवलज्ञान स्वभावगुणपर्यायः कथ्यते, कथ तत्–कर्मणा सयोगरहितत्वात्स्वभावगुणपर्यायः ३ । अथ मतिचिन्मुखा मतिज्ञानादयः पर्यायाः विभावगुणपर्यायाः कथ्यन्ते । कथ तत् कर्मणा परतन्त्रत्वाद्विभावगुणपर्याय ४ । इति । एते हि चत्वारो दृष्टान्ताः प्रायिका ज्ञातव्या । परमार्थतस्तु परमाणुरूपद्रव्यपर्याय एषु चतुर्षु नान्तर्भवितुमर्हति विभागजनितपर्यायत्वात् । तदुक्त समतौ–अणुएहिं दव्व आरद्धे ति अणति वयसाण सात्ततो । अपुणविभत्तो अणुत्तिजाओ अणू होइ ।" इत्यादिक सर्वं विमृश्य विज्ञेयमिति । आरब्धद्रव्यपर्यायेऽणुद्वयसयोगे सति द्व्यणुकं निष्पद्यते, त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्र्यणुक जायते, त्रिभिस्त्र्यणुकैश्चतुरणुकमुत्पद्यते । एव महती पृथ्वी, महत्यआपो, महान्तो वायव इत्यादि नैयायिकैः प्रणीतत्वात् ॥१६॥

व्याख्यार्थः—जो द्विप्रदेश आदि स्कंध हैं वे सजातीय द्रव्यपर्याय हैं। सो कैसे कि, दो परमाणुओंका संयोग होनेपर द्व्यणुक होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक जातिके

दो द्रव्य परस्पर मिलके जो एक द्रव्य होता है वह सजातीय द्रव्यपर्याय है । १ । और मनुष्य आदि जो पर्याय हैं वे विजातीय द्रव्यपर्याय हैं । क्योंकि, जीव और पुद्गलका परस्पर संयोग होनेपर मनुष्य यह व्यवहार होता है । इससे यह सिद्धान्त हुआ कि भिन्न २ जातिके दो द्रव्य मिलकर, जो एक द्रव्य होता है; वह विजातीय द्रव्य पर्याय कहलाता है ।२। केवल ज्ञान जो है वह स्वभाव गुणपर्याय कहा जाता है । सो कैसे कि–वह कर्मोंके संयोगसे रहित है इसलिये स्वभाव गुणपर्याय है ।३। तथा मतिज्ञान आदि पर्याय विभाव गुणपर्याय कहलाते हैं । सो कैसे कि, ये कर्मोंके सम्बन्धसे होते हैं, इसलिये विभाव गुणपर्याय हैं ।४। इन चारों दृष्टान्तोंको प्रायिक समझना चाहिये, अर्थात् ये सर्वत्र रहनेवाले नहीं हैं। परमार्थसे तो परमाणु रूप द्रव्यपर्याय इन चारोंमे अन्तर्गत होने योग्य नहीं है । क्योंकि, वह परमाणु द्रव्यविभागसे उत्पन्न पर्याय है न कि संयोगसे उत्पन्न । सोही संमतिमें कहा है कि–"दो तीन आदि अणुओंसे अनन्त द्रव्योंका आरभ निरन्तर होता है । और जिसका फिर विभाग न हो वह अणु है । यह द्व्यणुकसे विभाग करके होता है ।१।" इत्यादि सब विचारके जानना चाहिये । और "आरंभ किये हुए द्रव्यके पर्यायमें दो अणुओंके संयोगसे द्व्यणुक उत्पन्न होता है, ऐसे ही तीन द्व्यणुकोंसे त्र्यणुक और चार त्र्यणुकोंसे चतुरणुक उत्पन्न होता है और इसी प्रकार महापृथिवी, महाजल तथा महावायु आदि होते हैं" इत्यादि रूपसे नैयायिकोंने भी कहा है ॥ १६ ॥

पुन॰ प्रतिपिपादयिषुराह ।

उसी कथनकी इच्छासे पुनः इस श्लोकको कहते हैं ।

गुणानां हि विकाराः स्युः पर्याया द्रव्यपर्यवाः ।
इत्यादि कथयन्देवसेनो जानाति किं हृदि ॥१७॥

भावार्थ—गुणोंके विकारही पर्याय हैं यह, पहिले कहकर फिर द्रव्यपर्याय तथा गुणपर्याय कहते हुए **देवसेन**जी अपने मनमे क्या जानते हैं ? ॥१७॥

व्याख्या । गुणविकारा पर्याया एव कथयित्वा तेषा भेदाधिकारे पर्याया द्विविधा द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्चेति कथयंश्च देवसेनो दिगम्बराचार्यो नयचक्रग्रन्थकर्त्ता हृदि चित्ते किं जानाति अपि तु सम्भावितार्थं न किमपि जानातीत्यर्थ॰ । पूर्वापरविरुद्धभाषणादसत्प्राय एवेदमित्यभिप्राय॰ । किञ्च द्रव्यपर्याया एव कथनीया परन्तु गुणपर्याया इति पृथग्भेदोत्कीर्त्तन न कर्त्तव्य द्रव्ये गुणत्वाविरोधाद्गुणे च गुणत्वाभावादिति निष्कर्ष ॥१७॥

व्याख्यार्थ—गुणोंके विकार पर्याय हैं ऐसा कहके पुनः पर्यायोंके भेदके अधिकारमें पर्याय दो प्रकारके हैं—द्रव्यपर्याय तथा गुणपर्याय इस प्रकार **नयचक्र**ग्रन्थके कर्त्ता दिगम्बराचार्य **देवसेन**जी अपने चित्तमें क्या जानते हैं ? अर्थात् कुछ नहीं जानते हैं । अर्थात् पूर्वापर विरुद्ध भाषण करनेसे यह झूंठा है यह अभिप्राय है । और द्रव्यपर्याय ही कहने

चाहिये और गुणपर्याय ऐसा दूसरा भेद न करना चाहिये। क्योंकि, द्रव्यमें गुणत्वका अध्यारोप है और गुणमें गुणताका अभाव है। यही तात्पर्य है ॥ १७ ॥

पुनस्तदेवाह।

फिर उसीको कहते है।

इत्थं पदार्थाः प्रणिधाय मूर्ध्नि परीक्षिता ज्ञानगुरोः सदाज्ञाम्।
तुच्छोक्तिमुत्सृज्य विमोहमूलामर्हत्क्रमाम्भोजरतेन सर्वे ॥ १८ ॥

भावार्थः—ज्ञानके दाता श्रीगुरुकी उत्तम आज्ञाको मस्तकपर धारण करके, जिनेन्द्रके चरणकमलमे तत्पर मैंने विमोहके मूलभूत अज्ञप्रणीत वचनको त्यागकर, इस प्रकार सब पदार्थोंकी परीक्षा की ॥ १८ ॥

इति श्रीयशोविजयोपाध्यायप्रणीतद्रव्यगुणपर्यायभाषाविवरणोक्तार्थसदर्भितश्लोक-रूप-द्रव्यानुयोगतर्कणाया चतुर्दशोऽध्याय ॥ १४ ॥

व्याख्या। इत्थमनया रीत्या पदार्था द्रव्यगुणपर्याया परीक्षिता' स्वरूपलक्षणभेदादिकथनेन विशदीकृता.। किं कृत्वा ज्ञानगुरो परम्परागतश्रुताचार्यस्य सदाज्ञा सत्यनिदेश मूर्ध्नि मस्तके निधाय संस्थाप्य। पुन किं कृत्वा विमोहमूला भ्रमनिबन्धना तुच्छोक्ति तुच्छबुद्धिप्रणीतवचनमुत्सृज्यापाकृत्य। कीदृशेन मया अर्हत्क्रमाम्भोजरतेन वीतरागचरणकमलसेवनरसिकेन। सर्वे पदार्था मया परीक्षिता इत्यर्थः। भोजेति नामनिरूपण चेति ॥ १८ ॥

इति श्रीवाचकमुख्य—श्रीयशोविजयविदर्भितद्रव्यगुणपर्यायभाषाविवरणतदुक्तिसङ्कलितायां कृतिभोजसागरविनिर्मिताया द्रव्यानुयोगतर्कणायां चतुर्दशोऽध्याय ॥

व्याख्यार्थः—परंपरागत श्रुताचार्यकी समीचीन आज्ञाको मस्तकपर धर करके और भ्रमसे उत्पन्न हुए ऐसे मन्दबुद्धियोंके रचे हुए वचनको दूर करके श्रीजिनेन्द्रके चरणकमलोंकी सेवा करनेमें रसिक ऐसे मैने इस प्रकार सब द्रव्य, गुण, पर्यायोंकी परीक्षा की; अर्थात् स्वरूप, लक्षण तथा भेद आदिका कथन करके स्पष्ट रीतिसे पदार्थोंका निरूपण किया। श्लेषसे "क्रमाम्भोज" इस पदमें "भोज" यह अपने नामका निरूपण भी आचार्यने किया है ॥ १८ ॥

इति श्रीआचार्योपाधिधारिपण्डितठाकुरप्रसादशर्मद्विवेदिप्रणीतभाषानुवादसमलङ्कृतायां द्रव्यानुयोगतर्कणाया चतुर्दशोऽध्याय ॥ १४ ॥

द्रव्यादिकानां तु विचारमेवं विभावयिष्यन्ति सुमेधसो ये।
प्राप्स्यन्ति ते सन्ति यशांसि लक्ष्म्यः सौख्यानि सर्वाणि च वाञ्छितानि ॥१॥

भावार्थः—जो बुद्धिमान् इस प्रकार द्रव्य आदिका विचार करेंगे; वे उत्तम यश, लक्ष्मी तथा सम्पूर्ण अभिलषित सुखोंको प्राप्त होंगे ॥ १ ॥

व्याख्या। एवमनया रीत्या द्रव्यादिकाना विचार ये सुबुद्धयो विभावयिष्यन्ति ते सुमेधस इह सन्ति शोभनानि यशासि। पुन लक्ष्म्य परत्र सर्वाणि वाञ्छितानि सुखानि प्राप्स्यन्तीति भाव ॥ १ ॥

व्याख्यार्थः—इस पूर्वोक्त प्रकारसे जो उत्तम बुद्धिके धारक भव्य जीव द्रव्यादि पदार्थोंके विचारकी विभावना करेंगे वे सम्यक् ज्ञानधारी जीव अच्छे यश, और लक्ष्मियोंको प्राप्त करेंगे तथा परलोकमें सब वाञ्छित सुखोंको प्राप्त करेंगे ॥ १ ॥

गुरोः श्रुतेश्चानुभवात्प्रकाशितः परो हि द्रव्याद्यनुयोग आन्तरः।
जिनेशवाणीजलधौ सुधाकरः सदा शिवश्रीपरिभोगनागरः ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वोत्तम, आन्तरिक, ज्ञानस्वरूप, श्रीजिनेन्द्रके वचनरूपी समुद्रमें चन्द्रमाके समान तथा निरन्तर मुक्तिलक्ष्मीके सेवनमे नागर ऐसा यह द्रव्यानुयोग मैने गुरुके सिद्धान्तसे तथा अपने अनुभवसे प्रकाशित किया ॥ २ ॥

व्याख्या। गुरोर्ज्ञानिगुरो श्रुते सिद्धान्तादनुभवात्स्वानुभूतेरान्तरोऽन्तर्ज्ञानमय पर प्रकृष्टो द्रव्यानुयोग प्रकाशित। कीदृशो वीतरागवचनसमुद्रे चन्द्र इव चन्द्र, निरन्तर शिवलक्ष्मीविलासे नायक इव नागर इति ॥ २ ॥

ये बालकास्ते किल लिङ्गदर्शिनो ये मध्यमास्ते तु बहिष्क्रियारताः।
द्रव्यानुयोगाभ्यसने य उत्तमाः कृतादराः सत्पथसङ्गिनस्ते ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो बालक (मूर्ख) है वे केवल लिङ्गके दर्शक हैं, जो मध्यम (कुछ ज्ञानके धारक) हैं वे बाह्यक्रियामे तत्पर हैं, इसलिये जो द्रव्यानुयोगके अभ्यासमे आदर करनेवाले है वेही उत्तम (विशेष ज्ञानके धारक) हैं और सन्मार्गके सङ्गी हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या। ये बालका इति सुगमम्। षोडशकवचन—"बाल पश्यति लिङ्ग मध्यमबुद्धिर्विचारयति वृत्तिम्। आगमतत्त्व तु बुध. परीक्षते सर्वयत्नेन। १।" इति ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थः—'ये बालकाः' इत्यादि श्लोकका अर्थ सुगम है। इस श्लोकार्थके विषयमे षोडशकका भी वचन है—"बालक (मन्दबुद्धिजन) लिङ्गको देखता है, मध्यम बुद्धिके धारक वृत्तिका विचार करते हैं और जो ज्ञानी (उत्तम) हैं वे सर्व प्रकारसे शास्त्रोक्त तत्त्वकी परीक्षा करते है ॥ ३ ॥

क्रिया प्रिया नैव विमुच्य संविदं न ज्ञानमानन्दकरं विना क्रियाम्।
समुच्चये योगदृशां निरूपितं यदर्कखद्योतवदन्तरं महत् ॥ ४ ॥

भावार्थः—ज्ञानके विना क्रिया प्यारी नहीं होती है और क्रियाके विना ज्ञान भी आनन्दका कर्त्ता नहीं होता है। और योगदृष्टिसमुच्चय नामक ग्रंथमे तो सूर्यमे और खद्योत (जुगनू) में जितना अन्तर (फरक) है उतना बडा भेद ही ज्ञान और क्रियामें निरूपण किया है। अर्थात् ज्ञान तो सूर्यके समान है और क्रिया खद्योतके तुल्य है ॥ ४ ॥

(१) इस व्याख्याका अर्थ सूत्रभावार्थसे ही समझ लेना चाहिये। क्योंकि इसमे विशेषता नही है।

खद्योतप्रतिमा क्रिया तु कथिता ज्ञानं तु भानूपम-
मित्येतन्महदन्तरं कलियुगे कश्चिद्बुधो विन्दति ।
बाह्याभ्यासविनिर्मितो हि दुरितक्षेपो भवेद्दुर्दुर-
क्षुण्णक्षोदकणोपमः किमपरं वाक्यं बुधा ब्रूमहे ॥ ५ ॥

भावार्थः—क्रिया तो खद्योतके तुल्य कही गई है और ज्ञान सूर्यके समान है, स प्रकार ज्ञान और क्रियामे बड़ा भेद है । इस भेदको कलियुग (पंचमकाल)में कोईही द्वान् जानता है । और बाह्यके अभ्याससे उत्पन्न हुआ जो पापका नाश है, वह दर्दुर मेंढक) के द्वारा खोदे हुए मिट्टीके कणके बराबर है । बुधजनो ! इससे अधिक क्रिया तथा ानके भेदके विषयमें आपसे और क्या कहें ? ॥ ५ ॥

व्याख्या । क्रियेति स्पष्टम् । यदुक्त योगदृष्टिसमुच्चये "तात्कालिकः पक्षपातो भावशून्या च या क्या । अनयोरन्तर ज्ञेय भानुखद्योतयोरिव । १ ।" "मडूकचुन्नकप्पो कियाइ जाणिओ कओ किलेसाण । द्दुरचुन्नकप्पो नाणकओ त च आणाए ॥ १ ॥ ५ ॥"

व्याख्यार्थः—"क्रिया प्रिया" इत्यादि चतुर्थ तथा पंचम श्लोकका अर्थ स्पष्टही हैं सलिये व्याख्या नहीं की । यही विषय **योगदृष्टिसमुच्चयमें** कहा है कि तत्काल अर्थात् सी क्षणमें होनेवाले अपने पक्षपातको प्रकटकर्त्ता ज्ञानमें और भावशून्य जो क्रिया है समें सूर्य और खद्योतके बराबर भेद जानो । १ ।" इस विषयमे यह गाथा भी है "क्रिया ादिसे मेंढकके खोदे हुए मिट्टीके कणके बरावर पापोंका नाश होता है और ज्ञानसे मेंढकके समान पापका नाश होता है, यह सर्वज्ञकी आज्ञासे सिद्ध है ।१॥४॥५॥

मिथ्यात्वमूलाष्टककर्मसंस्था न कोटिकोटेरधिकोपदिष्टा ।
समागते ज्ञानगुणेऽत्र पुंसो महानिशीथोक्तमिति प्रमाणम् ॥६॥

भावार्थः—मनुष्यको ज्ञान गुण प्राप्त होनेपर मिथ्यात्व है मूल जिनका ऐसे आठों कर्मोंकी स्थिति कोटिकोटि सागरसे अधिक नहीं है, यह प्रमाण महानिशीथ ग्रंथमें कहा हुआ है ॥ ६ ॥

जानाति तत्त्वानि यथार्थमर्थं ब्रूते परान्यो दुरितं निहन्ति ।
अनन्तकायस्थमपाकरोति यो भाष्य उक्तः स तु केवली ज्ञः ॥७॥

भावार्थः—जो संपूर्ण तत्त्वोंको जानते है, जो भव्यजीवोंको यथार्थ पदार्थका कथन करते हैं, जो अनन्तकायस्थको दूर करते है वे भाष्यमें केवली कहे गये हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या । अथ मिथ्यात्वेति । ज्ञान हि सम्यग्दर्शनसहितमेवायाति तत्प्राप्तौ च कदाचिदपि मिथ्यात्वमभ्यगतो भवेत्तथापि जीव कोटाकोटिसागरप्रमितिकालादधिक कर्मबन्ध न करोति "बधेण न वोलइ कयावीति" वचनात् । एतदभिप्रायेण नन्दिषेणाधिकारे महानिशीथसूत्रे ज्ञानगुणोऽप्रतिपाती कथित' । उत्तराध्ययनेऽपि यथोक्त "सुई जहा समुत्ता ण णस्सई कयवरम्मि

पडियाई । इय जीवोवि ससुत्तो ण णस्सइ गओवि संसारे ॥ १ ॥" अत्र बृहत्कल्पगाथा चेयम् "गीयत्थे केवली चतुब्विहे पन्नत्ते त जहा जाणणेय १ कहणेय २ उल्लरागद्दोसे ३ अणतकायस्स वज्जणेण य ४॥" गाथा—"गीयत्थस्स वयणेण विस हालाहल पिवे । अगीयत्थस्स वयणेण अमयपि न घुट्टए । १ । अगीयत्थ कुसीलेहिं सग तिविहेण वोसिरे । मुक्खमग्गस्स ते विग्घ पहमि तेणगे जह ।२।" "कर्त्तु मिच्छो श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादिन । कलादिविकलो योग इतीच्छायोगलक्षणम् । १ ।" इति वचन ललितविस्तरादौ ग्रन्थे । दृढकरणवाक्यमालेयम् । अत्रावश्यकगाथा-"दसणपक्खो सावय चरित्तनट्ठेय सदधम्मे य । दसणचरित्तपक्खो समणे परलोगक खमि । १ " "मणेरिवाभिजातस्य क्षीणवृत्तेरसशयम् । तात्स्थ्यात्तदञ्जनत्वाच्च समापत्ति प्रकीर्त्तिता ॥ १ ॥ ६ ॥ ७ ॥"

व्याख्यार्थः—"**मिथ्यात्वमूलाष्टक**" इस छट्ठे तथा "**जानाति तत्त्वानि**" इस सातवें इन दोनों श्लोकोंको मिलाके व्याख्या करते हैं। ज्ञान गुण जब आता है तब सम्यग्दर्शन सहित ही आता है और उस ज्ञानके प्राप्त होनेपर जीव कदाचित् मिथ्यात्वके बीचमें आजाय तो भी कोटाकोटि सागर प्रमाण कालसे अधिक कर्मबन्धन वह जीव नहीं करता है, क्योंकि—"जो ज्ञानी है वह कर्मबन्धसे संसारमें कभी नहीं डूबता" ऐसा वचन है। इसी अभिप्रायसे **महानिशीथ** सूत्रमे **नन्दिषेण** अधिकारमे ज्ञान गुण अप्रतिपाती कहा है अर्थात् ज्ञान गुण हुए पीछे पुनः उसका प्रतिपात (अधःपतन) नहीं होता है। और **उत्तराध्ययन**मे ऐसा कहा है कि "जैसे सूत्र (तागे) सहित सुई नष्ट नहीं होती किन्तु वस्त्र आदिमे प्रवेश करके पुनः निकल आती है, इसी प्रकार सूत्र (ज्ञान) सहित जीव भी संसारमें गया हुआ नष्ट नहीं होता है । १ ।" यहां यह बृहत्कल्पकी गाथा भी है—"गीतार्थ केवली जाननेवाले, कहनेवाले, रागद्वेषरहित, और अनन्तकायवर्जक इन भेदोंसे चार प्रकारके कहे गये हैं।" "गीतार्थके वचनोंसे हालाहल विषको पीना चाहिये और अगीतार्थके वचनोंसे अमृत भी नहीं पीना चाहिये । १ ।" "अगीतार्थकुशीलोंका संसर्ग मन, वचन, कायसे छोड़ना चाहिये। क्योंकि, जैसे रास्तेमें चोर विघ्नकर्त्ता होते हैं वैसे वे भी मोक्षमार्गमें विघ्नके कर्त्ता हैं ॥ १ ॥" "शास्त्रके अर्थको करनेकी इच्छावाले प्रमादी ज्ञानीके जो कला आदिसे रहित योग है वही इच्छायोग कहलाता है, यह इच्छायोगका लक्षण है । १ ।" ऐसा वचन ललितविस्तर आदि ग्रंथोंमें है। यह पूर्वोक्त जो वाक्यसमूह यहाँ दिया गया है सो इस विषयको पुष्ट करनेके लिये है। यहां आवश्यक गाथा भी है कि—"दर्शनपक्षको धारण करनेवाला श्रावक है। यह चारित्रसे नष्ट है, परन्तु धर्मसे आर्द्र है। और मुनि दर्शन तथा चारित्र दोनोंके पक्षको धारण करते हैं और परलोक अर्थात् अग्रिम भवोंका नाश करते हैं अर्थात् उसी भवसे मोक्ष जाते हैं । १ ।" "शुद्धरत्नकी तरह क्षीणवृत्ति जीवके उसमें रहनेपनेसे तथा उसके अंजनपनेसे समापत्ति कही गई है, यह कथन निस्सन्देह है ॥ ।१।६॥७॥"

ज्ञानं हि जीवस्य गुणो विशेषो ज्ञानं भवाब्धेस्तरणे सुपोतः ।
ज्ञानं हि मिथ्यात्वतमोविनाशे भानुः कृशानुः पृथुकर्मकक्षे ॥८॥

भावार्थः—ज्ञान जो है वह जीवका विशेष गुण है, ज्ञान संसाररूपी समुद्रके तिरनेमें उत्तम नौका (अच्छा जहाज) है । ज्ञान मिथ्यात्वरूपी अंधकारको नष्ट करनेमें सूर्यके समान है । ज्ञान विशाल कर्मरूपी काष्ठके भस्म करनेमे अग्निके समान है ॥८॥

ज्ञानं निधानं परमं प्रधानं ज्ञानं समान न बहुक्रियाभिः ।
ज्ञानं महानन्दरसं रहस्यं ज्ञानं परं ब्रह्म जयत्यनन्तम् ॥९॥

भावार्थः—ज्ञान सर्वोत्तम खजाना है, ज्ञानही सबमें प्रधान है, ज्ञान अनेक क्रियाओंके समान नहीं है अर्थात् अनेक प्रकारके आचरणोसे भी विशिष्ट ज्ञानही है, ज्ञानही महा आनन्दरूप सुखका देनेवाला रस है, ज्ञानही परमात्माका रहस्य है और अन्तरहित है, ऐसा ज्ञान सर्वोत्कर्षता करके वर्त्तता है ॥ ९ ॥

बाह्याचारपराश्च बोधरहिता इच्छाख्ययोगोद्धताः
ये केऽपि प्रतिसेवनाविधुरितास्ते निन्दिताः शासने ।
ये तु स्वच्छमतुच्छवाङमयकलाकौशल्यमाबिभ्रति
सार्वोक्तामृतपानसादरधियस्तेभ्यो मुनिभ्यो नमः ॥१०॥

भावार्थः—जो बाह्यकी क्रियाओंमे तत्पर है, ज्ञानकरके रहित हैं, इच्छायोगसे उद्धत हैं और ज्ञानादिकी सेवनासे रहित हैं; वे जीव जिनमतमें निन्दित समझे जाते हैं और जो अतिनिर्मल तथा विशाल ज्ञानकलाके कौशल्यको धारण करते हैं और सर्वज्ञके वचनरूपी अमृतके पीनेमें आदरपूर्वक बुद्धिको धारण करनेवाले हैं, उन मुनियोंको मेरा नमस्कार है ॥१०॥

अथ प्रशस्ति ।

श्रीवीरपट्टाधिपतिर्बभूव सूरिः सुरत्नाद्विजयो यशस्वी ।
यस्मिन्समुद्रे विविशुः समग्रा विद्यासुनद्यश्च चतुर्दशापि ॥११॥

अब ग्रन्थकार प्रशस्ति लिखते है ।

श्लोकार्थः—श्रीवीरके पट्टके स्वामी, तथा यशके धारक श्रीरत्नविजयजी सूरि हुए, जिन रत्नविजयजी सूरिरूप समुद्रमें समस्त चौदह विद्यारूप उत्तम २ नदियें प्रविष्ट थीं अर्थात् सब विद्याओंके धारक रत्नविजयजी सूरि हुए ॥ ११ ॥

तत्पट्टोदयशैलसङ्गतरविर्मिथ्यातमस्त्रासने
भव्याम्भोरुहभासने सुविपुलं ज्ञानाऽस्त्रभारं वहन् ।
कुग्राहग्रहतारतारकमिलद्दोषाविलं पुष्करं
शोभावद्विदधन्बभूव विजयाच्छ्रीमत्क्षमाधीश्वरः ॥१२॥

श्लोकार्थः—उन रत्नविजयसूरिजीके पट्टरूपी उदयाचलके समागमसे सूर्यके समान, और मिथ्यात्वरूपी अंधकारको दूर करनेके लिये तथा भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये ज्ञानरूपी किरणोंके समूहको धारण करनेवाले और खोटे सिद्धान्तको ग्रहण करनेवाले अच्छे वादीरूप तारोंके संगमसे रात्रिपूर्ण आकाशको शोभायुक्त करने वाले ऐसे **श्रीक्षमाविजयजी** सूरि हुए ॥ १२ ॥

मदनो निहतः स्वरूपतस्तरसा येन जितः सुराचलः ।
महसा सहसा सहस्ररुग्विजितः सौम्यतया सुधाकरः ॥१३॥
वचसा वचसामधीशिता कविताभिः कविरीशवत्तया ।
हरिरेव जितो यशस्विना विदुषा केन स चोपमीयते युग्मम् । ॥१४॥

श्लोकार्थः—यशके धारक जिन्होंने अपने रूपसे कामदेवको हराया, गुरुतासे सुमेरुको जीता, स्वभावसे उत्पन्न तेजसे सूर्यको जीता और सौम्यतासे चंद्रमाको जीता ॥ १३ ॥ वचनसे बृहस्पतिपनेको, कवितासे शुक्रको और ऐश्वर्यसे इन्द्रको जीता ऐसे उन आचार्योंको विद्वान् किसकी उपमा देवे अर्थात् जो उपमा देने योग्य पदार्थ थे उनको तो उन्होंने अपने गुणोंसे ही जीत लिया, अब उनको किसकी उपमा दी जावे ॥ १४ ॥ इन दोनों श्लोकोंको मिलाके अर्थ किया गया है, इसलिये युग्म है ।

सरस्वती यस्य मुखान्निरन्तरा प्रकाशमासादयति प्रभाविनी ।
हिमाद्रिपद्मद्रहतो निरत्यया सरिद्वरेवामरलोकपूजिता ॥१५॥

श्लोकार्थः—जैसे हिमाचलके पद्मद्रहसे देव तथा मनुष्योंसे पूजित गंगानदी निरन्तर निकलती है, उसी प्रकार जिनके मुखसे प्रभावकी धारक सरस्वती सदा प्रकट होती रहती है ॥ १५ ॥

यदीयकीर्तिर्धवलेष्टमूर्तिस्त्रिलोकसंपूर्तिमियर्ति नित्यम् ।
अनादिगङ्गेव जडस्वभावं विहाय वैशद्यमुरीचकार ॥१६॥

श्लोकार्थः—उज्वल इष्ट आकारको धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति सदा तीन लोकको पूर्ण (व्याप्त) कर रही है सो यह कीर्ति ऐसी सोहती है, मानो अनादि गंगाने अपने जड (जल) स्वभावको छोडकर, सचेतनता (निर्मलता) को ही स्वीकार कर लिया है ॥ १६ ॥

अहो यदीयेन गुणोच्चयेन विहाय संख्यां ववृधे यथास्वम् ।
अतः कणादोक्तगुणेषु दक्षा गुणत्वजातिं न तथा वदन्ति ॥१७॥

श्लोकार्थः—आश्चर्य है कि जिनके गुणोंका समूह संख्याको छोडकर, इच्छानुसार

वृद्धिको प्राप्त हो गये । इसीलिये कणादके कहे हुए गुणोंमें चतुर जन गुणत्व जातिको वैसी नहीं कहते हैं ॥ १७ ॥

यत्कीर्तिकान्ता व्यभिचारिणीव समुत्सुकैका त्रिदिवंजगाम
तत्रामरस्पर्शविशीर्णहारा तस्तार तारोपममौक्तिकैः खम् ॥१८॥

श्लोकार्थः—जिनकी कीर्तिरूपी स्त्री व्यभिचारिणी स्त्रीकी नांई समुत्सुक होकर, एकलीही स्वर्गमें चली गई वहांपर देवोंके संसर्गसे टूटे हारवाली होकर, तारोंके समान जो मोती है उनसे आकाशको आच्छादित करती हुई । भावार्थ—ये आकाशमे तारे नहीं हैं, किन्तु उन आचार्योंकी कीर्तिरूप स्त्रीके हारमेंसे टूटे हुए मोती है ॥ १८ ॥

अहीनो नोऽहीनो यदपि वपुषा भूभरजुषा
तथाप्यास्ये वाणी ह्लसति तच्छैषीति भणनात् ।
अतस्त्वादेर्ब्राह्मीभणननियमश्चेतसि कृत–
स्त्रिकालस्त्रैलोक्यस्त्रिपदमयसन्दर्भविततः ॥१९॥

श्लोकार्थः—यद्यपि वे पृथ्वीको धारण करने रूपगुणसे शोभायमान शरीरसे अहीन अर्थात् उत्तम थे, तथापि अहि+इन=अहीन अर्थात् शेषनागजी नहीं थे, और उनके मुखमें जो वाणी है वह शैषी इस नामके कहनेसे शब्द करती हैं, इसलिये उन्होंने अपने मनमें तीन काल, तीन लोक और तीन रत्नोंको रचनासे प्रसिद्ध ओंकाररूप आदिकी ब्रह्मसंवन्धी वाणीके कथन करनेका नियम किया ॥ १९ ॥

स एष गच्छाधिपतिर्विभाति सूरीश्वरः श्रीविजयाद्दयाख्यः ।
यस्य प्रभावेण च पञ्चमेऽपि चतुर्थभावं समवाप धर्मः ॥२०॥

श्लोकार्थः—वे उपरोक्त गुणोंके धारक ये गच्छके स्वामी श्रीदयाविजयजी नामक सूरीश्वरजी सर्वोत्तम रूपसे प्रकाशमान हो रहे है, जिनके प्रभावसे पंचमकालमें भी धर्म चतुर्थकालपनेको प्राप्त हुआ अर्थात् पंचमकालमे भी चतुर्थकाल जैसी धर्मोन्नति हुई ॥ २० ॥

तैरनुग्रहधिया विधिरेष दर्शितो मयि च शास्त्रसमुत्थः ।
तत्कृते च मयका रचितोऽयं ग्रन्थ आगमपदैश्च पुराणैः ॥२१॥

श्लोकार्थः—उन श्रीदयाविजयजी सूरीश्वरजीने ही कृपाबुद्धिसे मुझमें शास्त्रका ज्ञान दर्शाया है (प्रकट किया है) और इसलिये उन्हींकी प्रसन्नताके लिये प्राचीन सिद्धान्तोंके पदोंसे यह (द्रव्यानुयोगतर्कणा नामक) ग्रन्थ मैने रचा है ॥ २१ ॥

तद्गच्छपुष्करदिवाकररश्मितुल्याः
श्रीभावसागर इति प्रथिताभिधानाः ।

तदन्तिषच्छ्रीविनितादिवारां ।
निधोश्वराः शास्त्रविचारदक्षाः ॥२२॥

श्लोकार्थः—उस गच्छरूपी कमलको सूर्यकी किरणके समान श्रीभावसागरजी इस नामसे प्रसिद्ध सूरि हुए और उनके शिष्य शास्त्रविचारमें चतुर श्रीविनीतसागरजी हुए ॥ २२ ॥

तेषां विनेयलेशेन भोजेन रचितोक्तिभिः ।
परस्वात्मप्रबोधार्थं द्रव्यानुयोगतर्कणा ॥२३॥

इति श्रीद्रव्यानुयोगतर्कणाया कृतिभोजविनिर्मितायां
समाप्तिसन्दर्भोध्यायः पञ्चदशः ।

श्लोकार्थः—उन श्रीविनीतसागरजीके तुच्छ शिष्य मुझ भोजसागरने परके तथा निजके प्रबोधके लिये वचनोंसे इस द्रव्यानुयोगतर्कणाको निर्मित किया ॥२३॥

श्रीगुरोश्चरणद्वन्द्वसरसीरुहसेवया ।
ठाकुरप्रसादविदुषा ग्रन्थोऽयं समनूदितः ॥१॥

इति श्रीपण्डितठाकुरप्रसादप्रणीतभाषानुवादसमलङ्कृतायां द्रव्यानुयोगतर्कणायां
पञ्चदशोऽध्यायायः ॥ १५ ॥

। शं भूयात् ।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास द्वारा संचालित

परमश्रुतप्रभावक-मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला) के

प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

(१) गोम्मटसार—जीवकाण्ड :

श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिकृत मूल गाथायें, श्रीब्रह्मचारी प खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री-कृत नयी हिन्दीटीका युक्त। अबकी बार पंडितजीने धवल, जयधवल, महाधवल और बडी संस्कृतटीकाके आधारसे विस्तृत टीका लिखी है। चतुर्थावृत्ति। मूल्य—नौ रुपये।

(२) स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा :

स्वामिकार्त्तिकेयकृत मूल गाथाये, श्रीशुभचन्द्रकृत बडी संस्कृतटीका, स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीके प्रधानाध्यापक, प कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीकृत हिन्दीटीका। अंग्रेजी प्रस्तावनायुक्त। सम्पादक—डा आ ने उपाध्ये, कोल्हापुर। मूल्य—चौदह रुपये।

(३) परमात्मप्रकाश और योगसार :

श्रीयोगीन्दुदेवकृत मूल अपभ्रंश-दोहे, श्रीब्रह्मदेवकृत संस्कृत-टीका व प दौलतरामजी-कृत हिन्दी-टीका। विस्तृत अंग्रेजी प्रस्तावना और उसके हिन्दीसार सहित। महान अध्यात्म-ग्रन्थ। डा आ ने उपाध्येका अमूल्य सम्पादन। नवीन संस्करण। मूल्य—बारह रुपये।

(४) ज्ञानार्णव :

श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत महान योगशास्त्र। सुजानगढनिवासी प पन्नालालजी बाकलीवालकृत हिन्दी अनुवाद सहित। चतुर्थ सुन्दर आवृत्ति। मूल्य—बारह रुपये।

(५) प्रवचनसार :

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित ग्रन्थरत्नपर श्रीमदमृतचन्द्राचार्यकृत तत्त्वप्रदीपिका एवं श्रीमज्जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीकायें तथा पांडे हेमराजजी रचित बालावबोधिनी भाषाटीका। डा आ ने उपाध्येकृत अध्ययनपूर्ण अंग्रेजी अनुवाद और विशद प्रस्तावना आदि सहित आकर्षक सम्पादन। तृतीयावृत्ति। मूल्य-पन्द्रह रुपये।

(६) बृहद्द्रव्यसंग्रह :

आचार्य नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित मूल गाथा, श्रीब्रह्मदेवविनिर्मित संस्कृतवृत्ति और प जवाहरलालशास्त्रीप्रणीत हिन्दी-भाषानुवाद सहित। षड्द्रव्यसप्ततत्त्वस्वरूपवर्णनात्मक उत्तम ग्रन्थ। तृतीयावृत्ति। मूल्य—पांच रुपये पचास पैसे।

(७) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय :

श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत मूल श्लोक। प टोडरमल्लजी तथा प दौलतरामजीकी टीकाके

आधार पर स्व प नाथूरामजी प्रेमी द्वारा लिखित नवीन हिन्दी टीका सहित। श्रावक-मुनि-धर्मका चित्तस्पर्शी अद्भुत वर्णन। पचमावृत्ति। मूल्य-तीन रुपये पच्चीस पैसे।

(८) अध्यात्म राजचन्द्र :

श्रीमद् राजचन्द्रके अद्भुत जीवन तथा साहित्यका शोध एव अनुभवपूर्ण विवेचन डा भगवानदास मनसुखभाई महेताने गुर्जरभाषामे किया है। मूल्य–सात रुपये।

(९) पंचास्तिकाय :

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित अनुपम ग्रन्थराज। आ अमृतचन्द्रसूरिकृत 'समयव्याख्या' एव आचार्य जयसेनकृत 'तात्पर्यवृत्ति,'—नामक सस्कृत टीकाओसे अलकृत और पाडे हेम-राजजी-रचित बालावबोधिनी भाषा–टीकाके आधार पर प. पन्नालालजी वाकलीवालकृत प्रचलित हिन्दीअनुवाद सहित। तृतीयावृत्ति। मूल्य–सात रुपये।

(१०) अष्टप्राभृत :

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित मूल गाथाओ पर श्रीरावजीभाई देसाई द्वारा गुजराती गद्य-पद्यात्मक भाषान्तर। मोक्षमार्गकी अनुपम भेंट। मूल्य–दो रुपये मात्र।

(११) भावनाबोध—मोक्षमाला :

श्रीमद् राजचन्द्रकृत। वैराग्यभावना सहित जैनधर्मका यथार्थस्वरूप दिखाने वाले १०८ सुन्दर पाठ है। मूल्य–एक रुपया पचास पैसे।

(१२) स्याद्वाद मंजरी :

श्रीमल्लिषेणसूरिकृत मूल और श्रीजगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम ए, पी-एच डी कृत हिन्दी-अनुवाद सहित। न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है। वडी खोजसे लिखे गये १३ परिशिष्ट है। मूल्य–दस रुपये।

(१३) गोम्मटसार—कर्मकाण्ड :

श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिकृत मूल गाथाएँ, स्व प मनोहरलालजी शास्त्रीकृत सस्कृत-छाया और हिन्दीटीका। जैनसिद्धात-ग्रन्थ है। तृतीयावृत्ति। मूल्य-सात रुपये।

(१४) इष्टोपदेश :

श्रीपूज्यपाद-देवनन्दिआचार्यकृत मूल श्लोक, पडितप्रवर आशाधरकृत सस्कृतटीका, प धन्यकुमारजी जैनदर्शनाचार्य एम ए कृत हिन्दीटीका, स्व बैरिस्टर चम्पतरायजीकृत अग्रेजी-टीका तथा विभिन्न विद्वानो द्वारा रचित हिन्दी, मराठी, गुजराती एव अग्रेजी पद्यानुवादो सहित भाववाही आध्यात्मिक रचना। द्वितीय नयी आवृत्ति। मूल्य–दो रुपए पचास पैसे।

(१५) समयसार :

आचार्य श्रीकुन्दकुन्दस्वामी-विरचित महान अध्यात्मग्रन्थ, तीन टीकाओ सहित नयी आवृत्ति। मूल्य–सोलह रुपये।

(१६) लब्धिसार (क्षपणासारगर्भित) :

श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धातचक्रवर्ती–रचित करणानुयोग ग्रन्थ। प प्रवर टोडरमल्लजी कृत वडी टीका सहित पुनः छप रहा है।

(१७) द्रव्यानुयोगतर्कणा :

श्रीभोजसागरकृत, अप्राप्य है। पुन सुन्दर सम्पादन सहित छपेगा।

(१८) न्यायावतार :

महान् तार्किक श्री सिद्धसेनदिवाकरकृत मूल श्लोक, व श्रीसिद्धर्षिगणिकी सस्कृत टीकाका हिन्दी-भाषानुवाद जैनदर्शनाचार्य प विजयमूर्ति एम ए ने किया है ' न्यायका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। मूल्य–पाच रुपये।

(१९) प्रशमरतिप्रकरण :

आचार्य श्रीमदुमास्वातिविरचित मूल श्लोक, श्रीहरिभद्रसूरिकृत सस्कृतटीका और प राजकुमारजी साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित सरल अर्थ सहित। वैराग्यका वहुत सुन्दर ग्रन्थ है। मूल्य–छ रुपये।

(२०) सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (मोक्षशास्त्र) :

श्रीमत् उमास्वातिकृत मूल सूत्र और स्वोपज्ञभाष्य तथा प खूबचन्दजी सिद्धातशास्त्रीकृत विस्तृत भाषाटीका। तत्त्वोका हृदयग्राह्य गम्भीर विश्लेषण। मूल्य–छः रुपये।

(२१) सप्तभंगीतरंगिणी :

श्रीविमलदासकृत मूल और स्व पडित ठाकुरप्रसादजी शर्मा व्याकरणाचार्यकृत भाषाटीका। नव्यन्यायका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। अप्राप्य। (पुन नवीन छपेगा)

(२२) इष्टोपदेश :

मात्र अग्रेजी टीका व पद्यानुवाद। मूल्य–पचहत्तर पैसे।

(२३) परमात्मप्रकाश :

मात्र अग्रेजी प्रस्तावना व मूल गाथाये। मूल्य–दो रुपये।

(२४) योगसार :

मूल गाथाये और हिन्दीसार। मूल्य–पहचत्तर पैसे।

(२५) कार्तिकेयानुप्रेक्षा :

मात्र मूल, पाठान्तर और अग्रेजी प्रस्तावना। मूल्य–दो रुपये पचास पैसे।

(२६) प्रवचनसार :

अग्रेजी प्रस्तावना, प्राकृत मूल, अग्रेजी अनुवाद तथा पाठान्तर सहित। मूल्य–पाच रुपये।

(२७) उपदेशछाया आत्मसिद्धि :

श्रीमद् राजचद्रप्रणीत। अप्राप्य।

(२८) श्रीमद् राजचन्द्र :

श्रीमद्के पत्रो व रचनाओका अपूर्व सग्रह। तत्त्वज्ञानपूर्ण महान् ग्रन्थ है। म० गाधीजी की महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना।

अधिक मूल्यके ग्रथ मगानेवालोको कमिशन दिया जायेगा। इसके लिए वे हमसे पत्रव्यवहार करें।

श्रीमद् राजचद्र आश्रमकी ओरसे

प्रकाशित गुजराती ग्रन्थ

१ श्रीमद् राजचन्द्र २ अध्यात्म राजचन्द्र ३ श्रीसमयसार (सक्षिप्त) ४ समाधि सोपान (रत्नकरण्ड श्रावकाचारके विशिष्ट स्थलोका अनुवाद) ५ भावनाबोध-मोक्षमाला ६ परमात्मप्रकाश ७ तत्त्वज्ञान तरगिणी ८ धर्मामृत ९ स्वाध्याय सुधा १० सहजसुखसाधन ११ तत्त्वज्ञान १२ श्रीसद्गुरुप्रसाद १३ श्रीमद् राजचन्द्र जीवनकला १४ सुबोध सग्रह १५ नित्यनियमादि पाठ १६ पूजा सचय १७ आठ दृष्टिनी सज्झाय १८ आलोचनादि पद-सग्रह १९ पत्रशतक २० चैत्यवदन चोवीसी २१ नित्यक्रम २२ श्रीमद् राजचद्र जन्मशताब्दी महोत्सव-स्मरणाजलि २३ श्रीमद् लघुराज स्वामि (प्रभुश्री) उपदेशामृत २४ आत्मसिद्धि शास्त्र २५. नित्यनियमादि पाठ (हिन्दी) २३ Shrimad Rajchandra, A Great Seer २७ Mokshamala २८ सुवर्णमहोत्सव-आश्रम परिचय २९ ज्ञानमजरी ३० अनित्यपचाशत् तथा हृदय प्रदीप ३१ अध्यात्मरस-तरग ३२ आत्मानुशासन।

आश्रमके गुजराती प्रकाशनोका पृथक् सूचीपत्र मगाइये। सभी ग्रथो पर डाकखर्च अलग रहेगा।